(आनन्दवनग्रन्थमालायाः एकविंश कुसुमम्)

ईशावास्योपनिषद्

शांकराभाष्य जयमङ्गलीयवार्तिकाभ्यां सहितं

महामण्डलेश्वर स्वामीश्री-

काशिकानन्दगिरिजी महाराज

(आनन्दवनग्रन्थमालायाः एकविंश कुसुमम्)
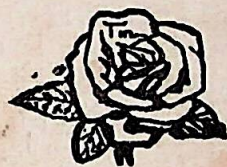
ईशावास्योपनिषद्

शांकरभाष्य जयमङ्गलीयवार्तिकाभ्यां सहितं

महामण्डलेश्वर स्वामीश्री-

काशिकानन्दगिरिजी महाराज

उपोद्घात

जीवन निर्बाध एवं सुखमय किस प्रकार हो ? स्थिर शाश्वत आनन्द की प्राप्ति कैसे हो ? संसार को सुखरूप किस प्रकार बनाया जाये ? इसका अन्वेषण आदिकालसे अनवरत चलता आया है। इसीके फलस्वरूप मनुष्यने भौतिक एवं आध्यात्मिक अनेक साधनों का आविष्कार किया। पूरा भौतिक विज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान इसी खोजके फलरूपेण प्रगट हुए। सामान्य प्राणी एवं सामान्य बुद्धि वाले मनुष्य प्रत्यक्ष पर ही विश्वस्त है। भोजन किया तो क्षुधा की निवृत्ति एवं तृप्ति होती है यह प्रत्यक्ष है। क्षुधा क्लेश रूप है। उसकी निवृत्ति अभावात्मक है। तृप्ति सुखरूप है, भावात्मक है। दोनों प्रात्यक्षिक है। इसमें साधन भोजन है। यहीं तक सामान्य बुद्धि वालों की गति है। इसी प्रकार के प्रात्यक्षिक परिणामों पर ही सामान्य-जन विचार करते हैं। और भौतिक सुख सामग्रियों को बढाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। ऐसी सामग्रियों की पूर्णता में अपनी कृतकृत्यता भी मानते हैं। फलतः गृह, धन, वाहनादि सामग्रियों का आविष्कार एवं संग्रह होने लगे। आज प्रत्येक मानव के पास ऐसी अनगिन सामग्री एकत्रित हो गयी है और होती जा रही है। किन्तु इन्हीं सामान्य जनों में से कुछ ऐसे विचारक प्रगट हो गये थे, वैचारिक दृष्टि से जिन्हें इन सामग्रियों के पूर्ण होने की असंभावना दीख पडी और कथंचित् पूर्ण होने पर भी उसमें कृतकृत्यता का अभाव अनुभूत हुआ। क्योंकि ये सामग्रियां स्थायी न होने से 'पुनर्मूषिका भव' की ध्वनि सर्वत्र गूंज रही थी।

प्रकृति का यह विलक्षण नियम है कि प्राणी कहीं भी जाये, किसी भी स्तर तक पहुँच जाये फिर भी सुख-दुख की मात्रा सर्वत्र समान हो रहेगी। उसका स्तर वही रहेगा जो सामग्री के अभाव काल में था। सरोवर में यदि पानी अत्यल्प है तो कमल के पत्ते जल से चिपके होंगे और फूल कुछ ऊपर होंगे। किन्तु सरोवर यदि भर जाये उत्प्लवन (ऑवरफ्लोयिंग) होने लग जाये तो भी कमल के पत्ते और फूल का स्तर वही रहेगा। वहां भी पत्ते चिपके हुए होंगे और फूल कुछ ऊपर।

वैसे ही संसार में भी सामग्री की अल्प मात्रा में कुछ लोग रोते पीटते रहते हैं। कुछ लोग किंचित् ऊपर उठे हुए होते हैं। और सामग्रियां पुष्कल मात्रा में हो जाये तो भी कुछ लोग रोते पीटते दिखाई देंगे और कुछ लोग कुछ ऊपर उठे हुए। सहस्रपति के घर में सैकड़ों का हेर-फेर करने की खटपट चलती रहती है। कोटिपति के घर में लाखों का हेर-फेर करने की। होती दोनों ही जगह खटपट है। प्रकृति का यह नियम है कि वह प्राकृतिक वस्तुओं में संतोष या तृप्ति होने नहीं देती। क्योंकि वह स्वतः असंतोष तथा अतृप्ति रूप है। प्रकृति हर प्रकार की परिस्थिति को प्रथम आत्मसात् करती है या करने की ओर बढती है। फिर अन्त में कुछ न्यूनता रख देती है। एक गरीब झोपड़ी में रहता है। उसकी प्रकृति उस झोंपडी की परिस्थिति को आत्मसात् करती है। वह कहता है—थोड़ी तकलीफ है। पानी दूर से लाना पडता है। बरसात में थोड़ा चूता है। एक करोडपति महल में रहता है। उसकी प्रकृति उस परिस्थिति को आत्मसात् करती है। किन्तु वहां भी कुछ न्यूनता को ला खडो कर देती है। यदि उससे बड़े अन्य करोडपति को अधिक सुविधा में देख लिया तो फिर कहना क्या ? निन्यानवे का यह चक्र कभी समाप्त नहीं होता। इसकी पूर्त्ति के लिये मनुष्य पूरा जीवन संघर्षशील रहता है। परन्तु अन्त में निराशा ही हाथ लगती है। क्योंकि उत्तरोत्तर वृद्धावस्था में तकलीफ बढती ही जाती है। इस विषय में इन श्लोकों का थोडा मनन करके देखें :—

लब्धं धनं तदपि पूर्वंवदेव कष्टं
लब्धं च हर्म्यकमथापि तथैव कष्टम्।
लब्धानि सर्वसुखभोगकदम्बकानि
न ह्यन्तरं तदपि दृष्टिपथं प्रयातम्।

(वैराग्यमन्दाकिनो)

आशा थी कि धन मिलने पर दुख दूर होगा। किन्तु आवश्यकतायें उसको साथ ही बढती गयी और धन मिलने पर भी अभाव ज्यों का त्यों बना रहा। पहले आवश्यकता कम थी तो बेचैनी भी कम थी। किन्तु धन प्राप्त होने पर आवश्यकतायें बढ़ गयीं और बेचैनी भी बढी। धन के साथ मान की भी भूख बढी जिसकी कहीं समाप्ति है ही नहीं। झोंपडी में

रहते समय थोडी वहुत असुविधायें प्रतीत हुई थी। उसकी पूर्त्ति कभी होती तो आनन्द भी होता था। किन्तु महल में रहने वालों को वहां क्या-क्या असुविधा किन-किन चीजों का अभाव इसका नियत परिमाण वताना भी कठिन होगा। सकल विध सुख सामग्रियों को जो वर्तमान में प्राप्य है, प्राप्त होने पर भी यही स्थिति रहती है। विशेषता है :—

पल्यङ्कसौधसमशीतकरादि तुल्य-
निःस्वस्य हालिककुटीरजरत्कटानाम्।
संसेव्यमानमधिकाय न तत्सुखाय
कष्टाय किन्तु परतस्तदलभ्यमानम्।

महल, पलंग, वातानुकूलित आदि धनियों की सुख सामग्री गृहहीन मजदूर को भाग्यतः प्राप्त झोंपडी, जीर्ण चटाई के तुल्य ही हैं। क्योंकि नवप्राप्त झोंपडी आदि से जो खुशी मजदूर को हुई उससे अधिक खुशी सेठ को नहीं होती। क्रमशः झोंपडी से महल तक पहुंचने वालों को दोनों का स्पष्ट अनुभव होता है। आदत वनने के बाद कोई नवीनता नहीं रह जाती है। हां इतनी विशेषता अवश्य रहती है कि उपभुक्त सुविधा बाद में नहीं मिलती है तो वह महाकष्ट का कारण होता है। जैसे एक भोगवादी प्रचारक को अनुभव हुआ। उसने अमेरिका में अपनी प्रचार-शक्ति से अरबों रुपये कमाये। किन्तु किसी अपराध में पकडे जाने के कारण दो सप्ताह पर्यन्त जेल में लोहे को खटिया पर बिताना पडा तो उसको पूरा अमेरिका घोर नरक प्रतीत हुआ। किसी गरीव मजदूर को दो सप्ताह क्या दो साल की भी सजा मिलती ओर एक लोहे की पलंग और समय पर खाना मिल जाता तो वह जेल को ही स्वर्ग मानने लगता।

तव क्या हम निराशा से वैठें? निराशावादी बनें? भौतिक सुख सामग्रियों को फेंक दें? विज्ञान को तिलांजलि दें? नहीं। मानव की यह माँग है। वह उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है और करता रहेगा। इस व्यावहारिक सत्ता का निराकरण नहीं है। एक ओर पश्चिम देश भौतिक उन्नति करता जाये और दूसरी ओर भारतीय सभी लंगोटीधारी बाबा वनें ऐसा हम नहीं कहते। पूरे व्यवहारों को अपने स्थान पर रखते हुए हम यही कहते हैं कि इतने में ही हमारे पुरुषार्थ की इति श्री नहीं है। हम इस

व्यवहाराध्याय के साथ एक और अध्याय पर विचार करना चाहते हैं। यह व्यवहारमार्ग प्रथमाध्याय है तो वह द्वितीयाध्याय परमार्थ मार्ग होगा। व्यवहारमार्ग में वस्तु सीमित है। इच्छायें असीम हैं। असंतोष असीम है। परमार्थ मार्ग में वस्तु असीम है। इच्छायें सीमित होकर समाप्त हो जाती हैं। इस असीम असंतोष ने ससीम तृप्ति की खोज के लिये विचारकों को प्रेरित किया। क्योंकि असीम यात्रा लक्ष्यहीन हो जाती है। लक्ष्य उसको कहते हैं जहां यात्रा समाप्त होती है।

भगवान् राम वचपन में एक वार तीर्थाटनार्थं निकले। जंगलों में नगरों में गाँवों में जहाँ भी प्रीसद्ध तीर्थं थे सर्वत्र वे गये। किन्तु साथ में उनको तीर्थस्नान पुण्य से अतिरिक्त कुछ नये अनुभव हुए। कहीं बालक खेल रहे हैं, कहीं रो रहे हैं। कहीं जवान दौड़ रहे हैं, लड़ रहे हैं। कहीं वृद्ध विमार होकर कराह रहे हैं। कहीं मृतक को श्मशान में जला रहे हैं। सार्वभौम राजा मेरे पिता दशरथ के राज्य में यह सब क्या हो रहा है? जिसको देवता भी आदर देते हैं। तब क्या इस जगत को मैं सुधार पाऊँगा? जगत् की बात दूर, क्या मैं अपने आप को भी इन आपदाओं से बचा पाऊँगा? मैं भी एक दिन ऐसा ही वृद्ध नहीं होऊँगा? और नहीं मरूँगा? रामजी इस प्रकार विचार में पड़े और वैराग्य के साथ निराश भी होने लगे। इसी की छाया बुद्ध की जीवनी में भी आती है। ऐसी अनुभूति प्रायः सभी महापुरुषों की हुई है और होती है। जिसको लेकर वे किसी शाश्वत शान्ति की खोज में लग जाते हैं।

प्राचीन ऋषि महर्षियों ने दो प्रकार की खोज की। एक यह कि भौतिक सुख को हम किस सीमा तक प्राप्त कर सकते हैं। उसके बाद असंतोष की निवृत्ति होकर तृप्तता हो सकती है या नहीं? दूसरा यह कि इस मार्ग से अलग भी कोई मार्ग है या नहीं? जो कि प्रथम मार्ग असफल होने पर कामयाव हो। उन्होंने घोर तपस्या की। हजारों वर्षों की तपश्चर्या के परिणाम स्वरूप, शुक्लकर्म से उत्पन्न पुण्य के फलस्वरूप उन्हें प्रातिभज्ञान प्राप्त हुआ। उस प्रातिभज्ञान के आलोक में उन्होंने वेदमन्त्रों का दर्शन किया। प्रथम उन्होंने लौकिक सुख की चरम सीमा को देखा। "युवा स्यात्साधुयुवा आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः" इस मानुष आनन्द से लेकर दश गुणोत्तर क्रम से मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितर, देवादि के आनन्द के क्रम से प्रजापति

के आनन्द को देखा। उससे भी आगे प्रकृतिलय सुख भी देखा। उसमें उन्होंने सांसारिक सुख की सीमा देखी। यही वेदों में पूर्वकाण्ड अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग है। इस प्रकृतिलय से बढ़ कर कोई संसार सुख नहीं है। सात्त्विक प्रकृति में ब्रह्मानन्द का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतएव इस सुख को योगसूत्र भाष्य में "कैवल्यसुखमिवानुभवन्तः" करके बताया। परं तु यह शाश्वत नहीं है। प्रकृति परिणामशील होने के कारण पुनः रजोवृत्ति एवं तमोवृत्ति होती है।

ऋषियों ने पुनः तपस्या की। पूर्वकल्पकृत एवं इस कल्प में कृत समग्र पुण्य एकत्रित हुए। "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" के अनुसार समग्र पुण्यकर्म उपासना एवं तप के फलस्वरूप उन्हें जो आलोक प्राप्त हुआ वही उत्तर काण्ड है। ब्रह्मज्ञान के मन्त्रों का उन्हें दर्शन हुआ। उसी से उन्होंने आत्मैकत्व दर्शन किया। यही निवृत्तिमार्ग है। इसमें उन्हें शाश्वत सुख शान्ति का अनुभव हुआ। यही मानवता का परमपुरुषार्थ है। सांख्यशास्त्रवेत्ताओं के अनुसार यदि कहना हो तो यह कह सकते हैं कि लौकिक सुखों में असंतोष स्वाभाविक है। क्योंकि वह अपूर्ण है। प्रकृति स्वयमेव मनुष्य को वहाँ संतुष्ट होने नहीं देगी। पूर्णानन्द की प्राप्ति से पहले स्वप्रकृत्यनुसार मनुष्य उत्तरोत्तर आकांक्षा को रखता रहेगा। पूर्ण आनन्द प्राप्त होने पर ही वह प्रकृति निवृत्त होगी। अर्थात् लौकिक सुखों में असंतोष अस्वाभाविक नहीं है। स्वभावतः पूर्णानन्द की ओर हमारी दृष्टि है। पर मार्ग गलत होने से हम कहीं से कहीं पहुँच जाते हैं। इसी परमार्थ मार्ग का प्रदर्शक उपनिषद्भाग है। जो व्यापक अखण्डतत्त्व का प्रतिपादन करता है।

उपरोक्त विवेचना से ये तथ्य सामने आ जाते हैं।

सांसारिक वस्तु अनैकान्तिक है कभी किसी को सुखदायी किसी को दुःखदायी है	परमार्थवस्तु आनन्दैकरस हैं
सांसारिक पदार्थ परिच्छिन्न है	परमार्थवस्तु अपरिच्छिन्न नित्य है
संसार नानात्व को लेकर है	परमार्थ एकत्व को लेकर है
संसारसुख में नित्य असंतोष है	परमार्थसुख में नित्य तृप्ति है
संसारसुखसाधक प्रवृत्ति मार्ग है	परमार्थसुखसाधक निवृत्ति मार्ग है

इन्हीं कारणों से इन दोनों को पारस्पर विरुद्ध वताया है। ये ही दो वेदार्थ हैं।

इशावास्योपनिषत् :—ईशावास्योपनिषद् में इन दोनों मार्गो का स्वरूपदर्शन कराया गया है। "ईशावास्यं" इस प्रथम मन्त्र में निवृत्ति-मार्ग का उपक्षेप किया गया है। और "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" में प्रवृत्तिमार्ग का। फिर छः मन्त्रों में उपक्रान्त निवृत्तिमार्ग-ज्ञानतत्त्वका निरूपण है। शेष मन्त्रोंमें उपक्रान्त प्रवृत्तिमार्ग-कर्मतत्व का निरूपण है। यद्यपि उन्तालीस अध्यायों में कर्ममार्ग का निरूपण किया गया था। ज्ञान मार्ग के लिये अवशिष्ट एक अध्याय में क्यों कर्मप्रतिपादन करने लगे। यह प्रश्न होगा। समाधान यही है कि प्रवृत्तिमार्ग की-संसार की, गति कहां तक है यह दिखाकर उससे वैराग्य प्राप्त कराना श्रुति को अभिप्रेत है। शतपथ ब्राह्मण में जो इसी साखा का व्याख्यानात्मक वैदिक भाग है इन दोनों मार्गों का स्पष्टीकरण किया गया है। प्रवर्ग्य नाम का प्रकरण वहां आता है। वहां तक कर्ममार्ग का व्याख्यान है। उसके वाद वृहदारण्यकोपनिषत् शुरू होती है जो निवृतिमार्ग का प्रतिपादक है।

शांकरभाष्य:—भगवत्पाद आद्यशंकराचार्य ने मुख्य दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उपरोक्त प्रवृत्तिमार्ग तथा निवृत्तिमार्ग का स्पष्ट विश्लेषण कर भाष्यकारने मन्त्रार्थ को विशद रूप से संमुख रखा है। आचार्य की जीवनी के विषय में हमने संक्षिप्तशंकरदिग्विजय में पूरा वर्णन किया है। माधवाचार्य कृत शंकरदिग्विजयादि में भी सम्यक् वर्णन किया गया है। आचार्य के समय के बारे में संक्षिप्तशंकरदिग्विजय की भूमिका में हमने पर्याप्त ऊहापोह कर लिया है। अतः अब उसपर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। अद्वैत सिद्धान्त तो आदि काल से चला आ रहा है। अतः उसके आविष्कर्ता के रूप में नहीं, परन्तु प्रतिष्ठापक के रूप में हम आचार्य को देखते हैं। बाद में विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैतादि अनेक मत-मतान्तरों का भी जन्म हुआ। उनकी व्यावृत्ति के लिये बाद में शिष्टपुरुषों ने आचार्य के अद्वैतवाद की केवलाद्वैत संज्ञा दी गयी। केवलाद्वैत में एकमात्र ब्रह्म की ही परमार्थ सत्ता है। जगत् परामार्थिक नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि वह है ही नहीं। उसकी व्यावहारिक सत्ता मानी गयी है। द्वैतवादी जो सत्यता जगत् में मानते हैं वही हमारे मत में भी है। उसे हम व्याव-

हारिक सत्ता से व्यवहृत करते हैं। कालादि अनादि अनन्त हैं। आधुनिकतम गणितवेत्ता भी यही मानते हैं कि अनन्तमें सौ पचास डालो तो वह बढ़ता नहीं, सौ पचास निकालो तो घटता नहीं। सौ पचास क्या, लाख करोड़ अरब आदि परिच्छिन्न संख्या के जितने भी है उनके डालने निकालने का कोई प्रभाव अनन्त पर नहीं पड़ता। अतएव अनादि अनन्त काल में परिच्छिन्न पदार्थों का होना न होना एक बराबर है। इसी को अनिर्वचनीय कहते हैं। इसी को मिथ्या भी कहते हैं। "स्वसमानाधिकरण स्वाभावकत्वं" यह मिथ्यात्व का लक्षण है। व्यवहार का यह बाधक नहीं है। मिट्टी में घड़ा अनिर्वचनीय है। वह मिट्टी से भिन्न नहीं है। ऊपर-नीचे की हुई मिट्टी ही अहिकुण्डल के समान घड़ा है। अभिन्न भी नहीं हैं। मिट्टी में पानी नहीं भरते घड़े में पानी भरते हैं। भिन्नाभिन्न कहना तो विप्रतिषिद्ध है। अतः अनीर्वचनीय है। फिर भी घड़े से सारा व्यवहार चलता है। यही स्थिति जगत की है। द्वैतवादी ब्रह्मको परमार्थसत्ता से उतार कर इस घटादि साधारण अनिर्वचनीयसत्ता रूपी व्यवहारसत्ता में पटकना चाहते हैं। इसका औचित्य तो उनका अभिनिवेश ही सिद्ध कर सकता है।

वार्त्तिकः—भाष्य पर रहस्यविवरण नाम की टीका प्रथम ही मुद्रित की गयी थी। ज्ञान प्रकरण का वार्तिक भी सानुवाद उस समय छपाया था। किन्तु अनुवाद कार्य अधूरा होने से उस समय संपूर्ण वार्तिक छपाया नहीं जा सका। यद्यपि उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ता जहां हो उसी को वार्तिक कहते हैं। भाष्य में दुरुक्तार्थ संभावना नहीं होती। तथापि भगवत्सुरेश्वरकृत तैत्तिरियादिभाष्यवार्तिक में भी यह समान ही है। अतः दुरुक्तार्थ का मतलब दुरुक्तार्थत्वेन प्रतीयमानार्थ कर लेना चाहिये। वैसे अर्थ की चिन्ता यहां पर भी की गयी है। जैसे—'फलवदफलवतोः सानिध्येऽफलं तदङ्गं स्यात्' इत्यादि स्थानों में है। वार्त्तिकत्व का निर्वाह करना लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य तो मन्त्रभाष्यार्थ का स्पष्टावबोधन ही है तथा जो अन्यथा-अन्यथा व्याख्या कर लोगों को भ्रम में डाल गये उनका निरास कर परमार्थ अर्थ को व्यवस्थापित करना है।

आधुनिक विद्वानों का कहना है कि व्याख्या ऐसी होनी चाहिये कि वह वर्त्तमान संदर्भके साथ जुड़ी होनी चाहिये। अन्यथा ग्रन्थ तथा व्याख्या दोनों ही एक इतिहास मात्र होकर रह जायेंगे। हम उनकी उक्त

बात से सर्वथा सहमत हैं। किन्तु आधुनिकता के नाम पर ईशावास्यं का अर्थ ईश्वरात्मक जनताजनार्दन से जगत् शासनीय है, राजपरिवार-शासनीय नहीं इत्यादि अर्थ करेंगे तो हम उससे सहमत नहीं हो सकते। यहां अर्थपरिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। कारण जिस परिस्थिति में उपनिषद का प्रादुर्भाव हुआ वह अनादि अनन्त है। वर्तमान संदर्भ में भी वही परिस्थिति और वही जिज्ञासा समान रूप से स्थित है। क्या आज सुख सामग्रियों से मनुष्य संतुष्ट हो गया है? संसार सुखमय बन चुका है? जीवन सुख स्थिर हो गया है? यदि नहीं तो हजार वर्ष पूर्व भी इसी स्थिति में उपनिषदों का उपयोग हुआ और आज भी और भविष्य में भी इसी उपयोग में विनियुक्त होगी। भौतिक स्वरूप में भले परिवर्तन आ गया, किन्तु आन्तरिक स्थिति वही है जो लाख वर्ष पूर्व थी। यदि यह बाह्यार्थ वर्णनात्मक होता, किसी युद्ध का वर्णन होता तो तीर चलाना कैसे चाहिये इस बात का निरूपण आज अनुपयोगी होता। आग्नेयास्त्र का अर्थ अणुबम करना पड़ता। लक्ष्मी की उपासना का अर्थ कल-कारखाना लगाना करते। समुद्रमन्थन का अर्थ समुद्र में गोता लगाकर सामुद्रिक संपदा प्राप्त करना करते या समुद्र में खुदायी कर तेल पेट्रोल निकालना करते। उपनिषदों में आत्मज्ञान का निरूपण है। ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कार से अनादिकालप्रवृत्त दुःखपरम्पराकी आत्यन्तिक निवृत्ति का वर्णन है। उसमें अर्थ बदलने की जरूरत नहीं है। अतएव वेदों का अनियत वस्त्वनुसारी अर्थ नहीं है। अनादि अनन्त तत्व का ही निरूपण है। मानवता के चरम लक्ष्यका प्रतिपादन है। अतएव यह 'पुरापि नव एव' पुराकालीन होने पर आज भी नया एवं हमेशा नित्य-नूतन ही है। चरम लक्ष्य के बीतने के बाद यह पुराना पड़ सकता है। किन्तु चरम लक्ष्य प्राप्त होने पर फिर पुराना नया प्रश्न ही नहीं रह जाता। शांकरभाष्य में उसी परमार्थतत्त्व को उपनिषद्वेद्य एवं उपनिषद्-लक्ष्य बताया। उसी का स्फुट वर्णन वार्त्तिक में है। आशा है जिज्ञासु-जनों को इससे विशिष्ट लाभ अवश्य होगा।

❀
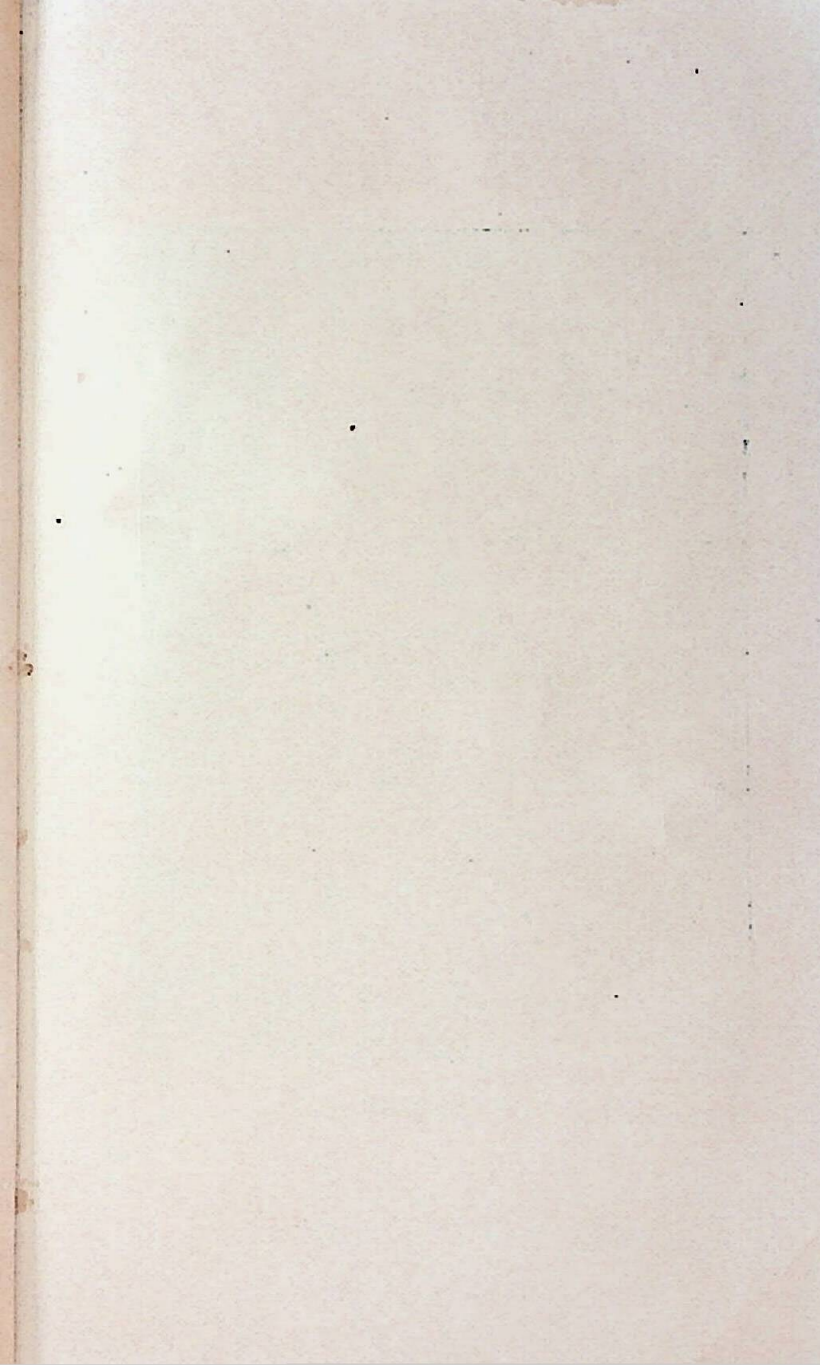
शांकर भगवत्पादाः

ॐ

काण्वसंहितान्तर्गता

ईशावास्योपनिषत्

सानुवादवार्त्तिकसहित–सानुवादशांकरभाष्योपेता

—:०:—

शांकरभाष्यम्

ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात् ।

'ईशावास्यं' इत्यादि अठारह मन्त्र कर्मोंमें विनियुक्त नहीं है, कारण वे उस आत्माके यथार्थ स्वरूपके प्रकाशक हैं जो (आत्मा) किसी कर्मका शेष अर्थात् अङ्ग नहीं है ।

जयमङ्गलाचार्यकृतं भाष्यवार्तिकम्

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंचारि परमं महः ।
आनन्दैकरसं वन्दे श्रीकृष्णाह्वयमव्ययम् ॥१॥

समस्तवेदान्तसिद्धान्तोंका परमतात्पर्यविषय अव्यय आनन्दैकरस श्रीकृष्ण नामक परम ज्योतिकी हम वन्दना करते हैं ॥१॥

संस्मरन् भगवत्पादपादपङ्केरुहश्रियम् ।
ईशावास्येऽमलां वृत्तिं विधास्ये तत्पदानुगाम् ॥२॥

भगवत्पाद आद्यशंकराचार्यचरणकमलश्रीका स्मरण करता हुआ मैं ईशावास्योपनिषत्की भगवत्पादभाष्यानुगामिनी निर्मल वृत्तिकी रचना करूँगा ॥२॥

ईशावास्यादयो मन्त्रा विनियुक्ता न कर्मसु ।
श्रुतिलिङ्गादयो नैव दृश्यन्ते विनियोजकाः ॥३॥

ईशावास्यादि मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग नहीं। अर्थात् जैसे कर्मकाण्डीय मन्त्रोंको बोलकर आहुतियाँ दी जाती हैं वैसे ईशावास्यादि मन्त्रोंको बोलकर कोई आहुति आदि नहीं दी जाती। कारण, श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्यारूपी जिन छः प्रमाणोंको विनियोजकके रूपमें मीमांसकोंने माना है उनमेंसे कोई भी प्रमाण यहाँ पर नहीं है (स्पष्टीकरण आगे होगा) ॥३॥

वर्णयन्त्यात्मयाथात्म्यमेतेऽनन्तशमप्रदम् ।
व्याख्येयत्वं ततस्तेषां मुमुक्षून् प्रति युज्यते ॥४॥

ये (ईशावास्यादि) मन्त्र अनन्त अविनाशी शान्तिको देनेवाले आत्म-याथात्म्य (आत्माके वास्तविक स्वरूप) का वर्णन करते हैं। अतएव (अनन्त शान्तिप्रद होने ही से) मुमुक्षुओंके प्रति इन मन्त्रोंकी व्याख्येयता युक्त है ॥४॥

संसारतापसंतप्ता विधूताशेषकल्मषाः ।
मुमुक्षवो विरक्ता हि शममिच्छन्ति शाश्वतम् ॥५॥

मुमुक्षुओंके लिए व्याख्येय इसलिए हैं कि संसारतापसंतप्त, कल्मषरहित, विरक्त मुमुक्षु शान्ति चाहते हैं ॥५॥

तद्यथेहेत्यनित्यत्वं कर्मजन्यसुखस्य हि ।
श्रुत्युक्तं तेन तद्धेतौ नास्थावन्तो मुमुक्षवः ॥६॥

यदि ये मन्त्र कर्मशेष होते तो मुमुक्षुओंके प्रति व्याख्येय नहीं होते। कारण "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इस श्रुतिमें कर्मजन्य सुखको अनित्य बताया है। अतएव ऐसे अनित्यसुखके कारण कर्म तथा कर्मशेषमें मुमुक्षु आस्था नहीं रखते ॥६॥

ननु व्याख्येयता युक्ता नियुक्तस्यापि कर्मसु ।
व्याख्येयं शतरुद्रीयं तथा पुंसूक्तमेव च ॥७॥

जुहोति शतरुद्रीयमित्येवं विनियोजितम् ।
कर्मण्येतत्तथाप्यात्मज्ञानं च जनयत्यदः ॥८॥

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवतारणम् ।
इत्याह शतरुद्रीयं कैवल्योपनिषन्मनुः ॥९॥

एतानि नामधेयानि ह्यमृतस्येति चाब्रवीत् ।
याज्ञवल्क्यवचः स्पष्टं जाबालोपनिषत्स्थितम् ॥१०॥

सर्वोपनिषदां सारो रुद्राध्यायः समर्थितः ।
रुद्रोपनिषदं मुक्त्वा गतिरन्या न विद्यते ॥११॥

इति शैवेपि रुद्रस्योपनिषत्त्वमुदीरितम् ।
एवं पौरुषसूक्तानां मन्त्राणामपि च स्थितिः ॥१२॥

पूर्वपक्ष—ईशावास्य मन्त्रोंका कर्ममें अविनियोग सिद्ध करनेकी आवश्यकता क्या ? क्योंकि कर्ममें विनियुक्त शतरुद्रिय (रुद्रपञ्चमाध्याय) तथा पुरुषसूक्तादि व्याख्येय देखनेमें आते हैं ॥८॥ "शतरुद्रियं जुहोति" इत्यादि वचनोंसे रुद्रमन्त्रोंका कर्ममें विनियोग सिद्ध होता है । कर्मविनियुक्त होने पर भी उससे ज्ञान भी होता है ॥९॥ कैवल्योपनिषद्में "अनेन ज्ञानमाप्नोति" इत्यादि बताया है ॥१०॥ जाबालोपनिषद्में भी "ये अमृतके बोधक नाम हैं" ऐसा कहा गया है । शिवपुराणमें "रुद्राध्याय सर्वोपनिषदर्थगर्भित है, रुद्रोपनिषद्के विना अन्य गति नहीं है" ऐसा बताया है और यही स्थिति पुरुषसूक्तके मन्त्रोंकी भी है ॥११-१२॥

अत्रोच्यत इमे कर्मविनियुक्ता मता यदि ।
तदा तु कर्मसमवाय्यर्थस्मारकतामियुः ॥१३॥

न कर्मसमवेतार्थस्मारणं संभवेद्यदि ।
जपमात्रार्थता सिद्धयेत्कर्मशेषत्वहेतुतः ॥१४॥

अतो ह्यग्न्यर्थता प्रोक्ता रुद्रशब्दस्य कर्मिभिः ।
रुद्रो यदग्निरित्येवं श्रुतिरप्याह तत्परम् ॥१५॥

समाधान—यदि ईशावास्यादि मन्त्र कर्ममें विनियुक्त होते तो कर्मसमवेत (कर्मान्तर्गत) अर्थका ही स्मरण कराते ॥१३॥ और यदि कर्मसमवेत किसी भी अर्थका स्मरण करना सम्भव न हो तो कर्मशेष होने ही के नाते केवल जपार्थ होते ॥१४॥ यही कारण है कि रुद्राध्यायमें भी रुद्र शब्दका अर्थ कर्मकाण्डी लोग अग्नि ही करते हैं, न कि ब्रह्म, श्रुतिने भी "रुद्रो वा एष यदग्निः" इस प्रकार अग्निपरक ही बताया ॥१५॥

नन्वेवं शतरुद्रीयमन्त्रा आत्मार्थबोधकाः ।
इत्येषा शास्त्रसिद्धान्तस्थितिः खलु कथं भवेत् ॥१६॥

पूर्वपक्ष—यदि कर्मविनियुक्त मन्त्र कर्मसमवेत अर्थके स्मारक ही हो तो शतरुद्रियमन्त्रोंका आत्मप्रतिपादनमें ही तात्पर्य है यह शास्त्रसिद्धान्त कैसे संगत होगा ? ॥१६॥

अत्राहुरात्मयाथात्म्यमन्यार्थासंभवित्वतः ।
बोध्यते प्रथमं कर्माऽविनियुक्तैर्वचःशतैः ॥१७॥

सिद्धे सत्यात्मयाथात्म्ये प्राबल्याच्छतरुद्रियम् ।
स्याद्देवताधिकरणन्यायादात्मार्थतत्परम् ॥१८॥

समाधान—कर्ममें अविनियुक्त मन्त्रोंका कर्मसे सम्बन्धित कोई भी अर्थ सम्भव न होनेसे आत्मयाथात्म्य अर्थ ही अगत्या मानना होगा ॥१७॥ इस प्रकार आत्मयाथात्म्य प्रथम सिद्ध हो जाने पर देवताधिकरणन्यायसे शतरुद्रिय मन्त्रोंका भी आत्मामें तात्पर्य निश्चित होगा ॥१८॥

नन्वद्वैतात्मतात्पर्यनिर्णयो लिङ्गषट्कतः ।
तच्चेत्स्याच्छतरुद्रीये किं स्यात्कर्मनियोगतः ॥१९॥

पूर्वपक्ष—अद्वैतात्मतात्पर्य तो षड्लिङ्गसे निर्णीत होता है। वह षड्लिङ्ग यदि रुद्राध्यायमें है तो कर्मविनियोगसे क्या मतलब ? ॥१९॥

मैवं कर्मणि तात्पर्ये श्रुत्या समवधारिते ।
प्रत्यक्षेण विरुद्धत्वात् षड्लिङ्गं न प्रवर्तते ॥२०॥

उत्तर—श्रुतिसे जब यह निर्णय हुआ कि शतरुद्रियका कर्मार्थतात्पर्य है तब प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेसे षड्लिङ्गकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अर्थात् आत्माकी अनेकता एवं कर्तृत्वभोक्तृत्वादि प्रत्यक्षसिद्ध है, अद्वैतात्माके प्रतिपादनमें उक्त प्रत्यक्षसे विरोध होगा ॥२०॥

आदित्यो यूप इत्यादिः प्रत्यक्षेण विरोधतः ।
स्वार्थात्प्रच्याव्यते यद्वत्तद्वदत्रापि संभवेत् ॥२१॥

जैसे यूप (यज्ञ स्तम्भ) आदित्य है यह वाक्य प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेसे अपने यथाश्रुतार्थसे प्रच्यावित किया जाता है ॥२१॥

ईशावास्यादिषु पुनः कर्माऽतात्पर्यनिश्चयात् ।
प्रत्यक्षमवधूयैव षड्लिङ्गं संप्रवर्तते ॥२२॥

ईशावास्यादि मन्त्रोंकी स्थिति अन्यथा है। उनका कर्ममें तात्पर्य न होनेसे प्रत्यक्षको बाधकर वहाँ षड्लिङ्गकी प्रवृत्ति हो जाती है ॥२२॥

अन्यथा मन्त्रवैयर्थ्यमनर्थकरमापतेत् ।
तन्न युज्येताध्ययनविधिसिद्धार्थवत्त्वतः ॥२३॥

अन्यथा प्रत्यक्ष विरोध होनेसे अद्वैततात्पर्य भी नहीं और कर्मविनियुक्त न होनेसे कर्मार्थिता भी नहीं तो ईशावास्यादि मन्त्रोंका वैयर्थ्य ही हो जायेगा और ऐसा मानना महान् अनर्थकारी होगा और स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययनविधिसे सिद्ध सार्थकताका बाध भी होगा ॥२३॥

इत्थं प्रबलया श्रुत्या प्रत्यक्षे संप्रबाधिते ।
रुद्राध्यायेपि न प्रत्यक्षविरोधो हि प्रवर्तते ॥२४॥

ईशावास्यादि श्रुतियोंसे ज[illegible]कि प्रत्यक्षसे प्रबल हैं प्रत्यक्षके बाधित होनेपर रुद्राध्यायमें भी प्रत्यक्ष विरोधकी गूँज नहीं हो सकती ॥२४॥

आत्मानैक्याद्यपच्छेदन्यायान्निरवकाशया ।
श्रुत्या प्रबाधितं रुद्रे समुत्तिष्ठेत् कथं पुनः ॥२५॥

अपच्छेदन्यायसे उत्तरभव अथ च निरवकाश श्रुति प्रत्यक्ष सिद्ध आत्मनानात्व कर्तृत्वभोक्तृत्वादिका बाध कर डालती है। इस प्रकार बाधित-मृत प्रत्यक्षात्मनानात्वादि विरोध करनेके लिए रुद्राध्यायमें जाकर कैसे सिर उठायेगा ॥२५॥

नन्वेवं शतरुद्रीयमनुवादः प्रसज्यते ।
ईशावास्यादिसिद्धार्थप्रतिपादनहेतुतः ॥२६॥

पूर्वपक्ष—यदि ईशावास्यादि मन्त्रोंसे अद्वैतात्मतत्त्वका प्रतिपादन होनेके बाद ही शतरुद्रियसे उक्त तत्त्वका बोध हो तो शतरुद्रीय अनुवाद हो जायेगा (अनुवादका स्वतः प्रामाण्य नहीं माना जाता) ॥२६॥

मैवं शब्दार्थबोधो हि शब्दादेव प्रजायते ।
न स्वार्थबोधने ह्यन्यमीक्षते शतरुद्रियम् ॥२७॥

परं तु क्वचनाध्यक्षविरोधादावुपस्थिते ।
अन्यार्थसंशयहरमीशावास्यादि मन्महे ॥२८॥

समाधान—अनुवादकी आपत्ति इसलिये नहीं है क्योंकि शब्द अपना अर्थ बतानेमें स्वतन्त्र है। अपना अर्थ सर्वात्मभाव कहने के लिए शतरुद्रिय अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रखता ॥२७॥ हाँ इतनी बात अवश्य है कि कहीं-कहीं प्रत्यक्ष विरोध सामने आता है तब शतरुद्रियका शायद कोई

अन्य अर्थं तो नहीं है ऐसा संशय होना सम्भव है। उस संशयको केवल ईशावास्यादि मन्त्र मिटाते हैं ॥२८॥

ईशावास्यादिमन्त्रेषु नैवास्त्यन्यार्थसंशयः ।
कर्मस्वविनियुक्तत्वात् षड्लिङ्गेनार्थनिर्णयात् ॥२९॥

ईशावास्यादिमें अन्यार्थं संशय नहीं होता। कारण, कर्मविनियुक्त न होनेसे षड्लिङ्गसे तुरत अर्थ निर्णय हो जाता है।

कथं स्याच्छतरुद्रीयं कर्मयुक् तर्हि चेच्छृणु ।
एन्द्रयोपतिष्ठते गार्हपत्यं यद्वत्तथा भवेत् ॥३०॥

पूर्वपक्षः—यदि शतरुद्रियका ब्रह्ममें तात्पर्य है तो कर्ममें विनियोग किस प्रकार हो ?

उत्तरः—जैसे इन्द्रार्थक ऐन्द्री ऋचाका गार्हपत्योपस्थान श्रुतिवलात् होता है वैसे यहाँ भी होगा ॥३०॥

न चेन्द्रो गार्हपत्यार्थः श्रुतौ लक्षणया भवेत् ।
कर्मकाले भवेत्तद्वदग्न्यर्थोऽत्रापि का क्षतिः ॥३१॥

ऐन्द्री ऋचामें लक्षणया इन्द्रपद गार्हपत्यार्थक होगा ऐसा कहें। ठीक है। कर्मकालमें आप भले कर लें। वैसे यहाँ भी कर्मकालमें शतरुद्रियका अग्नि अर्थ कर लीजिये ॥३१॥

तस्मात्कर्माऽनियुक्तैर्हि निर्णयाऽऽत्मयथात्मता ।
कर्मस्वविनियुक्तत्वमतः साग्रहमुच्यते ॥३२॥

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मयाथात्म्यका निर्णय तो कर्ममें अविनियुक्त मन्त्रसे ही सम्यक् संपादित हो सकता है। अतएव यहां ईशावास्यादि मन्त्रोंका कर्ममें अविनियुक्तत्व आग्रहके साथ सिद्ध किया जाता है ॥३२॥

शाखां छिन्द्यादिषे त्वेति विनियुङ्क्ते यथा श्रुतिः ।
ईशावास्यादिभिः कुर्यात्किमित्यूचे न काचन ॥३३॥

श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये विनियोजक छः प्रमाण हैं। उनमें श्रुतिका उदाहरणः—'इषे त्वेति शाखां छिनत्ति' अर्थात् इषे त्वा यह मन्त्र बोलकर शाखाको काटे (दर्शपुर्णमास प्रारंभ होनेके पहले दिन गायको दुहकर दूध जमाया जाता है। दूहनेके लिए वछड़ेको गायसे अलग करना आवश्यक है। इसीको वत्सापाकरण कहते हैं। तदर्थं पलाशकी

शाखाका उपयोग करना चाहिये। उस पलाशशाखाको काटते समय उक्त मन्त्र बोलना चाहिये ऐसा कर्मकाण्डमें कहा गया है।) इसी प्रकार ईशावास्यादि मन्त्र बोलकर क्या करना चाहिये ? इस बातको बतलानेवाली कोई श्रुति नहीं है ॥३३॥

यद् बर्हिर्देवसदनं दामीत्येतच्च लिङ्गतः।
बर्हिषो लवनेऽङ्गं स्यात्तदर्थस्य प्रकाशनात् ॥३४॥
ईशावास्यादयश्चेमे मन्त्राः कर्म न किञ्चन।
प्रकाशयन्ति किन्त्वात्मयाथात्म्यं तद्विरोधि यत् ॥३५॥

लिङ्गप्रमाणका उदाहरणः—"बर्हिर्देवसदनं दामि" यह मन्त्र लिङ्गप्रमाणसे कुशछेदनका अंग है। यद्यपि इस मन्त्रको बोलकर कुश काटो ऐसा वचन नहीं मिलता। तथापि इस मन्त्रका ही अर्थ सूचित करता है कि इसे बोलकर कुश काटना चाहिये। मन्त्रार्थ है—मैं देवताको बैठनेके लिये आसनस्वरूप कुशको काटता हूँ ॥३४॥ इस मन्त्रमें कुशच्छेदन कर्मका प्रकाशन हुआ है। वैसे ईशावास्यादि मन्त्रोंमें किसी भी कर्मका प्रकाशन नहीं है। बल्कि कर्मविरोधी आत्मयाथात्म्यका प्रकाशन है ॥३५॥

न वा कर्मप्रकरणं कर्मकाण्डसमापनात्।
समभिव्याहृतिर्दूरात् प्रमाणं वाक्यसंज्ञितम् ॥३६॥

कर्मकाण्ड समाप्त हो चुका है अतः कर्मका प्रकरण न होनेसे प्रकरणप्रमाण भी नहीं है। और वाक्यप्रमाण तो दूरनिरस्त है। साथ-साथमें पढ़े हो तब वाक्यप्रमाण होता है ॥३६॥

समाख्या यौगिकः शब्दः कर्मशेषत्वबोधकः।
वैदिकी लौकिकी वापि संज्ञा साप्यत्र नास्ति हि ॥३७॥

विशारयेदविद्यां या गमयेद् ब्रह्म शाश्वतम्।
कर्मावसादयेच्चापि सैवोपनिषदुच्यते ॥३८॥

यौगिकशब्द जो योगसे कर्मबोधन करावे उसीको समाख्या प्रमाण कहते हैं। जैसे 'होतृचमसः' यह संज्ञा 'होता'का चमसभक्षण सिद्ध करती है। संज्ञा क्वचित् वैदिक और क्वचित् लौकिक होती है॥३७॥ ईशावास्यादि मन्त्रोंकी संज्ञा है 'उपनिषत्'। इस संज्ञासे योगार्थको लेकर कोई कर्म प्रतीत नहीं होता। इसका यौगिक अर्थ यही है कि जो आत्माके समीपमें (उप) पहुँचे उसकी अविद्याको नष्ट करती है-(विशरण) ब्रह्मको प्राप्त कराती है-

याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वाऽपापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्व-सर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम् ।

तच्च कर्मणा विरुद्ध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः ।

आत्माका पारमार्थिक रूप-शुद्धत्व, अपापविद्धत्व (पाप-असंस्पर्शित्व) एकत्व, नित्यत्व, अशरीत्व, सर्वगत्व आदि है जिनका वर्णन आगे होगा । और वह कर्मके लिये प्रतिकूल हैं ।

अतः इन मन्त्रोंकी कर्मोंमें अविनियुक्तता सर्वथा युक्तियुक्त है ।

(गति) कर्मको क्षीण करती है—(अवसादन) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु ऐसा धातुपाठ है ॥३८॥

नन्वात्मा कर्मघटकः प्रकाश्योऽत्रेति लिङ्गतः ।
अशेषकर्मशेषत्वं मन्त्राणामिति चेन्न तत् ॥३९॥

पूर्वपक्षः—आत्माके विना जडशरीरादिसे कोई भी कर्म संभव नहीं है । अतः सर्वकर्मघटक आत्माके प्रकाशक होनेसे ईशावास्यादि मन्त्र सर्वकर्मशेष क्यों न माना जाए ? ॥३९॥

शुद्धत्वापापविद्धत्वाकायत्वाद्ययतादिकम् ।
वक्ष्यमाणात्मयाथात्म्यं विरुद्धं कर्मभिर्यतः ॥४०॥
शुद्धस्यापापविद्धस्य कृत्यदृष्टाद्यभावतः ।
कथं कर्तृत्वभोक्तृत्वे शक्यसंभावने खलु ॥४१॥
आत्मनोऽस्याशरीरस्य द्विजधर्माद्यभावतः ।
कथं कर्मण्यधिकृतिरेषा दिगितरत्र च ॥४२॥

समाधानः—केवल आत्मा ही यहां प्रतिपाद्य नहीं किन्तु आत्मयाथात्म्य प्रतिपाद्य है । शुद्धत्व, पुण्यपापरहितत्व, एकत्व, अद्वितीयत्वादि आत्माका वास्तविक स्वरूप है । और वह कर्मके अनुकूल नहीं वल्कि प्रतिकूल है ॥४०॥ कृति एवं पुण्यपापके अध्यासके विना कर्ता भोक्ता नहीं वन सकता, तव शुद्ध अपापविद्ध आत्मामें इनकी संभावना भी कैसे की जा सकती है ॥४१॥ अशरीर हो तो कर्म हेतु द्विजत्वादि धर्म कैसे हो ? ॥४२॥

ननु शुद्धाऽपरिज्ञाने विशिष्टं बुध्यतां कथम् ।
विशिष्टज्ञानहेतुत्वाच्छुद्धमाबोध्यतामिह ॥४३॥

पूर्वपक्षः—विशिष्टज्ञानके प्रति शुद्धज्ञान कारण होता है। जैसे 'दण्डी पुरुषः' इस दण्डविशिष्टपुरुषज्ञानके प्रति प्रथम दण्ड एवं पुरुष इन दोनोंका ज्ञान चाहिये। इसी प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्वद्विजत्वादिविशिष्टोऽहं इस ज्ञानके प्रति भी प्रथम अविशिष्ट कर्तृत्वादि एवं अहंका ज्ञान होना चाहिये। फलतः विशिष्टज्ञानके प्रति कारणीभूत शुद्धका ज्ञान उपनिषदोंमें कराया जा रहा है ऐसा माना जा सकता है। तब कर्मके साथ विरोध कैसे ? ॥४३॥

नैवं विशेषणज्ञानं विशिष्टज्ञानकारणम् ।
न तु शुद्धपरिज्ञानमिति न्यायविदां मतम् ॥४४॥

समाधानः—विशिष्टज्ञानके प्रति विशेषणज्ञान कारण है यही न्याय-वेत्ता मानते हैं, न कि शुद्धज्ञान। 'दण्डी पुरुषः' यहाँ पुरुषः इतना अंश भी पुरुषत्वविशिष्ट है अतः पुरुषत्वज्ञान कारण माना गया है। पुरुषज्ञान तो किसीके भी मतमें कारण नहीं है ॥४४॥

ननु संसर्गसाक्षात्त्वं विशिष्टाध्यक्षमध्यगम् ।
तत्र हेतुश्च संसर्गिद्वयसाक्षात्कृतिर्मता ॥४५॥

पूर्वपक्षः—विशिष्टप्रत्यक्षमें संसर्गप्रत्यक्ष अन्तर्गत है। उनके प्रति दोनों संसर्गी-विशेषण और विशेष्यका प्रत्यक्ष कारण है। "संसर्गसाक्षात्कारं प्रति संसर्गिसाक्षात्कारस्य कारणत्वात्" ऐसे गदाधर भट्टाचार्यादि नैयायिकोंने लिखा है। अतः विशेष्य आत्माके ज्ञानार्थ उपनिषद हो सकती है ॥४५॥

नैवमेतन्मते शब्दात्परोक्षज्ञानमिष्यते ।
अहमो नित्यसाक्षात्त्वाद् व्यर्थः शब्दः प्रसज्यते ॥४६॥

समाधानः—उक्त मतमें शब्दसे परोक्ष ज्ञान ही होता है। संसर्गसाक्षात्कारके लिए तो संसर्गीका साक्षात्कार चाहिये, शब्दजनितपरोक्षज्ञान नहीं। दूसरी बात-आत्मा नित्य अपरोक्ष है, अत एव उतने ही से विशिष्ट ज्ञान हो जाएगा ! शब्दसे बोध करानेकी क्या आवश्यकता ? ॥४६॥

किं च दण्डी पुमानत्र पुंज्ञानं हेतुरिष्यताम् ।
निर्दण्डपुरुषज्ञानं न हेतुः कस्यचिन्मते ॥४७॥
अकर्त्रात्मपरिज्ञानं तथा कर्त्रात्मबोधकम् ।
न शक्यमुररीकर्तुं किन्तु तद्बोधबाधकम् ॥४८॥

दूसरी बातः—'दण्डी पुमाद्' यहाँ शुद्ध पुरुषका ज्ञान कारण मान भी लीजिये फिर भी 'निर्दण्डी पुरुष' ऐसा ज्ञान किसीके भी मतमें कारण

न ह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मषता स्यात् ।

आत्माका ऐसा परमार्थरूप कर्मसम्बन्धी इसलिये नहीं होता कि वह उत्पादनयोग्य, प्राप्तियोग्य या संस्कारयोग्य नहीं, तथा कर्तृरूप या भोक्तृरूप भी नहीं है जिससे कि वह कर्मशेष हो ।

नहीं है। उसी प्रकार 'अकर्ता आत्मा' ऐसा ज्ञान'आत्मा कर्ता' इस ज्ञानका साधक नहीं, स्पष्ट बाधक है। और यहाँ उपनिषद्में अकर्ता अभोक्ता आदि रूपसे ही आत्माका बोधन किया है। अतः वह विशिष्ट ज्ञानका विरोधी होकर कर्मका भी विरोधी ही है ॥ ४७-५९ ॥

नन्वेषां मा भवेत् साक्षान्मन्त्राणां कर्मशेषता ।
स्यात्कर्मसमवेतार्थस्मारकत्ववशात्तु सा ॥५०॥

न चात्मा कर्मसम्बद्धो न शुद्ध इति सांप्रतम् ।
यतः कथं न चेदात्मा कर्म संपत्तुमर्हति ॥५१॥

को ह्येवान्याच्च कः प्राण्याद्यद्याकाशो न चेदयम् ।
इत्येवं श्रुतिरप्याह सर्वकर्मनिदानताम् ॥५२॥

पूर्वपक्षः—इन मन्त्रोंकी कर्मशेषता साक्षात् भले न हो अर्थात् यह मन्त्र बोलकर अमुक कर्म करो ऐसी कर्मशेषता न हो तो भी परम्परया कर्मशेषता संभव है। कर्मसमवेत अर्थोंको बतलानेपर भी कर्मशेषता आ जाती है ॥ ५० ॥ यह शंका करें कि ईशावास्यादि मन्त्रोंका प्रतिपाद्य शुद्ध आत्मा है और वह कर्मघटक नहीं है। अतएव कर्मसमवेतार्थस्मारकत्वे-नापि कर्मशेषता संभव नहीं है तो उसका उत्तर यह है कि शुद्ध आत्मा न हो तो कर्म होगा ही कैसे "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्" इत्यादि श्रुतिमें स्पष्ट बताया है कि उस आत्माके विना कोई भी कर्म नहीं हो सकता ॥ ५१-५२ ॥

नैवं कारणसामान्ये नेष्यते कर्मशेषता ।
न व्योमकालकृत्यादिः कर्मशेषो निगद्यते ॥५३॥

यद्धि क्रत्वर्थविषया शास्त्रेषु विनिरूपितम् ।
तस्यैव कर्मशेषत्वं पयोदध्यादि तादृशम् ॥५४॥

उत्पाद्यं वा विकार्यं वा संस्कार्यं वाप्यमेव वा।
तत्स्यात्तद्बोधकं शास्त्रमव्याख्येयं मुमुक्षवे ॥५५॥

समधानः—यागकारणसामान्यको कर्मशेष नहीं कहते । आकश, काल, ईश्वरेच्छा, कृति इत्यादि यागकारण होनेपर भी कर्मशेष नहीं माने जाते। "अथातः शेषलक्षणं" इत्यादि शास्त्रद्वारा क्रत्वर्थके रूपमें निरूपित व्रीहि दधि आदि ही कर्मशेष होते हैं। वे उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य इनमेंसे कोई न कोई अवश्य होंगे । उन कर्मशेष अर्थोंका बोधन करानेवाला शास्त्र ही मुमुक्षुओंके प्रति अव्याख्येय है। कारण उस साधनसे उत्पादित यागसे जन्य स्वर्गादि मुमुक्षुओंके लिये अभीप्सित नहीं है ॥५३-५५॥

नात्मोत्पाद्यः पुरोडाशयागस्वर्गादिवन्नृभिः ।
न वा विकार्यो भवति सोमयूपामिषादिवत् ॥५६॥

न संस्कार्यः स्वयं शुद्धो व्रीहिपात्रकुशादिवत् ।
नाप्यो मन्त्रादिवच्चैव स्वात्मत्वादेव सर्वदा ॥५७॥

आत्मा पुरोडाश, याग और स्वर्गादिके समान उत्पाद्य नहीं है (याग और स्वर्गको भी शेष माना है) और सोमरस यूप खंभा आदिके समान विकार्य भी नहीं है (क्योंकि उत्पत्तिवाला और विकारवाला नाशवान होता है आत्मा नाशवान नहीं है) आत्मा स्वयं शुद्ध होनेसे व्रीहिपात्रादिके समान संस्कार्य नहीं है और आत्मा होने ही से सर्वदा स्वयंप्राप्त प्राप्य भी नहीं हो सकता ॥५७॥

ननु संस्कार्य आत्मा स्यान्मन्त्रैस्तत्स्मरणादिति ।
स्मृत्वा मन्त्रैर्यथा यागे संस्कार्यन्ते हि देवताः ॥५८॥

पूर्वपक्ष—आत्मा संस्कार्य हो सकता है। ईशावास्यादि मन्त्र बोलकर आत्माका स्मरण करनेसे आत्माका संस्कार सम्पन्न हो सकता है। जैसे मन्त्रोंसे देवताका स्मरण करनेसे देवताओंका संस्कार मीमांसकसम्मत है ॥५८॥

मैवं द्रव्यं देवतेति यागरूपं द्वयं मतम् ।
यागान्तर्भाविनी द्रव्यत्यागोद्देश्या हि देवता ॥५९॥
यागप्रवेशिनोऽर्थस्य संस्कार्यस्यास्तु शेषता ।
न चौपनिषदस्यास्ति पुंसो यागप्रवेशिता ॥६०॥

समाधान—द्रव्य और देवता ये यागके दो रूप हैं। अतः देवता यागान्तर्गत जो संस्कार्य है उसे शेष माना जा सकता है। किन्तु औपनिषद आत्मा यागमें प्रविष्ट भी तो नहीं है ॥५९–६०॥

ननु यागाऽप्रविष्टार्थः शस्त्राद्यैः स्मर्यते क्वचित्।
स्मर्यतां तावता तस्य शेषत्वं नैव सिद्ध्यति ॥६१॥
किं च तत्र प्रकरणाच्छेषत्वमनुमन्यताम्।
नात्र प्रकरणं किंचित्कर्मकाण्डसमापनात् ॥६२॥

स्तुति आदिमें यद्यपि क्वचित् यागाऽप्रविष्ट अर्थका भी स्मरण होता है तथापि उसमें शेषता सिद्ध नहीं होती और प्रकरणवशात् शेषत्व मान भी लिया जाये फिर भी औपनिषद पुरुषमें प्रकरण भी नहीं है ॥६१–६२॥

अपि च स्मृतिसंस्कार्यं नात्मानं मन्महे वयम्।
यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसेत्यतः ॥६३॥
अखण्डाकारवृत्तिश्च नात्मानं स्प्रष्टुमर्हति।
अज्ञानध्वान्तविध्वंसमात्रैकफलवस्त्वतः ॥६४॥

अन्य भी कारण है। वह यह कि आत्माको सिद्धान्तमें स्मृतिसंस्कार्य माना ही नहीं गया है। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इस श्रुतिमें आत्माको मनका अविषय बताया है ॥६३॥ तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति भी आत्माका स्पर्श नहीं कर सकती है। उसका फल केवल इतना ही है—वह अज्ञानान्धकार नष्ट कर देती है। (जो स्पर्श नहीं कर सकती उससे संस्कार किस प्रकार हो ?) ॥६४॥

कर्मार्थत्वाच्च पुरुषः शेष इत्याह जैमिनिः।
कर्मार्थत्वं च कर्तृत्वाद् विशिष्टस्यैव संमतम् ॥६५॥
कर्तृत्वादिविशिष्टश्च शुद्धादस्मातिरिच्यते।
न चात्र प्रतिपाद्योऽसौ तत्तात्पर्यानवेक्षणात् ॥६६॥

महर्षि जैमिनिने भी शुद्ध आत्माको कर्मशेष नहीं माना है। "पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्" इस सूत्रमें कर्मकर्ता होनेसे पुरुषको शेष बताया है। वह तो कर्तृत्वविशिष्ट ही हुआ। विशिष्ट शुद्धसे अतिरिक्त वेदान्तमें माना गया है। अतः शुद्धकी कर्मशेषता जैमिनिको भी संमत नहीं है और विशिष्ट आत्मा तो उपनिषदोंका प्रतिपाद्य नहीं है। कारण विशिष्टमें तात्पर्य देखनेमें नहीं आता ॥६५–६६॥

सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात् ।
सभी उपनिषदें आत्माके परमार्थनिरूपणमें ही परिसमाप्त होती हैं ।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥६७॥

उपक्रम तथा उपसंहारकी एकरूपता, अभ्यास (बार-बार कथन), अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये छः तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग हैं ॥६७॥

ईशावास्यमुपक्रम्योपसंजह्रे स पर्यगात् ।
अनेजदेकमभ्यासो नैनद्देवा अपूर्वता ॥६८॥

ईशावास्य यह सर्वान्तर्यामी व्यापक आत्माका उपक्रम और स पर्यगाच्छुक्रं यह उसीका उपसंहार है। अनेजदेकं तन्नैजति इत्यादि निष्क्रिय आत्माका अभ्यास है। नैनद्देवा आप्नुवन्—इन्द्रियाँ आत्माको प्राप्त नहीं कर सकीं, यह अपूर्वता है ॥६८॥

फलमत्र च कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।
कुर्वन्नेव स्तुतिर्निन्दाऽसुर्या नामार्थवादवाक् ॥६९॥

एकात्मदर्शीकी शोकनिवृत्ति होती है। यह फल है। अर्थवाद स्तुति निन्दात्मक दोनों यहाँ हैं। कुर्वन्नेव यह स्तुति है और असुर्यलोकगमनोक्ति निन्दा है ॥६९॥

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीत्युपपत्तिगीः ।
एवं लिङ्गानि बोद्धव्यान्यन्यासूपनिषत्स्वपि ॥७०॥

हिरण्यगर्भ उस परमात्माकी सत्तासे ही कर्मफलका विभाजन कर सकते हैं यह उपपत्तिकथन है। इसी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें भी षड्लिङ्ग समझना चाहिये ॥७०॥

लिङ्गैः षड्भिर्यथाप्रोक्तैः शुद्धे तात्पर्यमीक्ष्यते ।
न ह्येकत्वं विशिष्टस्य नाकायत्वादिकं तथा ॥७१॥

इन छः लिङ्गोंसे ईशावास्यका तात्पर्य शुद्धमें ही सिद्ध होता है, न कि कर्तृत्वादि-विशिष्टमें। विशिष्ट तो दो के मिलनेसे होता है। वह एक नहीं होता और शरीरादिशून्य कर्तृत्वादिविशिष्ट नहीं हो सकता ॥७१॥

विशिष्टे नास्ति तात्पर्यं कर्माङ्गत्वेन संमते ।
तात्पर्यविषये शुद्धे नेष्यते कर्मशेषता ॥७२॥

गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात् ।

गीता एवं मोक्षधर्म (महाभारतान्तर्गत) भी पूर्वोक्त आत्मस्वरूपनिरूपण-परक हैं ।

ईशावास्यादिमन्त्रेषु तस्मादेतेषु सर्वथा ।
न कर्मशेषता साक्षात्पारम्पर्येण वा मता ॥७३॥

जो कर्माङ्ग कर्तृत्वादिविशिष्ट है उसमें मन्त्रोंका तात्पर्य है वह शुद्ध आत्मा कर्माङ्ग नहीं है ॥ ७२ ॥ फलतः ईशावास्यादिमन्त्रोंमें साक्षात् या परम्परया किसी भी प्रकार कर्मशेषता नहीं यह सिद्ध हुआ ॥७३॥

संशयश्च कुतर्केण न कर्तव्यो मुमुक्षुभिः ।
गीतानां मोक्षधर्माणामत्र संवादसत्त्वतः ॥७४॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥७५॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥७६॥

और मुमुक्षुओंको इस विषयमें कुतर्कके द्वारा संशय भी नहीं करना चाहिये । क्योंकि गीतामें तथा मोक्षधर्ममें इसी अर्थका स्पष्टीकरण कर तर्कको निराधार कर दिया है ॥७४॥ गीतामें कहा है—सर्व भूतोमें सम-भावसे तथा विनाशियोंमें अविनाशी रूपसे रहनेवाले परमेश्वरको जो देखता है वही वस्तुतः देखता है ॥७५॥ मोक्षधर्ममें—एक ही सत्यात्मा समस्त भूतोंमें स्थित है, वह जलचन्द्रके समान एकधा तथा बहुधा दिखाई देता है—ऐसा बताया है ॥७६॥

अत्र शुद्धो विशिष्टश्चेत्यात्मद्वैतं न भण्यते ।
किन्त्वात्मा शुद्ध एवास्तीत्येतच्छ्रुत्या निरूप्यते ॥७७॥
कर्तृत्वादिविशिष्टश्च विभ्रमज्ञानगोचरः ।
निरस्य विभ्रमं ह्यात्मयाथात्म्यमनुभाष्यते ॥७८॥

विशिष्टे नास्ति तात्पर्यं (श्लोक ७२) इत्यादि जो हमने बताया उसका अर्थ ऐसा नहीं समझें कि आत्मा दो हैं, एक विशिष्ट और दूसरा शुद्ध, उनमें ईशावास्यादिमन्त्र विशिष्टका प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु शुद्धका ही करते हैं । किन्तु उस श्लोकका अभिप्राय यही कि श्रुति विशिष्टका अस्तित्व ही नहीं मानती । वस्तुतः आत्मा शुद्ध ही है । कर्तृत्वादिविशिष्ट आत्माकी

प्रतीति केवल भ्रान्तिमात्र है। श्रुति उस भ्रान्तिका निराकरण करती हुई अद्वैत आत्मतत्त्वका निरूपण करती है ॥७७–७८॥

प्रत्यक्षतः सिद्धमपि नानात्वाशुद्धतादिकम् ।
बाध्यते बलशालिन्या श्रुत्या तात्पर्यगर्भया ॥७९॥

निरस्य विभ्रमं (श्लोक ७८) अर्थात् प्रत्यक्षसे सिद्ध जो आत्माका नानात्व अशुद्धत्वादि है उसका बाध करती है। बाध इसलिये कर सकती है कि प्रत्यक्षकी अपेक्षा श्रुति बलवती है। यदि कहो कि फिर आदित्यो यूपः यह श्रुति भी प्रत्यक्षको बाधकर खंभेको आदित्य सिद्ध करने लगेगी तो उसका उत्तर यही कि वहाँ यज्ञस्तम्भ पशुबन्धनादिकी प्रशंसा करनेमें तात्पर्य है। यूपको आदित्य बतानेका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव वहाँ श्रुति प्रत्यक्षका बाध नहीं करती। यहाँ उससे विलक्षणता है। यहाँ आत्माको अकर्ता अभोक्ता बतानेमें तात्पर्य है। अतएव यही सिद्धान्त माना गया है कि तात्पर्ययुक्त श्रुति प्रत्यक्षसे प्रबल है और स्वार्थतात्पर्यरहित श्रुति प्रबल नहीं होती वहाँ प्रत्यक्ष प्रबल है ॥७९॥

ननु कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वादिप्रबाधने ।
अप्रमाण्यं प्रसज्येत कर्मकाण्डस्य सर्वशः ॥८०॥

यजेत स्वर्गकामोऽत्र कर्तृता भोक्तृतापि च ।
आत्मनः प्रोच्यते श्रुत्या स्वार्थतात्पर्ययुक्तया ॥८१॥

न च कर्मणि तात्पर्यं न कर्तृत्वादिके गिरः ।
इति वाच्यमकर्तृत्वे कर्म संपद्यतां कथम् ॥८२॥

वाक्यभेदप्रसक्तिश्च विशिष्टविधिसंश्रयात् ।
वार्यतां श्रीयतां वापि विध्यर्थापत्तिरत्र हि ॥८३॥

श्रुतिद्वयविरोधे च विकल्पासंभवस्थले ।
तात्पर्याधिक्यसाधारा बलाबलविचारणा ॥८४॥

तत्र साध्यार्थवक्तृत्वात्कर्मकाण्डे बलाधिकम् ।
सिद्धार्थवेदकत्वाच्च ज्ञानकाण्डं न तत्तथा ॥८५॥

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादनर्थकमतद्विधम् ।
इत्याह जैमिनिरपि पूर्वकाण्डप्रमाणताम् ॥८६॥

अर्थवादास्ततः सर्वे वेदान्ता आत्मभाषिणः ।
को वेदामुत्र भवति न वेति वचनं यथा ॥८७॥

तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपाप-विद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।

(चूंकि आत्माका पारमार्थिक रूप शुद्धत्वादि कर्मविरुद्ध है) अतः कर्मोंका जो विधान (वेदोंमें) किया गया है वह आत्माके (कल्पित) अनेकत्व कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि एवं अशुद्धत्व पापदूषितत्व आदिको लेकर ही है जो केवल लोकबुद्धिसे सिद्ध हैं। अर्थात् आध्यासिक हैं।

पूर्वपक्ष—वेदान्तवाक्योंसे कर्तृत्वादि भोक्तृत्वादि प्रत्यक्षका बाध हो सकता है। परन्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिप्रतिपादक श्रुतिका बाध नहीं किया जा सकता। यदि वेदान्तवाक्य कर्तृत्वादिका बाध करते हैं तो 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि श्रुति अप्रामाणिक हो जायेगी 'यजेत'से कर्तृत्व और 'स्वर्गकामः'से भोक्तृत्व प्राप्त होता है। यदि यह कहें कि यहाँ श्रुति केवल कर्मका विधान करती है, कर्तृत्व भोक्तृत्वका नहीं, अतः अप्रामाणिकताकी आपत्ति कैसे ? इसका उत्तर यही कि कर्तृत्वादि न हो तो कर्म ही कैसे होगा ? अतः कर्तृत्वादि का भी प्रतिपादन मानना होगा। यद्यपि कर्मका भी विधान मानेंगे और कर्तृत्वादिका भी तो अनेक विधान होनेसे 'वाक्यभेद' नामका मीमांसकस्वीकृत दोष आ सकता है तथापि विशिष्टविधान मानकर उसके परिहारका भी मीमांसकोंने रास्ता निकाला है और विध्यर्थापत्तिसे भी कर्तृत्वादिकी सिद्धि हो सकती है। इस प्रकार यहाँ श्रुतिद्वयका परस्पर विरोध उपस्थित हो गया। दो श्रुतियोंका विरोध होता है वहाँ एकको अप्रामाणिक और दूसरीको प्रामाणिक मानना सम्भव नहीं है। क्योंकि श्रुति सभी प्रामाणिक होती है। ऐसे स्थलोंमें प्रायः विकल्प ही होता है। परन्तु विकल्प क्रियास्थलमें ही होता है, वस्तुमें विकल्प नहीं होता। वहां फिर बलावल विचारकर एक श्रुतिका यथाश्रुत अर्थमें तात्पर्य और दूसरी श्रुतिका लक्षणया अन्यार्थ माना जाता है। तात्पर्य अधिक जिसमें हो वही स्वार्थपरक होगा। यहाँ साध्य अपूर्व अर्थका प्रतिपादन होनेसे कर्मकाण्ड प्रवल पड़ता है। और सिद्धार्थकथन होनेसे ज्ञानकाण्ड ही दुर्वल पड़ता है। महर्षि जैमिनिने भी वेदको क्रियार्थक कहकर ही उसकी प्रामाणिकता बतायी। अतः वेदान्तवाक्य ही लक्षणया अर्थवादपरक होगा। अर्थवादवाक्योंमें कहीं विपरीतकथन भी होता है। जैसे 'को वेदामुत्र' इस वाक्यमें कहा कि कौन जाने स्वर्ग मिलता है या नहीं। इत्यादि। वैसे यहां पर भी कर्ता होनेपर भी अकर्ता कह दिया ॥८०-८७॥

अत्राभिदध्महे शब्दो विधत्ते यागमत्र तु।
न कर्तृत्वादिकमपि वाक्यभेदप्रसङ्गतः ॥ ८८ ॥

न विशिष्टविधिर्ह्यत्र भवेत् संभवदुक्तिकः।
नोद्देश्यमेव तर्हि स्याद् विधेयः कस्य तर्हि ते ॥ ८९ ॥

न ह्यकर्तारमुद्दिश्य कर्तृत्वं हि विधीयते।
कर्तृत्वस्यापि साध्यत्वेऽनवस्था केन वार्यताम् ॥ ९० ॥

अर्थापत्त्यापि कर्तृत्वभोक्तृत्वे एव सिद्धयतः।
न तत्सत्यत्वमपि च नेष्टसिद्धिस्ततस्तव ॥ ९१ ॥

किमर्थमर्थापत्त्यन्तं धावसे च मुधा श्रमात्।
प्रत्यक्षसिद्धे कर्तृत्वभोक्तृत्वे किं न वीक्षसे ॥ ९२ ॥

तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वे अनूद्येते स्वशब्दतः।
लोकबुद्धिप्रसिद्धे हि न त्वन्ये शास्त्रगोचरे ॥ ९३ ॥

समाधानः—"यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य से केवल यागका ही विधान है, कर्तृत्वादिका नहीं। दोनोंका विधान माननेपर वाक्यभेद दोष होगा। कर्तृत्वादिविशिष्ट यागका विधान मानकर वाक्यभेददोषपरिहार नहीं हो सकता। कारण जहां विधि होती है वहां उद्देश्य भी होता है। यहां तो कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टयाग तो विधेय हो गया। अर्थात् उद्देश्य कर्ता भोक्ताको भी विधेय कोटिमें डाल दिया। अब उद्देश्य कौन होगा? यदि कहें कि अकर्ता देवदत्तको उद्देश्यकर कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्ट यागका विधान हो रहा है तो यह वदतोव्याघात होगा। दूसरी बात यह कि मीमांसकोंके मतमें साध्य ही विधेय होता है। कर्तृत्व भी यदि सध्य हो तो उसके लिये एक दूसरा कर्तृत्व मानना पड़ेगा। उसका भी विधान मानेंगे तो अनवस्था होगी। विधिके विना द्वितीय कर्तृत्व सिद्ध हो सकता है तो प्रथम कर्तृत्व भी उसी प्रकार विना विधि ही सिद्ध हो सकेगा ॥८८-९०॥ विध्यर्थापत्तिसे कर्तृत्वकी सिद्धि होती है यह कहना भी निरर्थक है। कारण उससे कर्तृत्वभोक्तृत्वमात्रकी सिद्धि होगी, न कि कर्तृत्वभोक्तृत्वसत्यताकी भी। यदि कर्तृत्वभोक्तृत्वमात्रकी ही सिद्धि करनी थी तो अर्थापत्ति तक दौड़ लगानेकी क्या आवश्यकता थी? उतना तो प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है ॥९१-९२॥ इसलिये अन्तमें यही कहना होगा कि "यजेत स्वर्गकामः इत्यादि वाक्य प्रत्यक्षसिद्ध कर्तृत्वभोक्तृत्वका अनुवाद मात्र करता है ॥९३॥

अनूद्यमानसत्यत्वं न प्रामाण्यप्रयोजकम् ।
अज्ञातार्थज्ञापकत्वमात्रस्यैव तथात्वतः ॥ ९४ ॥

अनुवादित अर्थकी सत्यता प्रामाण्यका कारण नहीं है। अज्ञात अर्थको बतलाना ही प्रामाण्यमें कारण है ॥९४॥

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
इत्यादेरप्रमाणत्वमन्यथा ते प्रसज्यते ॥ ९५ ॥

श्रुतिमें लिखा है कि काम्यकर्मोंमें यदि सपनेमें स्त्री दिखाई पड़े तो समझना चाहिये कि समृद्धि होगी। यहां स्वप्नस्त्रीदर्शनमें अनुवादित स्वप्नस्त्री मिथ्या है। अनुवादित अर्थकी सत्यता आवश्यक हो तो "यदा कर्मसु काम्येषु" यह वाक्य अप्रमाण हो जायेगा ॥९५॥

अज्ञातत्ववदर्थस्याबाध्यत्वं चाप्यपेक्षितम् ।
प्रामाण्यं प्रति बोधस्येत्येतच्चैतेन खण्डितम् ॥ ९६ ॥

'स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति' इस उदाहरणसे यह पूर्वपक्ष भी खण्डित हो जाता है कि प्रामाणिकताके लिये जैसे अर्थकी अज्ञातता अपेक्षित है वैसे अबाधितता भी अपेक्षित है ॥९६॥

नन्वास्तामनुवाद्यस्य सत्यत्वादावनाग्रहः ।
तथापि स्याद्विधेयस्य सत्यत्वं समपेक्षितम् ॥ ९७ ॥

अन्यथोदखिदत् पूर्वं वपां स्वीयां प्रजापतिः ।
इति श्रुतिः प्रमाणं स्याद्विधिकल्पनसंभवात् ॥ ९८ ॥

निषेधशास्त्रं चेतव्यो नान्तरिक्षेऽग्निरित्यपि ।
गोचरौ कल्पितार्थौ हि स्यातां विधिनिषेधयोः ॥ ९९ ॥

विधेयकर्मसत्यत्वेऽप्यस्त्यद्वैतवचोहतिः ।
इत्यर्थवादमात्रत्वं वेदान्तानां पुनर्ध्रुवम् ॥ १०० ॥

पूर्वपक्षः—अनुवादित कर्तृत्वभोक्तृत्व, स्वाप्निक स्त्री आदिके सत्यत्व-मिथ्यात्वमें आग्रह भले न हो, तथापि विधेय अर्थकी सत्यता तो माननी ही पड़ेगी। अन्यथा "प्रजापतिर्वपामुदखिदत्" इत्यादि वाक्य भी स्वीयवपा-निर्वापणकी विधि या विधिकल्पक मानना होगा। एवं नान्तरिक्षे अग्नि-श्चेतव्यः यह भी अन्तरिक्षमें अग्निचयननिषेधशास्त्र मानना होगा। यदि कहें कि अपनी वपा निकालनेपर यजमान मर ही जाएगा याग कौन

करेगा ? तथा अन्तरिक्षमें अग्निचयन प्राप्त ही नहीं है, निषेध किसका होगा ? तो इसका उत्तर यही दिया जाएगा कि काल्पनिकस्वीयवपानिर्वापणविधि और काल्पनिकान्तरिक्ष-अग्निचयनका निषेध यहां पर संभव है। परन्तु किसी भी मीमांसकने उक्त दोनों वाक्योंमें न विधि मानी और न निषेध माना। इन दोनोंको अर्थवादवाक्य ही माना है। यदि कहा जाय कि ईशावास्यादिमन्त्रोंमें केवल आत्मयाथात्म्य ही बताया है, अर्थात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादि काल्पनिक है, आत्मा नित्यशुद्ध है, यही बताया, कर्म सत्य है या मिथ्या इससे यहाँ क्या मतलब ? तो उसका भी उत्तर है, वह यह कि आत्माको केवल अकर्ता अभोक्ता ही यहाँ नहीं बताया, किन्तु एक अद्वैत भी कहा गया है। कर्म सत्य हो तो आत्माकी अद्वैतता संभव नहीं हो सकेगी ॥ ९७-१०० ॥

अत्रोच्यते समादाय व्यावहारिकसत्यताम् ।
सर्वा विधिनिषेधानां प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ १०१ ॥
प्रवर्तकत्वतो वेदप्रामाण्यमुररीकृतम् ।
आम्नायस्य क्रियार्थत्वादित्येवंवादिनर्षिणा ॥ १०२ ॥
व्यावहारिकसत्यत्वमात्रादेवोपपद्यते ।
प्रवर्तकत्वं वेदानामिति काचिन्न हि क्षतिः ॥ १०३ ॥

सिद्धान्तः—कर्मादिकी व्यावहारिक सत्यताको लेकर समस्त विधिनिषेधप्रवृत्ति संभव है। असलमें वेदोंकी प्रामाणिकता प्रवर्तक होनेसे ही जैमिनिने मानी है। "क्रियार्थत्वात्" कहनेका तात्पर्य यही है। और व्यावहारिक सत्यता मात्रसे प्रवर्तकता वेदोंमें संभव है ॥ १०१–१०३ ॥

नन्वेवं तत्त्ववेत्तारं प्रत्यप्रामाण्यमापतेत् ।
अननुष्ठापकत्वं हि वेदानामस्ति तं प्रति ॥ १०४ ॥

पूर्वपक्षः—यदि प्रवर्तकत्व ही प्रामाण्यका प्रयोजक है तो तत्त्ववेत्ताको कर्मकाण्ड प्रवर्तित नहीं करता। कारण, कर्तृत्वादिमिथ्यात्वदर्शी कर्ममें प्रवृत्त नहीं हो सकता। तब तत्त्ववेत्ताके प्रति कर्मवाक्य अप्रामाणिक होगा ॥ १०४ ॥

सत्यं तत्त्वार्थविज्ञं प्रत्यङ्गीकुर्मोऽप्रमाणताम् ।
अननुष्ठापकत्वेन श्येनयागगिरो यथा ॥ १०५ ॥
शत्रौ क्रोधादिरहितः श्येनं नैवानुतिष्ठति ।
अप्रामाण्यं ततस्तं प्रत्यननुष्ठापकत्वतः ॥ १०६ ॥

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काण(त्व)कुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति ।

अध्यासवान् ही कर्माधिकृत है यह बात अधिकारवेत्ता महर्षियोंके इस कथनसे सिद्ध होता है कि जो दृष्टफल ब्रह्मवर्चस आदि चाहता है और जो अदृष्ट फल स्वर्गादिकी कामना रखता है तथा यह समझता है कि मैं द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) हूँ, कर्मानधिकारके हेतु कानापन कुबडापन आदि दोषों से युक्त नहीं हूँ, वही कर्ममें अधिकारी होता है ।

समाधान—तत्त्वज्ञानीके प्रति अप्रवर्तक होनेसे कर्मकाण्डकी अप्रमाणताको हम अंगीकार करते हैं, जैसे श्येनयागवाक्यकी ॥ १०५ ॥ "श्येनेनाभिचरन् यजेत" यह शत्रुको मारनेके लिये श्येनयागविधायक वाक्य है ॥ परंतु जिसका शत्रुके प्रति क्रोध ही नहीं है वह इस वाक्यको सुननेपर भी श्येनयाग नहीं करता । अतः अप्रवर्तक होनेसे अप्रमाणता क्रोधरहितके प्रति श्येनवाक्यकी सिद्ध होती है ॥ १०५–१०६ ॥

> किं चोक्तं पूर्वतन्त्रेऽपि जैमिन्यादिमहर्षिभिः ।
> फलकामोऽधिकारी स्याद् द्विजत्वाद्यभिमानवान् ॥ १०७ ॥

अब थोड़ा पूर्वमीमांसामें भी देखिये, वे क्या कहते हैं । स्वर्गादिफलेच्छावाला और अपनेको द्विज आदि माननेवाला कर्ममें अधिकारी होता है ॥ १०७ ॥

> न ह्यात्मवित् फलार्थी स्यादानन्दं स्वंपरं विदन् ।
> द्विजत्वादिश्च शारीरो धर्मो नैवात्मनो मतः ॥ १०८ ॥

> द्विजोऽस्म्यहमिति ज्ञानं सकलैः शास्त्रवेदिभिः ।
> आभिमानिकमेवोक्तं मिथ्याज्ञाननिबन्धनम् ॥ १०९ ॥

अपना स्वरूपानन्द जिसको प्राप्त हो गया उसको स्वर्गादिफलकामना संभव नहीं है । अतएव उसके प्रति अप्रवर्तक होनेसे वाक्य प्रमाण नहीं होता । तथा द्विजत्वादि धर्म शरीरगत है आत्मगत नहीं । मैं द्विज हूँ ऐसे ज्ञानको सबने ही अभिमानिक माना है । यह अभिमान जिसमें न हो वह

यागमें अधिकारी न होनेसे उसके प्रति भी शास्त्र अननुष्ठापक होनेसे अप्रमाण होगा ॥ १०८–१०९ ॥

ननु द्विजशरीरं म इतिज्ञो यजतां नरः।
किमर्थमभिमानोऽत्रावस्यंभाव्यभ्युपेयते ॥ ११० ॥

पूर्वपक्षः—मैं द्विज हूँ यह ज्ञान आभिमानिक है। क्योंकि द्विजत्व आत्मामें नहीं, शरीरमें है। परंतु मेरा द्विज शरीर है यह ज्ञान तो अभिमानिक नहीं है, और उसी ज्ञानको यज्ञकारण मान लिया जा सकता है, अतः तत्त्ववेत्ताको भी अधिकार संभव है ॥ ११० ॥

न, ब्राह्मणो यजेतेति श्रुतावध्यास ईरितः।
न हि कायस्य कर्तृत्वं ब्राह्मणत्वं न चात्मनः ॥ १११ ॥

उत्तरः—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं। "ब्राह्मणो यजेत" "राजा राजसूयेन यजेत" इत्यादि श्रुतिमें स्पष्ट अध्यास बताया है। ब्राह्मणपदका यदि शरीर अर्थ है तो शरीर कर्ता नहीं है और आत्मा अर्थ है तो आत्मामें ब्राह्मणत्व नहीं है ॥ १११ ॥

यदि कायस्य कर्तृत्वमुररीक्रियते तदा।
भोक्ता भिन्नो भवेत्कर्तुः स्वर्गे देहः क्व खल्वयम् ॥ ११२ ॥

यदि आप बलपूर्वक यह कहें कि शरीर ही ब्राह्मण है और शरीर ही कर्ता भी है, अतः "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादि वाक्यार्थमें कोई अनुपपत्ति नहीं, तो उसका जवाब यह कि तब कर्ता अन्य होगा और भोक्ता अन्य होगा। स्वर्गमें यह शरीर तो जाता नहीं है ॥ ११२॥

ननु कर्तृत्वभावोऽन्तःकरणे नात्मनीति चेत्।
सत्यं ब्राह्मण्यमप्यन्तःकरणेपि न विद्यते ॥११३॥

कथं च जडभूतान्तःकरणं कर्तृतां व्रजेत्।
आत्मान्तःकरणैकात्म्यभ्रमजन्यैव सा ततः ॥११४॥

कर्तारं देहमात्मानं भोक्तारं चेकमेव यः।
वेत्ति तं प्रत्ययं तस्माद्विधिरित्येव निश्चयः ॥११५॥

पूर्वपक्ष—कर्तृत्व आत्मामें भी कहाँ है, वह तो अन्तःकरणका धर्म है।
उत्तर—बात सही है। परन्तु ब्राह्मणत्वादि धर्म अन्तःकरणमें भी तो नहीं है। दूसरी बात जड अन्तःकरण कर्ता कैसे बन सकता है? कर्तृत्व

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनात्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्तीति । एवमुक्ताधिकार्याभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान् मन्त्रान् संक्षेपतो व्याख्यास्यामः ॥

इस प्रकार ये मन्त्र कर्म-अविनियुक्त सिद्ध होनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये (मन्त्र) आत्माके पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान उत्पन्न कर आत्मविषयक अनादि सिद्ध अज्ञानको नष्ट करते हुए शोकमोहादि संसार धर्मका उच्छेदसाधन अद्वैत-आत्म साक्षात्कार उत्पन्न करते हैं। इस विवेचन से इन मन्त्रोंके अधिकारी विषय सम्बन्ध और प्रयोजन (अनुबन्धचतुष्टय) का भी निरूपण हो गया है। अब इन (मन्त्रों) की संक्षेप से हम व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

तो आत्मा और अन्तःकरणके ऐक्याध्याससे उत्पन्न होता है। सारांश यह कि जो कर्ता, शरीर, आत्मा और भोक्ता इन चारको एक समझता है उसीके प्रति "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादि विधि है ॥११३–११५॥

आत्मयाथात्म्यविज्ञानकरा मन्त्रास्ततस्त्विमे ।
अकर्मशेषाः सिद्धयन्ति संसारार्णवतारणाः ॥११६॥

फलतः आत्मयाथात्म्यज्ञानको उत्पन्न करनेवाले ये (ईशावास्यादि) मन्त्र अकर्मशेष सिद्ध होते हैं और ये संसारसागरको पार करानेवाले भी हैं ॥११६॥

संसारदुःखविच्छेदस्तथा स्वानन्दसंस्थितिः ।
प्रयोजनमतः सिद्धं विदुषां मोक्षलक्षणम् ॥११७॥

इससे संसार दुःखनिवृत्ति और स्वानन्दप्राप्तिरूपी प्रयोजन, जिसको मोक्ष भी कहते हैं, विद्वानोंके लिए सिद्ध होता है ॥११७॥

आत्मयाथात्म्यमेवात्र विषयः शास्त्रगोचरः ।
यज्ज्ञानादेव पूर्वोक्तप्रयोजनसमन्वयः ॥११८॥

आत्मयाथात्म्य ही प्रकृतशास्त्रका विषय है, उसीके ज्ञानसे पूर्वोक्त मोक्षफल की प्राप्ति होती है ॥११८॥

सम्बन्धोपि ततो हेतुहेतुमत्स्वादिलक्षणः ।
विषयज्ञानमोक्षादेः प्रसिद्धचति परस्परम् ॥११९॥

चूँकि आत्मयाथात्म्यज्ञानसे मोक्ष होता है अतः ज्ञान और मोक्षका हेतुहेतुमद्भाव, तथा ग्रन्थ और विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावादि सम्बन्ध भी सिद्ध होता है ॥११९॥

सुखं वैषयिकं नाम कर्मभ्योऽपि प्रसिद्धचति ।
तद्विरक्तो मुमुक्षुश्चाकर्मशेषेऽधिकारभाक् ॥१२०॥

वैषयिक सुख तो कर्मोंसे प्राप्त होता है । कर्मप्रकरणको छोड़कर ज्ञान-प्रकरणमें आनेका अर्थ ही यह होता है कि वैषयिक सुखोंसे विरक्त मुमुक्षु ही यहाँ अधिकारी है ॥१२०॥

इत्थं विविच्य संस्पृष्टस्वानुबन्धचतुष्टयान् ।
मन्त्रान् भाष्यविभक्तार्थान् व्याख्यास्यामो यथामति॥१२१॥

इस प्रकार सविवेक अनुबन्धचतुष्टययुक्त मन्त्रोंका जिनको भाष्यमें विभाग कर बताया, विशेष रूपसे स्वमति अनुसार हम विवरण करेंगे ॥१२१॥

इति सम्बन्धभाष्यवार्तिकम्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

ईश्वरसे जागतिक समस्त वस्तुओंका आच्छादन करना चाहिये। अर्थात् अद्वैत आत्मदृष्टिसे जगत्का वाध करना चाहिये। इस प्रकार जो जगत्का बाधात्मक त्याग है उस त्यागसे आत्माकी रक्षा करो। किसी भी वस्तुमें राग तृष्णा न करो। भला, दार सुतादि संसाररूपी धन किसका है ? वह किसीका नहीं है जिसके लिये राग किया जाये। मिथ्या वस्तु किसीकी नहीं होती ॥१॥

॥ भाष्यम् ॥

ईशावास्यमित्यादि । ईशा । ईष्ट इतीट् तेनेशा ।

'ईशा' यह ईश धातुके कर्ता अर्थमें कृदन्त तृतीयान्तका रूप है।

❀ ईशावास्यमिदं सर्वम् ❀

ईष्टे योऽसौ प्रभवति जगज्जन्मावनादिषु ।
निरुपाधिकसामर्थ्यं तत्र तस्याविशेषणात् ॥१॥

'ईशा' यहाँ ईश ऐश्वर्ये धातु है। जगत्के जन्म, स्थिति तथा संहार करनेमें समर्थं यही धात्वर्थ है। क्योंकि ईशासे पहले कोई विशेषण नहीं है अतः निरुपाधिक सामर्थ्य यहाँ लिया जाना चाहिये ॥ १ ॥

उपादानं निमित्तं चाभिन्नं विश्वस्य यद्भवेत् ।
निरुपाधिकसामर्थ्यं तदीयमुपपद्यते ॥२॥

विश्वका जो अभिन्ननिमित्तोपादान होगा उसीमें निरुपाधिक सामर्थ्य माना जा सकता है ॥२॥

परमाणुरुपादानमिति वैशेषिका जगुः ।
परमाणूनजनयंस्तन्मते ह्यप्रभुः प्रभुः ॥३॥

परमाणु उपादान कारण हैं, उनसे कार्य जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा

ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य, स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन् प्रत्यगात्मतया ।

ईट् (ईश) अर्थात् ईशिता यानी शासनकर्ता परमेश्वर जो कि सबका परम आत्मा है।

वही समस्त प्राणियोंका आत्मा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) के रूपमें

वैशेषिक मत है। परन्तु उनके मतमें परमाणुओंको उत्पन्न करनेमें परमेश्वर असमर्थ है ॥३॥

एतेन सांख्यः प्रत्युक्तोऽव्यक्तोपादानदर्शनः ।
न ह्यव्यक्तं जनयितुं प्रभुरीशोऽपि तन्मते ॥४॥

वैशेषिकनिराकरणसे सांख्यका भी निराकरण हो जाता है। उनके मतमें अव्यक्त-प्रकृति जगत्का उपादान है। उस अव्यक्तको पैदा करनेमें परमेश्वर असमर्थ ही हैं। तब निरुपाधिक सामर्थ्य उस मतमें भी ईश्वरमें सिद्ध नहीं होता। (यह सेश्वरसांख्यमतानुसारेण कहा गया है) ॥४॥

ननु स्वं जनयेन्नो वा प्रभुरेष भवन्मते ।
आद्येऽनित्यो भवेदेष तथान्येऽप्रभुरेव सः ॥५॥

पूर्वपक्ष—ईश्वर अपने आपको उत्पन्न कर सकता है या नहीं, यदि उत्पन्न कर सकता और करता है तो ईश्वर अनित्य होगा। यदि नहीं, तो अपनेको उत्पन्न करनेमें असमर्थ होनेसे सर्वसमर्थ नहीं हो सकेगा। तब वेदान्त मतमें भी निरुपाधिक सामर्थ्य सिद्ध नहीं हुआ ॥५॥

मैवं स्वं जनयन् स्वस्मात् पूर्वं स्यात्कारणत्वतः ।
व्याहतिस्तु तदायाति स्वयं पूर्वं कथं स्वतः ॥६॥

उत्तर—यदि स्वयंको स्वयं बनाये तो उसका अर्थ है कि स्वयं उत्पन्न होनेसे पहले स्वयंका रहना। क्योंकि कारण हमेशा कार्यसे पूर्व रहता है। तब यह व्याहतवचन होगा। 'कार्य होनेसे पूर्वमें नहीं' 'कार्य होनेसे पूर्वमें है' यह व्याघात है ॥६॥

व्याहतार्थानिदानस्याऽप्रभुत्वाभावकः खलु ।
उन्मत्तवदुपेक्ष्यः स्यादाहार्यार्थोपदेशकः ॥७॥

व्याहतार्थकी अप्रयोजकतामात्रसे प्रभुको अप्रभु कहनेवाला उन्मत्तके समान उपेक्षणीय होता है। क्योंकि वह आहार्य अर्थ (व्याहत अर्थ) का उपदेश कर रहा है ॥७॥

तेन स्वेनात्मनेशा । वास्यमाच्छादनीयम् ।
सबका शासन करता है। उस स्वस्वरूप आत्मारूपी ईशसे आच्छादन

अलीकं शशशृङ्गाद्यमनुत्पादयितुः प्रभोः ।
अप्रभुत्वं न युक्तं स्यादुत्पत्तौ सत्त्वयोगतः ॥८॥

असत् शशशृङ्गादि उत्पन्न न करनेसे प्रभुको अप्रभु कहना अयुक्त है। क्योंकि उत्पन्न होनेपर वह असत् ही नहीं रहेगा, सत् हो जायेगा ॥८॥

तथा च परमेशोऽसौ परमात्मापि निश्चितः ।
उपादानं हि नामात्मा घटस्यात्मा हि मृद्यथा ॥९॥

फलतः परमेश्वर परमात्मा भी निश्चित होता है। जो उपादान होता है वह आत्मा होता है। जैसे घटकी आत्मा मृत्तिका होती है ॥९॥

सर्वान्तरात्मा यः सोऽयं परमात्मा निगद्यते ।
स एव प्रत्यगात्मा च प्रत्यक् सर्वान्तरो हि यत् ॥१०॥

जो सर्वान्तरात्मा हो वही परमात्मा शब्दका अर्थ है। उसीको प्रत्यगात्मा भी कहते हैं। क्योंकि प्रत्यक्का अर्थ है सर्वान्तर ॥१०॥

घटस्यात्मा कपालः स्यात्तस्य मृच्चूर्ण आन्तरः ।
तस्याणुस्तस्य तन्मात्रेत्यन्ते सर्वान्तरः प्रभुः ॥११॥

घटकी आत्मा कपाल है। कपालकी मृत्तिकाचूर्ण अन्तरात्मा है। उसकी अन्तरात्मा अणु और उसकी तन्मात्रा। इस प्रकार अन्तिम अन्तरात्मा ही परमात्मा प्रभु है ॥११॥

उपादाननिमित्तैक्ये तज्जन्यं कल्पितं भवेत् ।
निरंशत्वादात्मनो हि संस्थानासंभवित्वतः ॥१२॥

उपादान और निमित्त जहाँ एक होता है वहाँ कार्य कल्पित ही हो सकता है। क्योंकि आत्मा निरवयव होनेसे अवयवोंके संस्थान (संनिवेश-विशेष) से कार्य नहीं बन सकता। (मृत्तिकाके अवयवोंके ऊपर-नीचे क्रम विशेषसे लगानेपर घट तैयार होता है। आत्मा निरवयव है। अतः अवयवोंको ऊपर-नीचे करके कार्य तैयार करना असम्भव है) ॥१२॥

ईक्षणाज्जगतः सर्गं श्रुतिरप्याह शाश्वती ।
दृष्टिसृष्टं च मिथ्यैव भवेद्रज्जुभुजङ्गवत् ॥१३॥

"तदैक्षत" इत्यादि श्रुतिने ईक्षणसे जगत्की सृष्टि बतायी है, और जो दृष्टिसे सृष्ट होता है वह रज्जुसर्पके समान मिथ्या ही हो सकता है ॥१३॥

रज्ज्वाद्यज्ञानसंभूतः सर्पादिरवलोक्यते ।
आत्माऽज्ञानसमुद्भूतं जगच्चैव तथा भवेत् ॥१४॥

रज्जु आदिके अज्ञानसे सर्पादि उत्पन्न होते हैं वैसे आत्माके अज्ञानसे ही जगत् भी उत्पन्न हो सकता है ॥१४॥

स्फुरितायां पुना रज्जौ न सर्प उपलभ्यते ।
स्फुरिते चात्मनि तथा द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥१५॥

रज्जु स्फुरित होने पर सर्पकी उपलब्धि नहीं होती है। वैसे आत्मा स्फुरित होनेपर द्वैत जगत् भी उपलब्ध नहीं होता ॥१५॥

स्फुरिता पुरतो रज्जुराच्छादयति पन्नगम् ।
स्फुरितश्चैवमात्मा च जगदाच्छादयेत्परः ॥१६॥

रज्जु स्फुरित होनेपर सर्पका आच्छादन करती है। वैसे आत्मा भी स्फुरित होनेपर जगत्का आच्छादन करता है ॥१६॥

आच्छादनं पन्नगस्यादर्शनापादनं मतम् ।
आच्छादनं च जगतोऽदर्शनापादनं स्थितम् ॥१७॥

सर्पका आच्छादन सर्पका अदर्शन ही है। वैसे जगत्का भी आच्छादन जगत्का अदर्शन है ॥१७॥

आच्छन्ने पन्नगे नैव पन्नगो वस्तुतः स्थितः ।
आच्छन्नायां संसृतौ च संसृतिर्नैव तिष्ठति ॥१८॥

सर्पके आच्छादित होनेपर वस्तुतः सर्प रहता ही नहीं और संसारके भी आच्छन्न होने पर संसार भी नहीं रहता ॥१८॥

असर्पा रज्जुरेकैव निर्भया शिष्यते तदा ।
अद्वैतः केवलश्चेशः सदानन्दोऽवशिष्यते ॥१९॥

सर्पाच्छादन होनेपर सर्परहित एक रज्जुमात्र अवशिष्ट रहती है। भयकारण सर्पके न होनेसे अभय हो जाता है और अद्वैत जगत्का आच्छादन होने पर केवल अद्वैत ईश ही रह जाता है। वह सत् आनन्दरूप ही परिशिष्ट होता है ॥१९॥

संसारदुःखनिर्मग्नैर्मुमुक्षुभिरतो बुधैः ।
ईशावास्यमिदं सर्वमाच्छाद्यं सकलं जगत् ॥२०॥

जो संसार दुःखमें मग्न हैं, इससे मुक्त होना चाहते हैं, परम आनन्द

किम् ? इदं सर्वं यत्किंच = यत्किंचिज्जगत्यां = पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्मनाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणा-नृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना ।

करना चाहिए। किसका आच्छादन करना चाहिए ? इन सबका आच्छादन करना चाहिए जो भी कुछ इस जगती यानी पृथ्वीमें चराचरात्मक जगत् है। अन्तरात्मभावसे निजआत्मस्वरूप ईश्वरके द्वारा "मैं ही यह सब हूँ" इस प्रकार परमार्थ सत्यरूपसे मिथ्यारूप चराचरात्मक समस्त वस्तु का आच्छादन करना चाहिये जो अपना परम आत्मस्वरूप है।

प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए अतः यही कर्तव्य है कि ईशसे जगत्का आच्छादन करें।

❀ यत्किं च जगत्यां जगत् ❀

जगत्यां जगदित्येतदौपलक्षणिकं वचः ।
नामरूपात्मकं सर्वं जगदत्र विवक्षितम् ॥२१॥

'जगत्यां जगत्' यह नामरूपात्मक समस्त जगत्का उपलक्षण है ॥२१॥

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः ।
नित्यप्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वरः ॥२२॥

अतएव बन्धमोक्षविकल्पादि सबका निषेधकर एकमात्र परमेश्वरको "न बन्धोऽस्ति" इत्यादि वचन कहता है ॥२२॥

नन्वीशज्ञानतो वास्यं नेशा वास्यमिदं जगत् ।
मैवं ज्ञानस्वरूपत्वादीशस्येति न हि क्षतिः ॥२३॥

पूर्वपक्ष—ईशसे नहीं, ईशज्ञानसे जगत् आच्छाद्य है। उत्तर—ईश्वर स्वयं ज्ञानस्वरूप है। अतः ईश कहने ही से ज्ञान सिद्ध होता है ॥२३॥

अनावृता भवेद्या चित् सैव ज्ञानमितीरिता ।
अनावृतं हि चैतन्यं व्यज्यतेऽत्रेशशब्दतः ॥२४॥

अनावृत चित् ही ज्ञान है और यहाँ ईश शब्दसे अनावृत चैतन्यकी ही अभिव्यञ्जना है ॥२४॥

अत एव विधिश्चात्र न ज्ञाने वासनेऽपि वा ।
तत्त्वोपदेश एवायमित्यानन्दगिरिर्जगौ ॥२५॥

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाच्छाद्यते स्वेन परमार्थिकेन गन्धेन तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्-द्वैतरूपं, जगत्यां-पृथिव्यां, जगत्यामित्युपलणार्थत्वात् सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् ।

जिस प्रकार जलादि सम्बन्धसे गीला होकर और ऊपर सड जानेसे चन्दन अगर आदिमें आई हुई दुर्गन्धि पत्थर आदि पर घिसने पर स्वाभाविक सुगन्धके प्राकट्यसे ढक जाती है वैसे ही आत्मामें अध्यस्त अनादिसिद्ध कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि द्वैतरूप जगत् यानी नाम-रूप-कर्मात्मक समस्त विकारसमुदाय परमार्थसत्यस्वरूप आत्माकी भावनासे आच्छादित अर्थात् त्यक्त हो जाता है 'जगत्यां' यह उपलक्षण होनेसे नाम-रूप-कर्मात्मक समस्तविकार समुदाय अर्थका लाभ होता है ।

अतएव न ज्ञानमें विधि है और न आच्छादनमें ही । यह तत्त्वोपदेशमात्र है ऐसा आनन्दगिरिने कहा ॥२५॥

अत्रानावरणे बीजं ज्ञानं वृत्त्यात्मकं हि यत् ।
तत्कारणे विचारादौ विधिर्मध्याधिकारिणाम् ॥२६॥

अनावृत चैतन्यरूपी ज्ञानमें अनावरणकारण वृत्तिरूप ज्ञान है, उसका कारण विचारादि है । मध्यमाधिकारियोंके प्रति उसीका यहाँ विधान है ॥२६॥

चिराज्जलादिपतितं चन्दनं क्लेदनावितः ।
दुर्गन्धि तत् स्वरूपस्थं घर्षणादिवशाद्भवेत् ॥२७॥
स्वरूपगन्धे संभूते दुर्गन्धस्तु पिधीयते ।
एवमात्मस्वरूपेण जगदेतत् पिधीयते ॥२८॥

बहुत समयसे मैले जलमें पड़ा हुआ चन्दन गीला हो जानेसे दुर्गन्धवाला हो जाता है । वह स्वरूपस्थ तभी होता है जब घिसा जाता है । स्वरूपगन्धके प्रकट होते ही दुर्गन्ध आच्छादित हो जाती है । वैसे आत्मस्वरूप प्रकट होनेसे जगत् भी आच्छादित होता है ॥२७-२८॥

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्यैषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु ।

इस प्रकार 'परमेश्वर ही आत्मा है' ऐसी भावना वाले पुरुषका पुत्र-वित्त-लोक विषयक त्रिविध एषणाओंके संन्यासमें ही अधिकार है, कर्ममें नहीं ।

वास्यः स्वरूपगन्धेन दुर्गन्ध इति बोधिते ।
विधेयस्तेन वाक्येन न गन्धो नापि वासनम् ॥२९॥

किन्तु घर्षणमेव स्यात्स्वगन्धव्यञ्जकं हि यत् ।
गन्धस्य पूर्वसिद्धत्वात् स्वतो दुर्गन्धवासनात् ॥३०॥

एवमीशा जगद् वास्यमित्येवमिह बोधिते ।
विधेयस्तेन वाक्येन न ज्ञानं नापि वासनम् ॥३१॥

किन्तु तत्र विचारादिरात्माभिव्यञ्जकस्तथा ।
तमेतमर्थसिद्धार्थं निगदन्ति मनीषिणः ॥३२॥

चन्दनकी अपनी सुगन्धिसे दुर्गन्ध दूर करो कहने पर वाक्यसे न तो सुगन्धका विधान होता है और न दुर्गन्ध दूर करनेका। क्योंकि सुगन्ध स्वतः सिद्ध है। और सुगन्धि प्रकट होने पर विना मेहनत अपने आप ही दुर्गन्धि दूर होगी। अतः वहाँ सुगन्धको प्रकट करने वाला घर्षणादि ही विधेय होता है। इसी प्रकार ईश्वरसे जगत्का आच्छादन करो कहने पर न तो ज्ञान (अभिव्यक्त चेतन) विधेय होता है और न आच्छादन ही। किन्तु ईश्वराभिव्यञ्जनकारण विचारादि ही विधेय होता है। इसीको विद्वान् लोग अर्थसिद्धार्थ कहते हैं ॥२९-३२॥

ब्रह्मात्मभावनाद्यात्मविचारेण युतस्य च ।
एषणात्रयसंन्यासे ह्यधिकारो न कर्मसु ॥३३॥

'ईशावास्यं'से अर्थतः विधेयरूपेण प्राप्त ब्रह्मात्मैक्यभावनादिरूप विचार करने वालेके लिये एषणात्रयसंन्यास (पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकेषणाके सन्यासमें) ही अधिकार है कर्ममें नहीं ॥३३॥

अधिकारो हि तज्जन्यफलसम्बन्ध उच्यते ।
न तु तत्स्वामितामात्रं तदपह्नुत्यसंभवात् ॥३४॥

यहां अधिकारका अर्थ है—तज्जन्यफलसम्बन्ध। न कि 'हक'। कर्म करनेका 'हक' नहीं यह बात नहीं कही जाती। अगर वह कर्म करे तो कोई रोक नहीं सकता। परन्तु ब्रह्मात्मभावनासे शरीरात्मभाव कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि भाव न होनेसे किया गया कर्म भी फलदायी नहीं होता। कर्मसंन्यासमें अधिकार इसलिये है कि तज्जन्य आत्मरक्षादि फल त्यागीको प्राप्त होता है ॥३४॥

देहात्मभावना कर्म कुर्वाणस्य बलाद्भवेत्।
ब्रह्मात्मभावना तेन द्रढिमानं न संभजेत् ॥३५॥

कर्मजन्य फलका सम्बन्ध न हो, फिर भी कर्म करते रहनेमें क्या हानि? जनकादि तो कर्म करते रहे, इस पूर्वपक्षका समाधान है कि ब्रह्मा-त्मभावना करनेवाला साधक यदि कर्ममें प्रवृत्त हो जाय तो कर्तृत्व-भावनाको भी लाना होगा, तब देहात्मभावना भी रखनी पड़ेगी। फलतः ब्रह्मात्मभावना दृढ़ नहीं होगी। जनकादि तो सिद्ध हो चुके थे। दृढ़ ज्ञान हो जानेके बाद कर्म करो या न करो कोई फरक नहीं पड़ता। "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेन" यह गीतावचन प्रसिद्ध है ॥३५॥

भावनादार्ढ्यहीनस्य न ज्ञानमुपजायते।
तस्मात् संन्यास एवात्र प्रकर्तव्यो मुमुक्षुभिः ॥३६॥

भावना दृढ़ नहीं होगी तो ज्ञान होना कठिन है। इसलिये मुमुक्षुओंके लिये तो सन्यास ही कर्तव्य है ॥३६॥

ननु संन्यासविषयविधिश्च कथमाञ्जसः।
विधौ विधेयकर्तृत्वं बलादापतीति चेत् ॥३७॥

पूर्वपक्षः—ब्रह्मात्मभावना करनेवालोंके प्रति संन्यासविधि भी कैसे संभव है? विधि माननेपर विधेयके प्रति कर्तृत्व भी उपस्थित होगा ॥३७॥

कण्टकेनेव निःसार्यः कण्टको हीति नीतितः।
संन्यासकर्तृता सर्वकर्तृत्वं विनिवर्तयेत् ॥३८॥

उत्तरः—कांटेसे कांटेको निकालना चाहिये यह न्याय है। द्वितीय कांटा इसलिये नहीं गड़ा जाता है कि उसको पांवमें फँसाकर रखो। किन्तु प्रथम कांटेको भी निकालना है और दूसरेको तो फेंकना है ही। इसी प्रकार संन्यासकर्तृत्व लाकर अन्य समस्त कर्मकर्तृत्व निकाल दिया जाता है और अन्तमें संन्यासकर्तृत्वभाव भी निकाला जाता है ॥३८॥

तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः ।

मन्त्रमें त्यक्तपदका त्याग अर्थ है ।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥३९॥

संन्यासकर्तृभावेन येन त्यजसि कर्म तम् ।
संन्यासकर्तृभावं च त्यजेति हि तदाशयः ॥४०॥

यही बात महाभारतादिमें भी कहा—धर्म अधर्म सत्य एवं अनृतादिको छोड़ो और जिससे इनको छोड़ते हो उसको भी छोड़ो। इस वचनमें अन्य सबको छोड़नेमें कारणीभूत संन्यास या संन्यासकर्तृभावको भी छोड़नेका निर्देश स्पष्ट है ॥३९-४०॥

ब्रह्मात्मभावनायां हि कर्तृत्वादिविमर्दनात् ।
संन्यासोऽप्यर्थतः प्राप्तः प्रकृते विधिगोचरः ॥४१॥

जहां ब्रह्मात्मभावना होती है वहाँ कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविमर्दन होना आवश्यक है। अतएव संन्यास भी अर्थतः प्राप्त होनेसे प्रकृत विधि-विषय है ॥४१॥

तेन त्यक्तेन

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्येषा त्यागसंस्तुतिः ।
पृथक् फलं हि नाङ्गस्य स्तुत्या च विधिकल्पनम् ॥४२॥

इत्याचार्यवरो व्याख्यदानन्दगिरिरत्र तु ।
एषणात्रयसंन्यासपरं त्यक्तपदं विदन् ॥४३॥

आचार्यप्रवर आनन्दगिरिने 'ईशावास्यसे' आर्थिक संन्यासविधि नहीं मानी। उन्होंने बताया कि 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह संन्यासकी स्तुति है। क्योंकि संन्यास अङ्ग है। अङ्गका पृथक् फल नहीं होता। और यहाँ भुञ्जीथाः ऐसा फल बताया है। अतः यह स्तुति है। 'यः स्तूयते स विधीयते' इस न्यायसे स्तूयमान संन्यासकी विधिकी कल्पना की जाती है। श्री आनन्दगिरिका आशय है कि यहाँ त्यक्तपदका एषणात्रय संन्यास अर्थ है ॥४२-४३॥

न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसंबन्धिताया
त्यक्त या मृत चाहे पुत्र हो चाहे भृत्य स्वसंबन्धी न होनेसे स्वरक्षक नहीं

परे तु वास्यमाच्छाद्यं त्याज्यं बाध्यं जगत् समम् ।
तेन त्यागेन बाधेन स्वात्मरक्षां श्रुतिर्जगौ ॥४४॥

अन्य आचार्य कहते हैं :—वास्य-आच्छाद्य त्याज्य और बाध्य ये सब यहाँ एकार्थक हैं । उस त्यागसे आत्मरक्षा करोका अर्थ है जगत्के बाधसे आत्मरक्षा करो । इन आचार्योंके मतमें त्यक्तका एषणात्रय संन्यास अर्थ न होनेसे यह संन्यासस्तुति नहीं हो सकती । अतः ईशावास्यंसे ही अर्थाक्षिप्त संन्यासविधि मानना चाहिये ॥४४॥

अवास्यापास्यशब्दौ द्वाववमानापमानवत् ।
अपास्यं त्याज्यमित्यर्थो बाध्यमित्यपि केचन ॥४५॥

ईशा अवास्यं ऐसा पदच्छेद करो । अवास्यका अपास्य अर्थ है । जैसे अवमान अपमान समानार्थक है । अपास्यका त्याज्य अर्थ स्पष्ट है । उसका भी बाध्य अर्थमें पर्यवसान है (इस मतमें भी 'त्यक्तेन यह पूर्वोक्त बाधका परामर्शक है) ॥४५॥

णिजन्तावासयतितो जन्मस्थितिलया इह ।
आर्थिका ईश्वराधीना इति वाक्चतुरा जगुः ॥४६॥

आङ्पूर्वक णिजन्त वस धातुका 'आवासयितुं योग्यं' इस अर्थमें आवास्यं रूप है । ईश्वर जगत्को वसाता है इस कथनसे जैसे गृहको वसानेवाला गृहको बनाता है, रक्षा भी करता है, जरूरत पड़नेपर तोड़ भी लेता है वैसे ईश्वर भी जगतको उत्पन्न करता है, रक्षा करता है, संहार करता है ऐसा आर्थिक अर्थ प्राप्त होता है; इस प्रकार भी यहाँ वाक्चतुरोंकी व्याख्या है । (वस्तुतः निरुपाधिक सर्वसामर्थ्यमें ही ये सब अन्तर्गत होनेसे ईशापदसे ही इतना अर्थ प्राप्य है । अतएव आवास्यंसे ऐसा खींचातानी कर अर्थ निकालना केवल वाक्चतुरता ही है) ॥४६॥

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथास्त्यागेन, क्तोऽत्र भाववाक् ।
न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो भृत्यो वा स्वात्मरक्षकः ॥४७॥

'तेन त्यक्तेन' यहाँ 'नपुंसके भावे क्तः' इस सूत्रसे भावमें क्त प्रत्यय है । त्याग यहाँ त्यक्तपदका अर्थ है । त्यक्त पुत्र या मृत भृत्य भला हमारी रक्षा क्या करेगा । अतः त्याग ही यहां वेदार्थ है ॥४७॥

अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः। भुञ्जीथाः पालयेथाः।

हो सकता। अतः त्यागसे रक्षा करो यही वेदार्थ है। भुञ्जीथाः का पालन (रक्षा) करो अर्थ हे।

त्यक्तेन लक्षित इति केचिद् व्याचक्षते बुधाः।
तदसत्तदसम्बन्धान्नोपलक्षणतापि यत् ॥४८॥

त्यक्तेन जगता लक्षितः ऐसा कुछ लोग अर्थ करते हैं। परन्तु लक्षित की वात दूर, त्यक्तसे उपलक्षित भी नहीं होता। त्यक्तके साथ सम्बन्ध ही संभव नहीं। जव संवन्ध था तव त्यक्त नहीं था। और त्यक्त हुआ तो सम्बन्ध नहीं रहा। त्यक्तका अर्थ ही संबन्धध्वंस है। अतः त्यक्तके साथ संवन्ध कभी भी संभव न हनेसे उपलक्षण भी असंभव है ॥४८॥

तेनेश्वरेण सहित इत्यप्यर्थो न युज्यते।
अध्याहारान्निष्फलत्वाल्लक्षणापत्तितस्तथा ॥४९॥

'तेन' का ईश्वरके साथ रहते हुए ऐसा अर्थ कुछ लोग करते हैं, वह उचित नहीं। सहार्थमें तृतीया माननेपर भी रहते हुए इतना अध्याहार करना ही पड़ेगा। अध्याहार करके अर्थ लगानेपर अपनी मर्जीसे कहीं भी कुछ भी अर्थ किया जा सकता है। और ईश्वरके साथ सभी रहते हैं, ईश्वरके बिना कौन रहेगा। फलतः व्यर्थ विशेषण भी होगा। उसके वारणके लिये फिर लक्षणा करनी पड़ेगी—ईश्वरका स्मरण करते हुए इत्यादि। परन्तु यह सब वेदार्थ लगानेकी पद्धति नहीं है ॥४९॥

भुञ्जीथाः

भुञ्जीथाः पालयेथाः स्वमात्मानं न तु घातय।
असुर्यलोकगमनं वक्ष्यामो ह्यात्मघातिनः ॥५०॥

'भुञ्जीथाः' का अर्थ है आत्मरक्षा करो। ऐसा अर्थ कैसे निकल आया? इसका समाधान यह कि तृतीय मन्त्रमें आत्मघाती असुर्य लोकमें जायेंगे ऐसा बताया जाएगा। उसका प्रतियोगी आत्मरक्षण प्रथम मन्त्रमें अर्थप्राप्त है ॥५०॥

प्रयुञ्जाना भगवती मध्यमं पुरुषं श्रुतिः।
आचार्यवचसाऽऽहाऽर्थमाचार्यावश्यकत्वतः ॥५१॥

आचार्यवान् पुमान् वेदेत्यन्यत्र च जगौ श्रुतिः।
न ह्यन्यथा भवेज्ज्ञानमित्येकेऽत्र बभाषिरे ॥५२॥

'भुञ्जीथाः' यह मध्यम पुरुष प्रयोगका तात्पर्य है कि यहाँ श्रुति आचार्य वाणीसे बोल रही है। अर्थात् आचार्यसे ही श्रवण करना चाहिये यह सूचित करती है। उसके बिना ज्ञान नहीं हो सकता ॥५१-५२॥

त्यागेन भोगं कुर्वीया इति केचिदिहावदन्।
तन्न, भोगस्य हेतुर्न त्यागः किन्त्वर्थसंग्रहः ॥५३॥

त्यागसे भोग करो ऐसे कुछ लोग अर्थ करते हैं। सोचनेकी बात है कि त्यागसे भोग सम्पन्न होता है? कि अर्थ संग्रहसे? ॥५३॥

रागतः प्राप्तभोगश्च न विधेयः कथंचन।
तथा चानर्थकं वाक्यमिदं हन्त प्रसज्यते ॥५४॥

दूसरी बात-भोग करो ऐसी विधि व्यर्थ है। रागसे ही भोगमें सबकी प्रवृत्ति होती है। अतः वेदवाक्य ही निरर्थक हो जाएगा ॥५४॥

नन्वत्र करणार्थे न तृतीया भण्यते मया।
सहार्थे किन्तु सा भोगं कुर्वीथास्त्यागपूर्वकम् ॥५५॥

तत्र भोगस्य संप्राप्तेस्त्याग एव विधीयते।
अनूद्य होमं दध्यादिविधानमिव कर्मिणाम् ॥५६॥

पूर्वपक्षः—'त्यक्तेन' यह करणतृतीया नहीं, किन्तु सहार्थमें तृतीया है। त्यागपूर्वक भोग करो ऐसा अर्थ है। उसमें भी भोग रागतः प्राप्त होनेसे त्याग मात्रका विधान है। जैसे "दध्ना जुहोति" यहाँ होमका अनुवादमात्र है, विधान दधिका है ॥५५-५६॥

नैवं सर्वपरित्यागे भोगो नैव प्रकल्पते।
वाच्योऽतः संविभागोऽत्र स नित्यः काम्य एव वा ॥५७॥

आद्ये तस्याननुष्ठाने प्रत्यवायः प्रसज्यते।
सर्वदा त्यागपूर्वत्वं भोगानां खल्वसंभवि ॥५८॥

अन्नमात्रविभागस्तु ये पचन्त्यात्मकारणात्।
इत्यत्रोक्तो न सर्वेषां भोगानामिति हि स्थितिः ॥५९॥

उत्तरः—निरुपाधिक त्यागसे यदि सर्वत्याग विवक्षित है तो भोग संभव ही नहीं। अतः यहाँ संविभाग ही अर्थ कहना होगा। वह संविभाग नित्य है या

काम्य ? ऐसा प्रश्न उठेगा। यदि नित्य है तो संविभागमें कहीं चूक गये तो प्रत्यवाय लगेगा। और यह संभव नहीं कि सभी भोग संविभाग करके ही भोगा जाय। यद्यपि गीतामें "ये पचन्त्यात्मकारणात्" इत्यादिमें प्रत्यवाय बतलाया है। परन्तु वहाँ पचन्ति शब्द केवल अन्नविषयक है। सर्वभोग-विषयक नहीं ॥५०-५९॥

अध्याह्रियेत चेदन्नं गौरवं ते प्रसज्यते।
न हि प्रकरणात् प्राप्यमन्नं नाप्यर्थतोऽत्र हि ॥६०॥

यदि अन्नं भुञ्जीथाः ऐसा अध्याहार करें तो गौरव होगा। न तो यहाँ प्रकरणसे अन्न प्राप्य है और न अर्थतः ही ॥६०॥

किं च नित्यानि कर्माणि कुर्वन्नेवेति वक्ष्यते।
किमर्थमिह वक्तव्यमन्नत्यागादि तादृशम् ॥६१॥

यदि "भुज पालनाभ्यव्यवहारयोः' इस स्मृतिशासनसे अन्नभक्षण भी अर्थ मान लिया जाय और "तैर्दत्तानप्रद्रायैभ्यो यो भुङ्क्ते" के अनुसार देवताद्यर्पण यहाँ त्याग पदका अर्थ स्वीकार किया जाय तो भी द्वितीय मन्त्रमें नित्यनैमित्तिकादि कर्मोंका प्रतिपादन कुर्वन्नेवसे करना है उसमेंसे केवल देवतार्थ अन्नदानमात्रको यहाँ कहना अनुपयुक्त है ॥६१॥

संनिधेर्ज्ञानफलकं काम्यं कर्मेति चेन्मतम्।
तथापि साधनहृतेर्ज्ञानं स्यात्खसुमायितम् ॥६२॥
कादाचित्कविभागस्तु प्रायः सर्वैर्विधीयते।
न संविभज्यतेऽन्नं किं सुतादौ कुक्कुटादिभिः ॥६३॥

यदि कहा जाय कि यह काम्य कर्म है, इसका फल संनिहितोक्त ज्ञान ही है तो उसपर यह प्रश्न होगा कि सर्वदा संविभाग विवक्षित है या कदा-चित् ? सर्वदा संविभाग तो असंभव है। कदाचित् विभाग तो सभी करते हैं। क्या मुर्गी अपने बच्चोंको अन्न खाते समय नहीं बाँटती ? ॥६२-६३॥

ईशावास्यमिदं सर्वमित्येकं वाक्यमिष्यते।
यत्किं चेत्यादि भुञ्जीथा इत्यन्तमपरं तथा ॥६४॥
इति केचिदिहाचख्युः कर्माध्याहारभीरवः।
तन्न युक्तं, जगत्सर्वं केन भोक्तुं हि शक्यते ॥६५॥
त्यक्तेनेति तृतीयान्तं कथं जगति चान्वियात्।
प्रकारार्थे तृतीया च नैवाऽभेदस्थले क्वचित् ॥६६॥

ईशा वास्यमिदं सर्वं यह एक वाक्य है। यत्किंच जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः यह दूसरा वाक्य है। इस प्रकार जगत् कर्म होनेसे कर्माध्याहार नहीं करना पड़ेगा। ऐसी व्याख्यामें सारे जगतको भला भोगेगा कौन? त्यक्तेन इस तृतीयान्तका द्वितीयान्त जगत्के साथ कैसे अन्वय? ॥६४-६६॥

त्यक्तेनेशप्रदत्तेन प्रसादविधया हरेः।
इत्यप्यसद् यतो नेशादत्तं किंचन विद्यते ॥६७॥
प्रसादाद्यर्थलाभश्च लक्षणादिसमाश्रयः।
तस्माद्यथोक्त एवार्थो ज्ञेयो ज्ञानप्रसङ्गतः ॥६८॥

तेन त्यक्तेनका ईश्वरके द्वारा दत्त ऐसा अर्थ है। प्रसादके रूपमें भोग करो यह तात्पर्य है। यह भी असंगतार्थ है। कौनसी ऐसी वस्तु है जो ईश्वरदत्त नहीं है? जिसकी व्यावृत्ति ईश्वरदत्तेनसे की जा रही है। प्रसाद इत्यादि अर्थ तो लक्षणासे ही प्राप्य है। कर्मकाण्डके बाद यह ज्ञानकाण्ड शुरू हुआ है। अतः तदनुकूल अर्थ ही यहाँ करना उचित है। अतः बच्चोंको जैसे बूढ़े लोग बोलते हैं कि 'बाँटके खाना' इत्यादि, वैसा अर्थ कोई अपूर्वार्थ न होनेसे श्रुत्यभिप्रेत नहीं है। पूर्वोक्त आत्मरक्षार्थ ही सम्यक् है ॥५७-६८॥

नन्वात्मनेपदं नैव घटतेऽवनतत्परे।
भुजोऽनवन इत्याह भगवान् पाणिनिर्मुनिः ॥६९॥

पूर्वपक्षः—भुञ्जीथाः का रक्षा करो अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि "भुजोऽनवने" इस सूत्रसे रक्षाभिन्न अर्थमें ही आत्मनेपद होता है ॥६९॥

नैवं ध्वंसादितो रक्षाविवक्षायां हि शासनम्।
यत्रौपमिकरक्षार्थस्तत्र स्यादात्मनेपदम् ॥७०॥

उत्तरः—ध्वंसादिसे जहाँ रक्षाकी विवक्षा है वहीं आत्मनेपदनिषेध होता है। औपमिक रक्षास्थलमें आत्मनेपद हो ही जायेगा ॥७०॥

मा नाशयान्नं भुङ्क्ष्व त्वं पुत्रकेत्यवनार्थतः।
प्रयुक्तेऽप्यात्मनेभाषा दृश्यते लौकिके पदे ॥७१॥

अन्नको नष्ट न करो, खाकर उसकी रक्षा करो इस अर्थविवक्षामें आत्मनेपद देखा जाता है ॥७१॥

अनानन्दात्मना स्वात्मदर्शनं स्वात्मनाशनम्।
आनन्दसाक्षात्करणं भोगो रक्षणलक्षणः ॥७२॥

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः-गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धन-विषयाम् । कस्यस्विद्धनं—कस्यचित् परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः । अथवा मा गृधः, कस्मात् ? कस्यस्विद्धनम् इत्याक्षेपार्थः, न कस्यचिद्धनमस्ति यद्

इसप्रकार एषणापरित्याग करनेवाले तुम किसीके धनकी आकांक्षा मत करो । न परार्थं धनकी और न अपने धनकी ही आकाङ्क्षा करो । ऐसा यहाँ अर्थ है । मन्त्रमें 'स्वित्' यह अर्थरहित निपातपद है ।

अथवा मा गृधःका ही अर्थ है धनविषयक इच्छा न करो । क्यों न करें ? इस जिज्ञासामें आक्षेपरूपेण उत्तर है—किसका धन है ? किसके पास धन नामकी वस्तु है ? किसीके पास नहीं है, जिसकी आकाङ्क्षा की

वस्तुतः दुःखीके रूपमें आत्माको देखना ही आत्मनाशन है । क्योंकि स्वतः आत्मा दुःखी नहीं, आनन्दरूप है। और आनन्दरूपसे देखना ही भोग और रक्षा है । 'सुखसाक्षात्कारो भोगः' यह भोगलक्षण भी इसमें सम्पन्न है और रक्षण भी शामिल है ॥७२॥

मोक्षस्य पुरुषार्थत्वं परिसूचयितुं श्रुतिः ।
भोगार्थेनाब्रवीद्रक्षामनुपेक्ष्यां शिशासिषुः ॥७३॥

मोक्षको पुरुषार्थ सूचित करनेके लिये भुजधातुका प्रयोग किया । रक्षा अर्थ इसलिये कहा कि वह अनुपेक्ष्य है । नाशसे बचना सबके लिये अभीष्ट है ॥७३॥

मा गृधः कस्यस्विद्धनम्

त्यक्तैषणो भविष्यंश्च मा गृधः कस्यचिद्धनम् ।
न स्वस्य न परस्यापि मिथ्याभूतं धनं खलु ॥७४॥

एषणात्रयसंन्यास करते हुए प्रथम किसीके धनकी अभिलाषा न करो, चाहे वह अपना हो चाहे पराया, आखिर वह मिथ्या ही तो है । शुक्ति-रजतकी भला कौन अभिलाषा करता है ॥७४॥

अथवा मा गृधः किंचित्कस्य तावद्धनं खलु ।
सर्वमात्मैव तस्मान्न कस्यचित्किंचिदेव हि ॥७५॥

गृध्येत। आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तम्, अत आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सवमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कर्षीरित्यर्थः ॥ १ ॥

जाय। यह समस्त वस्तु आत्मा ही है ऐसी ईश्वरभावनासे सब कुछ छोड़ (बाध) दिया, अतः जो कुछ है वह आत्माका ही स्वरूप है, आत्मा ही है। अतः आत्मभिन्नत्वेन प्रतीयमान मिथ्या धनादिविषयक अभिलाषा न करो ऐसा यहाँ अर्थ है ॥१॥

अथवा मा गृधः यह एक वाक्य है। अभिलाषा मत करो। कस्यस्विद्धनम् यह दूसरा वाक्य है। धन किसका है ? किसीका नहीं। सभी आत्मा ही है इसलिये न कोई किसीका है ॥७५॥

वित्तं मे स्यादथो कर्म कुर्वीयेति श्रुतत्त्वतः।
कर्मसंन्यासतात्पर्या धनगर्धनिषेधगीः ॥७६॥

"अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय" ऐसी श्रुति है। धन कर्मार्थ है। अतएव धनेच्छानिषेधका कर्मसंन्यासविधानमें तात्पर्य है ॥७६॥

त्यक्तैषणस्त्वं मा देहधारणौपयिकात् परम्।
वस्तु रागेण गृह्णीया इति नैयमिको विधिः ॥७७॥

अयं रागनिरोधार्थं इत्येवमपरे जगुः।
रागान्मा भूत्प्रवृत्तिर्हि परित्यक्तपरिग्रहे ॥७८॥

मा गृधः इत्यादिको श्री आनन्दगिरिस्वामीने नियमविधि माना है। संन्यासी देहधारणोपयोगी कौपीनाच्छादनादिसे अतिरिक्त किसी भी वस्तुको रागपूर्वक ग्रहण न करे। रागसे त्यक्तका पुनः परिग्रह न हो एतदर्थं राग-निरोध करना चाहिये यह श्रुतितात्पर्यार्थ है ॥७७-७८॥

॥ इति प्रथममन्त्रभाष्यवार्तिकम् ॥

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनाऽऽत्मज्ञाननिष्ठतयाऽऽत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः। अथेतरस्यानात्मज्ञतयाऽऽत्मग्रहणाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः—कुर्वन्नेवेति।

इसप्रकार जो आत्मवेत्ता है वह पुत्रादिविषयक त्रिविध एषणात्यागसे आत्मज्ञाननिष्ठ होकर आत्मरक्षण करे यही वेदार्थ हुआ। अब जो अनात्मज्ञ होनेसे आत्माका ग्रहण करनेमें असमर्थ है उसके लिये मन्त्र यह उपदेश दे रहा है—

यथा निघर्षणाद् गन्धश्चान्दनः पारमार्थिकः।
प्रकटीभूय　दौर्गन्ध्यमौपाधिकमपास्यति॥१॥

प्रादुर्भूतं तथा स्वीयं स्वरूपं पारमार्थिकं।
औपाधिकं　जगदिदमपास्येदित्युदीरितम्॥२॥

जिस प्रकार घिसनेसे चन्दनकी पारमार्थिक सुगन्ध प्रकट होकर औपाधिक दुर्गन्धको मिटा देती है उसी प्रकार पारमार्थिक स्वरूप प्रकट होनेपर औपाधिक जगत्को मिटा देगा, यह पूर्वमन्त्रमें कहा॥१-२॥

दृष्टान्ते घर्षणं प्रोक्तं दार्ष्टान्तिकविधा पुनः।
एषणात्रयसंन्यासपूर्वाऽऽत्मज्ञाननिष्ठता॥३॥

तथा निजस्वरूपस्य स्फुरणे स्वात्मरक्षणम्।
अयं चाशेषवेदार्थो महातात्पर्यगोचरः॥४॥

दृष्टान्तमें घर्षण है। दार्ष्टान्तिकमें एषणात्रयसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठता है। उससे आत्मस्वरूपका स्फुरण होनेपर आत्मरक्षा-मोक्ष होता है। यही समस्त वेदोंका परमतात्पर्यविषय है॥३-४॥

तत्रापि कारणं बोध्यं परोक्षो दृढनिश्चयः।
अन्यथा स्वात्मनिष्ठापि कथंचिन्नोपजायते॥५॥

उस आत्मनिष्ठामें भी परोक्ष दृढ़ निश्चय कारण है॥५॥

येषां पुनर्दृढं ज्ञानं परोक्षं च न विद्यते।
नैव संभाव्यते तेषामात्मनिष्ठा प्रबोधभूः॥६॥

जिनको दृढ़ परोक्षज्ञान भी नहीं है उनको साक्षात्कारकारण आत्मनिष्ठाकी कोई संभावना नहीं रहती॥६॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

कर्मोंको करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करें। इसप्रकारके जीवनेच्छुक तुम मनुष्यमें कर्मका लेप नहीं होता। और इसके लिये कोई दूसरा प्रकार (मार्ग) नहीं है ॥२॥

कुर्वन्नेव—निर्वर्तयन्नेव इह कर्माणि अग्निहोत्रादीनि जिजीविषेद्—जीवितुमिच्छेत् ।

अग्निहोत्रादि कर्म संपादन करते हुए ही सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करें।

तैरज्ञैः किं प्रकर्तव्यं न पतेयुर्यतो हि ते ।
इत्येतदर्थं मन्त्रोऽयं द्वितीयः संप्रवर्तते ॥७॥

उन अज्ञानियोंके लिये क्या करना चाहिये जिससे कि उनका पतन न हो एतदर्थं यह द्वितीय मन्त्र है॥७॥

केचित्तु कर्मसंन्यासे कर्मकाण्डं वृथा भवेत् ।
इत्याशङ्कामपाकर्तुमज्ञानां तदुदीर्यते ॥८॥

दूसरे लोगोंकी व्याख्याः—कर्मसंन्यास ही करना है तो उनतालीस अध्यायोंमें प्रतिपादित कर्मकाण्ड वृथा होगा। इस शंकाको दूर करनेके लिये अज्ञोंके लिये कर्मविधान यहाँ वताया जा रहा है ॥८॥

जिजीविषेदिति वचो ह्यज्ञस्य परिसूचकम् ।
न जीविते मृतौ वापि गृधिं कुर्वन्ति पण्डिताः ॥९॥

'जिजीविषेत्' से अज्ञानीका सूचन है। क्योंकि ज्ञानी जीवन या मरणमें अभिलाषा नहीं करते। 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्यादरण्यमियात्' इत्यादि वचन है ॥९॥

कुर्वन्ने०

नित्यनैमित्तिकादीनि कर्माणि विविधानि च ।
अकामं वा सकामं वा कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ॥१०॥

मन्त्रमें कर्माणि बहुवचनसे नित्यनैमित्तिक सन्ध्यावंदन तर्पणादि एवं अन्य विविध कर्म ये दोनों अर्थ विवक्षित हैं। उन्हें अकाम या सकाम भावसे करते हुए ही जीनेकी इच्छा करें ॥१०॥

अत्र निष्कामकर्माणि न सकामानि केचन।
तत्र तु प्रतिवक्ष्यामो भाष्यावष्टम्भनाद्वयम् ॥११॥

यहाँ निष्काम कर्म ही विवक्षित है, सकाम नहीं ऐसा कुछ लोग कहते हैं, इस विषयमें हम आगे भाष्यके आधारपर कुछ कहेंगे ॥११॥

कुर्वन् परस्मैभाषेयमस्वार्थंफलबोधिनी।
समर्प्यं फलमीशायेत्याशयेत्यपरे जगुः ॥१२॥

कुर्वन् यह परस्मैपद परगामिक्रियाफलमें है। मतलब फल ईश्वरको समर्पण करना चाहिये, यह उसका आशय है, ऐसे कुछ लोग यहाँ व्याख्या करते हैं ॥१२॥

अत्र व्याचक्षते केचिच्छब्दव्याख्यानकोविदाः।
जिजीविषेच्छतं वर्षान् न जिघांसेत् कदाचन ॥१३॥

यहाँ कतिपय शब्दव्याख्यानपण्डित कहते हैं कि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा अवश्य रखें, मरनेकी इच्छा न करें ॥१३॥

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥१४॥

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥१५॥

रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥१६॥

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥१७॥

अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्।
इत्युक्त्वा भागवते कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ॥१८॥

निर्जीवसे सजीव श्रेष्ठ हैं, उनसे प्राणधारी, उनसे चित्तवाले, उनसे इन्द्रियवाले, उनमें भी स्पर्शज्ञानवाले, उनसे रसज्ञानवाले, उनसे गन्धज्ञानवाले, उनसे शब्दज्ञानवाले, उनसे रूपज्ञानवाले, उनसे दोनों तरफ दांतवाले उनमें अनेक पादवाले, उनसे चोपाये और उनसे दो पाँववाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं। उनमें भी वर्णाश्रमी, उनमें ब्राह्मण, ब्राह्मणोंमें वेदज्ञ, उनमें अर्थज्ञ, उनमें संशय दूर करनेवाले श्रेष्ठ हैं। उनमें भी स्वकर्म करनेवाला श्रेष्ठ

है। ऐसा भागवतमें कहा है। सारांश यह कि मनुष्यजीवन श्रेष्ठ होनेसे जीनेकी इच्छा करो और कर्मठ अतिश्रेष्ठ होनेसे कर्म करते हुए ही जीनेकी इच्छा करो यही वेदार्थ है ॥१४-१८॥

अपि चाहुः पर्वतादेः केवलान्नमयो भवेत्।
अन्नप्राणौ तु वृक्षादौ पश्वादौ तौ मनोऽपि च ॥१९॥

विज्ञानं च मनुष्येषु विशेषेणोपलभ्यते।
आनन्दस्तु विशेषेण देवादावेव वीक्ष्यते ॥२०॥

विज्ञानवत्त्वादन्येभ्यः पर्वतादिभ्य उत्तमम्।
न जिघांसेन्नरतनुं दुर्लभत्वाज्जिजीविषेत् ॥२१॥

और भी बातः—पर्वतादिमें केवल अन्नमयकी प्रधानता है। वृक्षादिमें अन्न प्राण दोकी, पशुआदिमें अन्न, प्राण और मन तीन की, मनुष्य शरीरमें अन्न, प्राण, मन और विज्ञानकी और देवताओंमें अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दकी प्रधानता है। विज्ञान विशेषरूपेण मनुष्योंमें है। अतएव यह पर्वतादि शरीरसे उत्तम है। उसकी हत्या करनेकी इच्छा मत करो दुर्लभ होनेसे जीनेकी इच्छा करो इस प्रकार जिजीविषेत् यह विधिवाक्य है ॥१९-२१॥

किन्तु भाष्यकृतो नात्र विधिं मन्त्रेऽनुमेनिरे।
प्राप्तत्वाज्जीवनेच्छाया अपूर्वत्वोक्त्ययोगतः ॥२२॥

मा न भूवं हि भूयासमिति कीटोपि वाञ्छति।
अतोऽपूर्वविधिर्नात्र कथंचिदुपपद्यते ॥२३॥

किन्तु भाष्यकारने जीवनेच्छामें विधि नहीं मानी। क्योंकि जीवनेच्छा प्राप्त होनेसे अपूर्व नहीं हो सकती। एक कीडा भी मैं न मरूँ ऐसी इच्छा करता है ॥२२-२३॥

इच्छायामेव सन्नत्र न तु संभावनादिषु।
मुख्यत्वात्तेन च प्राप्ता जीवनेच्छा ह्यनूद्यते ॥२४॥

जिजीविषेत्में सन् प्रत्ययका इच्छा ही अर्थ है संभावनादि नहीं। क्योंकि इच्छा उसका मुख्यार्थ है। जीवनेच्छा प्राप्त है अतः उसका यहाँ अनुवाद मात्र है ॥२४॥

शतं—शतसंख्याकाः समा—संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् । तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते ।

पुरुषकी पूर्ण आयु सौ वर्ष ही बतायी गयी है । वैसे भी जीनेकी इच्छा भी स्वतः प्राप्त है । उस प्राप्त जीवनेच्छाका अनुवादकर श्रुति यह विधान कर रही है कि जो शतवर्ष जीनेकी इच्छा रखते हैं सो कर्म करते हुए ही हो ।

ननु केचिज्जिघांसन्ति दुःखित्वादिवशान्निजम् ।
पक्षेऽप्राप्तां नियमयेद्विधिस्तस्माज्जिजीविषाम् ॥२५॥

पूर्वपक्षः—कुछ लोग दुःखी होकर आत्महत्या करना चाहते हैं । अतः पक्षमें अप्राप्त होनेसे यह नियमविधि है ॥२५॥

मैवं न नियमादृष्टं किंचिदत्रापलभ्यते ।
यथा तद् वीक्ष्यते व्रीहीनवहन्तीतिवाक्यतः ॥२६॥

उत्तरः—नियमविधि स्थलमें नियमादृष्ट होता है । जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' यहाँ कूटकर ही तुस निकलना चाहिये। तभी पुरोडाशादिसे हवन करने पर अदृष्ट होगा । इसप्रकार जीवनेच्छा रखनेसे क्या नियमादृष्ट होता है यह स्पष्ट नहीं है ॥२६॥

न चात्र परिसंख्या स्यात्तदाधिकजिजीविषा ।
भवेद् व्याकुपिता श्रौती भूयश्च शरदः शतात् ॥२७॥

यदि परिसंख्या विधि मानें अर्थात् सौ ही वर्ष जीनेकी इच्छा करो अधिक नहीं, तो श्रुतिविरोध होगा । 'जीवेम शरदः शतं' के बाद 'भूयश्च शरदः शतात्' कहा है । अर्थात् सौ वर्षसे भी हम अधिक जीयें ॥२७॥

शतशब्दोऽत्र संख्यार्थो न त्वनन्तार्थवाचकः ।
प्रायस्तावद्धि परममायुः श्रुत्यादिषूदितम् ॥२८॥

मन्त्रमें शतशब्द संख्यावाचक है अनन्तार्थ वाचक नहीं । श्रुतियोंमें मनुष्योंकी परमायु उतनी ही बतायी है ॥२८॥

इत्थं च शतवर्षीयां जीवनेच्छामनूद्य हि ।
कुर्वन्नेवेति कर्माणि विधत्तेऽज्ञानिनां श्रुतिः ॥२९॥

फलतः शतवर्षीय प्राप्त जीवनेच्छाका अनुवाद कर श्रुति यहाँ कुर्वन्नेवसे अज्ञानियोंके लिये कर्मविधान कर रही है ॥२९॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रायश्चित्तं तथैव च।
चतुर्विधानि कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ॥३०॥

नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा प्रायश्चित्त ये चार प्रकारके कर्म करते हुए ही जीना चाहिये ॥३०॥

नित्यैर्नैमित्तिकैश्चैव न किंचित्फलमुद्भवेत्।
प्रत्यवायो ह्यकरणाद् इति मैमांसकं मतम् ॥३१॥

इनमें नित्य और नैमित्तिकके करनेसे कुछ फल नहीं मिलता। फिर भी करना चाहिये। क्योंकि न करनेसे प्रत्यवाय (नरक) होता है ऐसा मीमांसक मत है ॥३१॥

नन्वभावात् कथं भावोऽकरणात् पापलक्षणः।
नासतो विद्यते भाव इत्युक्तेरिति चेन्न तत् ॥३२॥

न करना यह अभाव है उससे भावात्मक पाप कैसे होगा ? असत्से सत् नहीं होता इस पूर्वपक्षका उत्तर सुनिये ॥३२॥

जायमानो ह वै विप्र ऋणवान्स्यात्त्रिभिर्ऋणैः।
यज्ञवेदप्रजारूपैर्देवर्षिपितृसंश्रितैः ॥३३॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजन्त्यधः ॥३४॥

ऋणोऽयं भावरूपत्वात्प्रत्यवायोद्भवक्षमः।
प्रत्यवैति ह्यमुक्तर्णं इति केचित्प्रचक्षते ॥३५॥

श्रुतियोंमें बताया है कि पैदा होते ही मनुष्य देव, ऋषि और पितरोंके तीन ऋणोंसे ऋणी होता है। यज्ञ, वेद और प्रजा ये तीन ऋण हैं। मनुस्मृतिमें कहा-वेदोंको न पढ़कर, पुत्रोत्पादन न कर एवं देवयजन न कर मोक्षेच्छा करनेवाला पतित होता है। ऋण तो भावरूप है। वह प्रत्यवाय उत्पन्न करनेमें समर्थ है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य शरीर हमें किसीने दिया अतः हम उनके अर्थात् पितरोंके ऋणी हुए। वेदाध्ययन न करते तो मानव होने पर भी पशु समान ही रहते। अतः हम विद्यासे ऋणी हुए अर्थात् ऋषियोंके ऋणी हुए। शरीर भी है वेद भी हैं परन्तु अन्न न मिला तो सभी व्यर्थ है। वृष्टिद्वारा अन्न देनेवाले देवता हैं। अतः

हम उनके ऋणी हैं। पितरोंका ऋण तभी चुकता है जब हम भी दूसरेको शरीर दें। अर्थात् पुत्रोत्पादन करें। ऋषियोंका ऋण तभी चुकाया होता है, जब हम वेदोंको पढ़ें और पढ़ायें। देवताओंके ऋणसे तभी मुक्त होंगे यदि बदलेमें हम यज्ञ करें। यह एक मत हुआ ॥३३-३५॥

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि स दण्डभाक् ॥३६॥
उल्लङ्घ्यवर्त्तनं तावद्भावरूपं भवेदिदम्।
यद्वेशितुः कोपवृत्तिर्मायायां भावरूपिणी ॥३७॥
आज्ञाच्छेदी दण्डनीय इति या वृत्तिरैश्वरी।
स एव प्रत्यवायोऽयं जीवानां दुःखकारणम् ॥३८॥
पितुराज्ञापरित्यागे पित्रा पुत्रो हि दण्ड्यते।
तद्वदित्येवमन्ये च प्रमिण्वन्ति मनीषिणः ॥३९॥

श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा है। उसका उल्लंघन कर रहनेवाला आज्ञाछेदी मेरा द्वेषी है यह शास्त्रवचन है। उल्लंघनकर रहना यह भावरूप है। अथवा आज्ञा भंग करनेसे परमेश्वरकी कोपात्मिका मायावृत्ति होती है। यही प्रत्यवाय है। पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करनेसे पिता पुत्रको दण्ड देता है। वही न्याय यहां भी है। यह दूसरा मत है ॥३६-३९॥

परे तु सच्चिदानन्दः परमात्मैव केवलः।
जगत्त्वसदचिच्चैव ह्यनानन्दं च कल्पितम् ॥४०॥
मनोमयेन सच्चैव विज्ञानमयतश्च चित्।
कल्प्यते सुखमानन्दमयेनैव च संसृतौ ॥४१॥
नित्यनैमित्तिकादीनि नित्यसंपादितानि चेत्।
आनन्दमयवृत्तिं तु प्रापयेत् परजन्मनि ॥४२॥
तदभावे दुःखरूपा संसृतिः प्रकटा भवेत्।
अयमेव प्रत्यवाय उच्यते दुःखलक्षणः ॥४३॥
मन्दतीव्रादिसौख्यानि वृत्तिभेदकृतान्यतः।
पुण्यैरधिकसौख्यं चेत्यन्ये संप्रतिपेदिरे ॥४४॥

परमात्मा ही सत्-चित्-आनन्द है। जगत् तो असत् अचित् अनानन्द अर्थात् दुःखरूप है। मनोमयसे जगत्में सत्की, विज्ञानमयसे चित्की और आनन्दमयसे आनन्दकी कल्पना होती है। नित्य और नैमित्तिक यदि निय-

मतः संपादित होतोआनन्दमय वृत्तिको जन्मान्तरमें उद्भूत करेंगे। न होने पर दुःखरूप जगत् प्रकट दीखता रहेगा। बस यही प्रत्यवाय है। हाँ, मन्द तीव्रादि सुख वृत्तिभेदसे होता है। तदर्थ अन्य पुण्यकर्मोंकी सार्थकता है यह तीसरा मत है ॥४०-४४॥

मीमांसकानुरोधेन तदेतदुपपादितम्।
वस्तुतः पापनाशश्च पुण्यं चाऽस्त्येव तत्फलम् ॥४५॥

ये तीन मत मीमांसकानुरोधसे दिखाये। अर्थात् नित्यादि करनेसे कुछ फल नहीं और न करनेसे प्रत्यवाय होता है, इनमें न करनेसे क्यों प्रत्यवाय? इसका उपपादन किया। वस्तुतः नित्यनैमित्तकसे भी पुण्य भी होता है और पापनाश भी होता है ॥४५॥

नित्यनैकित्तिकैरेव कुर्वणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नित्येवं स्मृतिदर्शनात् ॥४६॥

स्मृतिमें लिखा है—नित्यनैमित्तिक कर्मोंसे पापक्षय करो ज्ञान निर्मल करो इत्यादि ॥४६॥

कर्मणा पितृलोकः स्यादित्युक्तं च श्रुतौ स्फुटम्।
व्याख्यास्यामश्च तदिदमग्रे भाष्यानुरोधतः ॥४७॥

कर्मसे पितृलोक होता है ऐसा श्रुतिमें भी बताया है। इसकी व्याख्या हम भाष्यके अनुसार यथास्थानपर करेंगे ॥ ४७ ॥

व्रतरूपेण कार्याणि कर्माणीत्येतदब्रवीत्।
कुर्वन्नेवेत्येवकारो नैरन्तर्यार्थसूचकः ॥४८॥

कुर्वन्नेवमें एवकारका अर्थ है करते हुए ही अर्थात् व्रतरूपसे नियमतः करो ॥ ४८ ॥

अग्ने व्रतपते नित्यं चरिष्यामि व्रतं दृढम्।
शकेयं राध्यतां तन्मेऽनृतात्सत्यमुपैम्यहम् ॥४९॥

व्रतं धृत्वा पूरणीयं शकेयं प्रार्थनात्र हि।
सफलं स्यादिति प्रोक्तं राध्यतां सिद्धिवाचकम् ॥ ५० ॥

तत एवानृतादस्मात्संसारात् सत्यलक्षणम्।
आप्यते परमं तत्त्वं तच्च मन्त्रान्तरे स्थितम् ॥ ५१ ॥

'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' इस मन्त्रमें कर्मको व्रतरूपमें करना बताया है। व्रत पूरा हो इसके लिये शकेयं यह प्रार्थना है। सफल होनेके लिये 'राध्यतां' यह प्रार्थना है। 'राध-साध संसिद्धौ' में राध सिद्धिवाचक है। सिद्ध होनेका मतलब ही है कि अनृतसंसारसे सत्यपरमात्माकी ओर पहूँचना। व्रतसे किसप्रकार अनृतसे सत्यप्राप्ति यह, अन्य मन्त्रमें स्पष्ट है ॥ ४९-५१ ॥

व्रतेनदीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
श्रद्धां दक्षिणयाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ५२ ॥

व्रतसे दीक्षा प्राप्त होती है। दीक्षासे दक्षिणा। दक्षिणासे श्रद्धा (दक्षिणाः श्रद्धामाप्नोति ऐसा मन्त्रमें पाठ है) श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है ॥ ५२ ॥

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुभावना ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षात्र च विवक्षिता ॥ ५३ ॥

दक्षिणेति च दक्षिण्यं कुशलत्वं तदुच्यते ।
प्रमाद्यं कुशलान्नैवेत्येवं श्रुत्याप्युदीरितम् ॥ ५४ ॥

ज्ञानप्रदान और पशुभावक्षपण यही 'दीक्षा'का अर्थ है। दाक्षिणाका अर्थ है दक्षिण्य कुशलता ॥ ५३-५४ ॥

तथा च नैरन्तर्येण कार्यं कर्म व्रतात्मना ।
येनाशुभाद्विमुक्तिः स्यात्तच्च मन्त्रेऽपि कीर्तितम् ॥५५॥

अभिप्राय यह हुआ कि कर्तव्य कर्म निरन्तर करना चाहिए व्रतरूपसे करना चाहिये इसके लिये 'कुर्वन्नेव' यह एवकार है। इसीसे वक्ष्यमाण अशुभविमुक्ति है। इसी वातको अन्य मन्त्रने भी बताया है ॥५५॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषोः स्यात्तृण्णं हृन्मनसोरपि ।
बृहस्पतिस्तद्दधातु भुवनस्य पतिर्हि शम् ॥५६॥

आम्नायाध्ययनाद्यंश्चाऽव्यर्थः कालो विधीयताम् ।
बृहस्पतिस्तद्दधात्वित्येतदत्र विवक्षितम् ॥५७॥

"यन्मे छिद्रं चक्षुषोर्हृदयस्य मनसो वाति तृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः" इस मन्त्रमें चक्षु हृदय और मनके छिद्रको छोड़नेके लिए बृहस्पतिसे प्रार्थना की गयी है। वीच वीचमें पापप्रसक्ति ही

एवमेवंप्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे = नरमात्राभिमानिनि इत = एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात् प्रकारात् अन्यथा = प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते

इस प्रकार कर्म करते ही जीवनकी अभिलाषा रखनेवाले, 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा शरीराभिमान रखनेवाले तेरेलिये अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए जीनेके वर्तमान प्रकारसे अतिरिक्त दूसरा कोई प्रकार नहीं है जिससे

छिद्र है। वृहस्पतिसे वेदाध्ययनादि विवक्षित है। उससे बीचमें पापप्रसक्ति नहीं होगी। निरन्तर सत्कर्म होता रहे यही सारांश है ॥५६-५७॥

प्रतिष्ठिता वाङ् मनसि मनो वाचि प्रतिष्ठितम् ।
अहोरात्रान् संदधेऽहमनेनेत्यपरा श्रुतिः ॥५८॥

अत्राहोरात्रसंधानं नैरन्तर्यं विवक्षितम् ।
कुर्वंन्नेवेत्येवकारस्तमेवार्थं प्रभाषते ॥५९॥

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता इत्यादि शान्तिमन्त्रमें जो "अहोरात्रान् संदधामि" बताया उसका भी सत्कर्मनैरन्तर्य ही अर्थ है। उसी अर्थको कुर्वन्नेव यह एवकार कहता है ॥५८-५९॥

कलिः शयानो भवति जिहानो द्वापरो भवेत् ।
त्रेता तिष्ठंश्चरन् सत्यं चरैवेति तथा श्रुतिः ॥६०॥

सोनेवाला कलि है। निद्रात्यागी द्वापर है। उठनेवाला त्रेता है। चलनेवाला सत्ययुग है। इसलिये बढ़े चलो (गूढ़ार्थ स्वयं ऊहनीय है) इस श्रुतिमें चरैव कहकर निरन्तर कर्म करनेका ही उपदेश किया है ॥६०॥

एवं त्वयि०

एवं सुकर्म कुर्वाणेऽशुभं कर्म न लिप्यते ।
नारकी यातना नास्य संभवोऽस्ति समुद्धृतेः ॥६१॥

इसप्रकार निरन्तर सुकर्म करनेपर नरकयातना तो नहीं ही होगी। उद्धारकी भी काफी संभावना रहती है। (यही श्रद्धया सत्यमाप्यते इत्यादिका भी अभिप्राय है ॥६१॥

इतः प्रकारान्नान्योऽस्ति प्रकारः कोऽपि येन हि ।
नाशुभं कर्म लिप्येन नरमात्राभिमानिनि ॥६२॥

कर्मणा न लिप्यस इत्यर्थः। अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत्।

कथं पुनरिदमवगम्यते-पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति। उच्यते, ज्ञानकर्मणोर्विरोधं

अशुभ कर्मसे बचाया जा सके। इसलिए शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए ही जीनेकी इच्छा किया करे।

प्रश्न होगा कि यह कैसे अवगत होता है कि पूर्वमन्त्रमें संन्यासीके लिए ज्ञाननिष्ठा बतायी और द्वितीयमें संन्यासाऽसमर्थके लिए कर्मनिष्ठा बतायी ? सुनो। ज्ञान और कर्मका पर्वतसमान

कर्म करते रहना यही एक प्रकार है। इससे अन्य कोई प्रकार नहीं है जिससे नराभिमानी तुममें अशुभकर्मका लेप न हो ॥६२॥

अन्यः प्रकार इत्यर्थे थालत्र प्रथमान्ततः।
प्रकारवचने थालं सामान्येनाब्रवीन्मुनिः ॥६३॥

अन्यः प्रकारः अन्यथा। यहाँ प्रथमान्त अन्यशब्दसे थाल् प्रत्यय है। सामान्यतः पाणिनि मुनिने प्रकारार्थ में थाल् कहा ॥६३॥

यत्तु वृत्तिकृता तेन प्रकारेण तथान्यथा।
न थालनभिधानात्स्यात्प्रथमान्तादितीरितम् ॥६४॥

प्रायोवादः स मन्तव्यस्तेन काचिन्न हि क्षतिः।
लौकिकानभिधानं वाऽत्रगन्तव्यस्तदाशयः ॥६५॥

यद्यपि वृत्तिकारने प्रथमान्तसे थाल् प्रत्यय अनभिधानात् (प्रयोग न होनेसे) नहीं होता है। अन्य प्रकारसे इस प्रकार तृतीयान्तार्थमें ही प्रत्यय होता है ऐसा बताया है। किन्तु वह प्रायोवाद है (प्रायः ऐसा ही होता है) अथवा लोकमें प्रयोग नहीं होता यही वृत्तिकाराशय है। वेदमें तो यहींपर प्रथमान्तसे थाल् प्रत्यय हुआ है ॥६४-६५॥

संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठा पूर्वमन्त्रेण दर्शिता।
परेण तदशक्तस्य कर्मनिष्ठाभ्युदीरिता ॥६६॥

पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ? इहाप्युक्तं यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्, ईशावास्यमिदं सर्वं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः कस्यस्विद्धनमिति च; "न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदं, ततो न पुनरियादि"ति संन्यासशासनात् ।

उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति । "इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात् संन्यासश्च" [उत्तरेण निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः] तयोः संन्यासपथ एवाति-

अविचल पूर्वोक्त (सम्बन्धभाष्योक्त) विरोधको क्यों भूल रहे हो । यहां उपनिषत् मन्त्रोंमें भी देखो-जो जीनेकी इच्छा रखता हो वह कर्म करे, ईशसे सबका आच्छादन करो और उस त्यागसे आत्मरक्षा करो । और भी :— किसीके धनकी इच्छा न करो । संन्यासशासन भी देखो—जीवन या मरण की अभिलाषा न करें, अरण्य जाय यह स्थिति है । वहाँसे फिर वापस न आयं । दोनोंके फलोंमें भेद भी आगे बतायेंगे । ये दोनों ही मार्ग सृष्टिके बाद प्रादुर्भूत हुए । प्रथम कर्ममार्ग और पश्चात् संन्यास अर्थात् निवृत्तिमार्गसे त्रिविध एषणात्याग । इन दोमें संन्यासमार्ग ही उत्कृष्ट है । तैत्तिरीयमें भी बताया है—संन्यास ही उत्कृष्ट है । वेदाचार्य भगवान् व्यासने भी अपने

प्रथम मन्त्रमें संन्यासियोंके लिय ज्ञाननिष्ठा तथा द्वितीय मन्त्रमें ज्ञाननिष्ठामें असमर्थ पुरुषके लिये कर्मनिष्ठा बतायी ॥६६॥

समुच्चयं पुनः केचिद्वाञ्छन्ति ज्ञानकर्मणोः ।
तन्न युक्तं विरोधित्वादुभयोर्भिन्नरूपयोः ॥६७॥

कुछ लोग ज्ञान और कर्मका समुच्चय मानते हैं । परन्तु दोनों परस्पर विरोधी होनेसे वह युक्त नहीं हैं ॥६७॥

इयादरण्यं नो कुर्याज्जीविते मरणे गृधिम् ।
इति संन्यासशिष्टचुक्ता जीवनेच्छाविहीनता ॥६८॥
जिजीविषेदिति प्रोक्ता जीवनेच्छा तु कर्मिणाम् ।
कथमेकाधिकारित्वं तयोः संभवदुक्तिकम् ॥६९॥

अरण्य जाय, जीवन और मरणमें आकाङ्क्षा न रखें, ऐसा संन्यास-

रेचयति "न्यास एवात्यरेचयदि"ति च तैत्तिरीयके। द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः" इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता। विभागं चानयोर्दर्शयिष्यामः ॥२॥

पुत्र (शुकदेव) के प्रति पूर्ण विचार कर निश्चितरूपेण बताया—ये दो मार्ग हैं जिनके प्रतिपादनमें वेद पूर्ण संलग्न है। एक प्रवृत्तिरूपी धर्ममार्ग है, और दूसरा विशेषरूपेण अनुष्ठित निवृत्ति धर्ममार्ग। इन दोनो मार्गोंका विभागशः निरूपण आगे करेंगे ॥२॥

शासनमें बताया। और यहाँ जिजीविषेत् ऐसा कर्मियोंको कहा। भला ये विरुद्ध अर्थ एकाधिकारमें कैसे हो? ॥६८-६९॥

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः ॥७०॥
इति व्यासोऽपि भगवान् द्वयोराह पृथक् स्थितिम्।
प्रवृत्तो न निवृत्तः स्यान्निवृत्तो न प्रवृत्तिमान् ॥७१॥

भगवान् वेदव्यासजीने भी प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म ये दो पृथक् बताये। प्रवृत्त निवृत्त नहीं होता और निवृत्त प्रवृत्त नहीं होता ॥७०-७१॥

ननु भिक्षाटनादीनि कर्माणि ज्ञानिनामपि।
भवन्तीति कथं ज्ञानकर्मणोः स्याद्विरोधिता ॥७२॥
इच्छाभासो भवत्येव जीवने ज्ञानिनामपि।
अभिधत्तां तमेवात्र श्रुतिरेषा जिजीविषेत् ॥७३॥

पूर्वपक्षः—भिक्षाटनादि कर्म ज्ञानीके भी होते हैं, तब ज्ञान और कर्ममें कैसा विरोध? जीवनेच्छाका आभास ज्ञानियोंको भी होता है। वही इच्छाभास जिजीविषेत्का अर्थ माना जाय ॥७२-७३॥

मैवं भिक्षाटनादीनीत्यल्पमुक्तं मनीषिणा।
उपदेशादिकर्माणि यतयः कुर्वते भृशम् ॥७४॥

उत्तरः—भिक्षाटनादि यह अल्प कहा। केवल देहनिर्वाहार्थ कर्म ही नहीं, उपदेशादि भी यति करते हैं ॥७४॥

अधिकारविशिष्टानि यागादीनि किलात्र तु।
कर्मशब्दाभिधेयानि न क्रियामात्रमेव तत् ॥७५॥

यहाँ कर्मशब्दका अर्थ है—अधिकारविशिष्ट यागादि कर्म, न कि केवल क्रियामात्र ॥७५॥

द्विजोऽस्मि काणकुब्जादिदोषहीनोऽस्मि सद्गृही ।
एवं विधाभिमानी स्यादधिकारीह कर्मसु ॥७६॥

मैं द्विज हूँ, काना नहीं, बहरा नहीं, सद्गृहस्थ हूँ इत्यादि देहाभिमानवाला यागादि कर्ममें अधिकारी होता है ॥७६॥

द्विजत्वाद्यभिमानोऽयं ज्ञानिनां नैव संभवेत् ।
इति प्रागेव कथितं पुनः स्मर महामते ॥७७॥

द्विजत्वादि अभिमान ज्ञाननिष्ठको नहीं हो सकता यह पहले ही कहा गया है । हे महामते उसे पुनः स्मरण करो ॥७७॥

ननु चाश्रमकर्मास्ति कर्तव्यं यमिनामपि ।
मैवं समाधिनिष्ठस्य प्रत्यवायो भवेत्तदा ॥७८॥

पूर्वपक्षः—आखिर संन्यास भी तुरीयाश्रम है । उसमें भी आश्रम कर्म कर्तव्य है । उत्तरः—तब तो कभी संन्यासी समाधिमें कुछ दिन बैठ जाय तो नित्यकर्म लुप्त होनेसे आपके मतमें उसको प्रत्यवाय लगेगा ॥७८॥

ज्ञाननिष्ठां परिप्रेप्सोः साधोर्विविदिषोर्यतेः ।
उक्तान्याश्रमकर्माणि न तां प्राप्तस्य किंचन ॥७९॥

सिद्धान्त यह है कि जो साधक है विविदिषु होनेसे संन्यासी हुआ, ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करना चाहता है उसके लिये आश्रम कर्म है, न कि ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त यतिके लिये भी ॥७९॥

न कर्मणा न प्रजया त्यागेनैकेऽमृतं ययुः ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥८०॥

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुर्द्रविणेहिनः ॥८१॥

इत्यादिवचनव्रातसहस्रेषु स्थितेष्वपि ।
अवैदिकमिति ह्यूचुः कर्मत्यागं कुदृष्टयः ॥८२॥

कर्म, प्रजा आदिसे नहीं, त्यागसे ही ऋषियों ने अमृतत्व प्राप्त किया, इस लिये पारदर्शी यति कर्म नहीं करते । तबतक कर्म करें जबतक वैराग्य न हो इत्यादि वचनसहस्र श्रुतिस्मृतिपुराणोंमें भरे पड़े हैं । फिर भी कुछ लोगोंको

कर्मत्याग अवेदसम्मत प्रतीत हुआ। दोष उनका नहीं किन्तु उनकी दृष्टिका है कि इतने वचनोंको वह देख न सकी ॥८०-८२॥

॥ इति द्वितीयमन्त्रभाष्य वार्तिकम् ॥

—: ० :—

उक्तं त्यक्तेन भुञ्जीथा आत्मानमिति पूर्वतः।
अपालयन्निजात्मानमात्मघाती भवेदसौ ॥१॥

त्यागसे आत्मरक्षा करो यह पहले बताया। आत्मरक्षा न करनेवाला ही आत्मघाती है ॥१॥

क्रियते तस्य निन्दात्र पुरुषस्यात्मघातिनः।
प्रपञ्चयितुमाद्यस्य मन्त्रस्यार्थमिह श्रुतिः ॥२॥

उस आत्मघाती पुरुष की तृतीय मन्त्र में निन्दा है। यह प्रथम मन्त्रार्थ का स्पष्टीकरण करने ही के लिये है ॥२॥

भोगार्थपक्षे नैतस्य मन्त्रस्योत्थानिकाऽऽञ्जसी।
अप्रासङ्गिकनिन्देयं तन्मतेनात्मघातिनाम् ॥३॥

भुञ्जीथाः का आत्मरक्षा अर्थ न कर जो लोग भोगार्थ मानते हैं उनके मत से आत्मघातियों की यह निन्दा अप्रासङ्गिक होगी और अस्मन्मत में प्रथम आत्मरक्षा करो कहा, यदि आत्मरक्षा न करें तो क्या हानि यह प्रश्न उठना तव स्वाभाविक है। अवसरतः उसका समाधान तृतीय मन्त्र से दिया जाना है अतः पूरी संगति बैठती है ॥३॥

न निन्दा निन्दितुं निन्द्यं विधेयस्तवनाय सा।
आत्मरक्षैव तेनात्र स्तूयते परनिन्दया ॥४॥

निन्दा निन्दार्थ नहीं किन्तु विधेयस्तुत्यर्थ होती है। अतः यहाँ आत्मघातनिन्दा से आत्मरक्षा की ही स्तुति है ॥४॥

फलस्तुत्या च सर्वत्र गम्यते साधनस्तुतिः।
ततश्च ज्ञाननिष्ठायाः स्तुतौ पर्यवसायिता ॥५॥

फलस्तुति से सर्वत्र साधनस्तुति गम्य होती है। अतएव यहाँ ज्ञाननिष्ठा की स्तुति में ही पर्यवसान है ॥५॥

जिजीविषाविधिर्नास्तीत्यतस्तत्प्रतियोगिनी ।
नात्महत्या विनिन्द्याऽत्र विधेयस्तुत्यभावतः ॥६॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः ॥३॥

असुरोंके वे लोक हैं जो अन्धकारमय हैं—अज्ञानावृत हैं। उन लोकोंको वे प्राप्त होते हैं जो आत्मघाती जन हैं ॥३॥

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—असुर्याः । परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः, तेषां च स्वभूता लोका असुर्या नाम; नामशब्दोऽनर्थको निपातः,

अब अज्ञानियोंके निन्दार्थ यह (तीसरा) मन्त्र शुरू हो रहा है—

यहाँ असुरसे देवा भी ग्राह्य हैं। क्योंकि अद्वैत परमात्माभावका देवन-प्रकाशन न होनेसे देव भी अदेव-असुर ही हैं। उनके संपादारूपी लोक असुर्य है। मन्त्रमें नामशब्द अर्थरहित निपात है।

यद्यपि जिजीविषेत् की प्रतियोगी आत्महत्या है ऐसा माना जा सकता है और आत्महत्या की निन्दा कर जीवनेच्छा की स्तुति की जा रही है ऐसा भी हो सकता है तथापि जिजीविषा विधेय नहीं है। विधेय की स्तुति होती है और उसके प्रतियोगी की निन्दा की जाती है। जिजीविषा स्वतः प्राप्त होने से विधेय नहीं है यह पहले ही कहा जा चुका है ॥६॥

जिजीविषेदितिप्राणधारणेच्छैव　गम्यते ।
न त्वगौणात्मनो रक्षाऽगौणात्माग्रे च वर्ण्यते ॥७॥

दूसरी वात जिजीविषेत् का प्राणधारणेच्छा ही अर्थ है, न कि अगौण आत्मा की रक्षा और यहाँ उपनिषत् में आगे-पीछे पर्यगात् इत्यादि अगौण आत्मा का वर्णन है। अतः तत्स्तुति ही युक्त है ॥७॥

असूर्या नाम ते

प्राङ्मन्त्रयुग्मविषया नेदीयांसो जनाः श्रुतेः ।
असुरास्तु दवीयांसस्तस्मात्ते इतिगीः श्रुतौ ॥८॥

ज्ञानी और कर्मी दोनों ही श्रुति के समीपवर्ती हैं। परन्तु असुर श्रुतियों

से दूर रहते हैं। अतएव श्रुति ने भी विप्रकृष्ट परोक्षवाचक 'ते' पद का प्रयोग किया ॥८॥

यदर्थेऽत्र तदित्येके येऽन्वेनेत्यपरे पदम्।
इतरद् वर्ण्यमानार्थे नामेत्येतत्तु नार्थवत् ॥९॥

तांस्ते इस तदर्थप्रतिनिर्देश से ते लोका यह ये लोका इस प्रकार यदर्थमें है ऐसे कुछ लोग मानते हैं। अन्धेन से पहले 'ये' का अध्याहार है यह मतान्तर है। प्रकृत वर्ण्यमान ते शब्द का अर्थ है ऐसा भी माना गया है। नाम यह अर्थविशेषरहित निपात है ॥९॥

आत्मारामा भवन्त्येके धूतसंसृतिबन्धनाः।
आत्मक्रीड आत्मरतिरित्यादिश्रुतिसंस्तुताः ॥१०॥

अन्ये स्युरिन्द्रियारामाः संसारवशवर्तिनः।
अघायुरिन्द्रियाराम इत्यादिस्मृतिनिन्दिताः ॥११॥

त एव चेन्द्रियारामा इहासुरपदेरिताः।
परात्मभावमद्वैतमपेक्ष्य हि सुरा अपि ॥१२॥

कुछ लोग संसारबन्धनरहित आत्माराम होते हैं। आत्मक्रीड आत्मरति इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उन्हीं की स्तुति की गयी है और कुछ लोग संसारपरिभ्रमणमात्र करने वाले इन्द्रियाराम होते हैं। उन्हीं को अघायुरिन्द्रियाराम इत्यादि से निन्दा की गयी है। वे इन्द्रियाराम ही यहाँ असुर हैं। परमात्मभाव अद्वैत की अपेक्षा से देवता भी यहाँ असुर ही हैं ॥१०–१२॥

रमन्तेऽसुषु ये नाम प्राणदेहेन्द्रियादिषु।
कामं देवादयस्ते स्युरसुरा एव ते मताः ॥१३॥

असुषु रमन्ते इत्यसुराः। असु प्राणों में अर्थात् शरीर इन्द्रिय प्राणादि में जो रमण करते हैं वे भले ही देवता आदि कोई हो फिर भी असुर ही हैं ॥१३॥

नन्वेवं यौगिकार्थश्चेन्निन्दा नैव प्रतीयते।
सत्यं शब्दस्वभावेन निन्दा शब्देन गम्यते ॥१४॥

यदि यौगिक 'प्राणों में रत' अर्थ है तो निन्दा की प्रतीति नहीं होगी।

प्राणरत तो प्रायः जगत् है। उसमें निन्दा की क्या बात है। ऐसे पूर्वपक्ष में उत्तर यह है कि असुर शब्द ही ऐसा है कि निन्दा उससे अभिव्यक्त होती है। जैसे राक्षस शब्द का रक्षा करने वाला अर्थ भले ही कर लो फिर भी उस शब्द को कोई पसन्द नहीं करेगा। जैसे भाषा में अपनी पत्नी के भाई को यदि साला करके पुकारें तो गाली न होने पर भी गाली हो जाती है ॥१४॥

मा भूदसुरशब्देन निन्दावगतिरत्र हि।
अन्धेन तमसेत्युक्त्याऽविद्वन्निन्दावगम्यताम् ॥१५॥

अथवा असुर शब्द से अविद्वन्निन्दा गम्यमान न हो फिर भी अन्धेन तमसावृता इससे तो निन्दा स्पष्ट होती ही है ॥१५॥

अत्रेदं चोद्यते चोद्यमब्रह्मज्ञानिनोऽखिलाः।
देवा वा मानवा वापि भवेयुरसुरा न वा ॥१६॥

आद्येऽसुर्या इति व्यर्थमसुरत्वात्सजन्मनाम्।
न किल ब्रह्मवेत्तारो लभन्ते जन्म संसृतिम् ॥१७॥

भविष्यज्ज्ञानवत्त्वेन मानवा नासुरा यदि।
कथं भवितुमर्हन्ति देवा असुरशब्दिताः ॥१८॥

यहाँ एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि अब्रह्मज्ञानी सभी चाहे देवता हो चाहे मनुष्य, असुर हैं या नहीं। यदि सभी असुर हैं तो 'असुर्या' यह विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को जन्म होता नहीं। जन्म जिस किसी का भी हो असुर्यलोक जन्म ही होगा। यदि कहें कि मनुष्य को ज्ञान कभी-न-कभी हो सकता है। अतः असुर्यजन्म नहीं माना जायेगा तो देवता भी असुर कैसे ? उनको भो तो कभी-न-कभी ज्ञान हो सकता है ॥१६–१८॥

तदर्थमादितेयानां ज्ञानं भवति वा न वा।
इत्येतच्चिन्त्यते पूर्वमसुर्यार्थनिरुक्तये ॥१९॥

इस प्रश्नके परिहारार्थं तथा असुर्यशब्दार्थनिरुक्तिके लिए प्रथम देवताओं को ज्ञान होता है या नहीं इसी पर कुछ विचार प्रस्तुत करेंगे ॥१९॥

अत्र केचित्समाचख्युर्ज्ञानं न स्याद्दिवौकसाम्।
तदेतद्भगवद्गीताश्लोकाकूतेन गम्यते ॥२०॥

इस विषय में कुछ लोगों का कहना है कि देवताओं को ज्ञान नहीं होता। यह बात गीता के कुछ श्लोंको की पर्यालोचना से स्पष्ट होती है ॥२०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥२१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
इत्यभ्यधायि गीतायां तत्पर्यालोच्यते मया ॥२२॥

ये भोगवासनायुक्ता योगभ्रष्टा भवन्ति ते ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे जायन्ते वासनानुगाः ॥२३॥

ये योगवासनायुक्ता योगभ्रष्टा भवन्ति ते ।
जायन्ते योगिनामेव कुले तद्वासनानुगाः ॥२४॥

अत्र द्वितीयकक्षास्थैः पुण्यकृल्लोकमुत्तमम् ।
स्वर्गं प्राप्य ततो ज्ञानं कथं नैवाप्यते बुधैः ॥२५॥

देवादिभावं प्राप्यापि योगसंस्कारिणोपि ते ।
जायन्ते योगिनां गेहे ज्ञानाऽलाभस्ततः स्फुटः ॥२६॥

इत्थं च नैव देवानां ज्ञानप्राप्तिर्भवेदिति ।
भगवत्संमतं सिद्धमन्यथानुपपत्तितः ॥२७॥

गीता में कहा है—योगभ्रष्ट पुण्यवानों के स्वर्गादिलोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत दिनों तक रहकर फिर पवित्र श्रीमन्तों के घरों में अथवा ज्ञानी योगियों के कुल में जन्म लेते हैं। अब इसपर हम विचार करें। यहाँ भगवान् ने दो पक्ष बताजे। श्रीमन्तों के घर में जन्म और योगियों के कुल में जन्म। यहाँ व्यवस्था यह है कि योगभ्रष्ट (योगाभ्यास करते करते सिद्धि प्राप्त होने से पूर्व जो मर गया वही योगभ्रष्ट है) मरते समय यदि भोगवासना किञ्चित् रही तो श्रीमन्तों के घर में जन्म लेगा और मरते समय योगवासना ही जागृत रही तो वह योगियों के कुल में जन्म लेगा। इस पर विचारणीय बात यह है कि योगसंस्कार के साथ जो मरा और स्वर्ग में गया, देवादि शरीर पाया तो वहाँ उसको तत्त्वज्ञान क्यों नहीं प्राप्त हुआ ? क्यों उसको जन्म लेना पड़ रहा है ? इससे यह निश्चित होता है कि भगवान् देवशरीर में ज्ञानप्राप्ति नहीं मानते। अन्यथा एक तृतीय पक्ष भी बोलते कि कुछ योगी देवशरीर में ज्ञान प्राप्त कर मुक्त भी हो जाते हैं।

"कां गतिं कृष्ण गच्छति" इस प्रश्न के उत्तर में वह भी कहना आवश्यक था ॥२१–२७॥

परे पुनरिदं प्राहुर्भवेज्ज्ञानं दिवौकसाम् ।
तदुपर्यपि तत्प्राह संभवाद् बादरायणः ॥२८॥
ब्रह्मसूत्रे निगदितं श्रुतिष्वपि विलोक्यते ।
इन्द्रः प्रजापतिं गत्वा ज्ञानं प्राप कृतव्रतः ॥२९॥

दूसरे लोगों का कहना है कि देवताओं को भी ज्ञान होता है। "तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्" इस प्रकार ब्रह्म सूत्र में देवताओं को भी ज्ञान सम्भव बताया है। श्रुतियों में भी यह बात प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने प्रजापति के पास जाकर व्रत रखकर ज्ञान प्राप्त किया ॥२८–२९॥

नन्वेवं केवलं प्राप्तो विरोधः श्रुतिगीतयोः ।
नाभून्निर्णीतिरिति चेदत्र ब्रूमो विनिर्णयम् ॥३०॥

पूर्वपक्ष :—इस प्रकार तो आपने केवल श्रुति और गीता विरोध दिखाया। कोई निर्णय तो बताया नहीं। ठीक है। अब आप निर्णय सुनिये ॥३०॥

देवा हि द्विविधाः प्रोक्ताः कर्मजाजानजाख्यया ।
आजानजानां स्याज्ज्ञानं कर्मजानां पुनर्न हि ॥३१॥

देवता दो प्रकार के होते हैं। एक कर्मज और दूसरे आजानज। उनमें आजानज देवों को ज्ञान होता है कर्मजों को नहीं ॥३१॥

प्रेत्याभिगमनप्रोक्तेः प्राप्ता इह तु कर्मजाः ।
असुरत्वं भवेत्तेषां भोगमात्रात्तवर्ष्मणाम् ॥३२॥

यहाँ 'प्रेत्याभिगच्छन्ति' वचन से स्पष्ट है कि आजानज यहाँ उपस्थित नहीं है। उपस्थित होते हैं तो कर्मज देव ही। उनका देवादि शरीर भी भोगमात्रप्रयोजन है। अतएव उनको असुर मानने में कोई हानि नहीं है ॥३२॥

प्रायोऽसुरत्वमाजानजानामपि दिवौकसाम् ।
क्व नाके गुरुसंप्राप्तिः सुलभा मननादि च ॥३३॥

और यदि सोचा जाय तो आजानज देव भी प्रायः असुर ही होते हैं। भला स्वर्गलोक में कहाँ गुरु की प्राप्ति सुलभ होती है और मनननिदिध्यासनादि भी कौन वहाँ करता है ॥३३॥

ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भज्यन्त इति जन्मानि।

लोक उनको कहते हैं जहाँ कर्मफल देखे जाते हैं अर्थात् भोगे जाते हैं अर्थात् जन्म ही यहाँ लोकपदार्थ है।

अत एव च सूत्रेपि संभवादित्युदीरितम्।
अस्ति संभावनामात्रं न तु तत्रास्ति निश्चयः ॥३४॥

इसीलिए सूत्र में भी 'संभवात्' इतना ही कहा। सम्भावना मात्र है। कोई निश्चय नहीं है ॥३४॥

लोकाः

ते लोक्यन्तेऽनुभूयन्ते लोकास्ते जन्मलक्षणाः।
असुराणां स्वभूतास्ते ह्यसुर्याः परिकीर्तिताः ॥३५॥

मन्त्र में लोकपद का जन्म अर्थ है। असुरों का स्वत्वरूपो जन्म ही असुर्य है ('असुरस्य स्वं' सूत्र से य प्रत्यय) ॥३५॥

सप्तलोका भवन्त्यूर्ध्वमधः सप्त प्रकीर्तितः।
प्रकर्षादूर्ध्वलोकाः स्युरपकर्षादधोभवाः ॥३६॥

सात लोक ऊपर और सात लोक नीचे माने गये हैं। प्रकृष्ट ऊर्ध्व और अपकृष्ट होने से अधः होते हैं ॥३६॥

अस्ति ब्रह्मेतिविज्ञानाच्छुभेच्छा जायते सताम्।
तदीयविषयो भूः स्यादस्तित्वेन निरूपितः ॥३७॥

'अस्ति ब्रह्म' ब्रह्म है ऐसा निश्चय ज्ञान होने से ब्रह्म प्राप्ति की शुभेच्छा होती है। शुभेच्छावाला जन्म या शुभेच्छा विषयीकृत ब्रह्म भूलोक है। भू=अस्ति ॥३७॥

विचारणा भावना स्याद्भावनाविषयो भुवः।
निदिध्यासनतः सुष्ठु वरणात्स्वरितीर्यते ॥३८॥

भावना विचारणा मनन उसका विषय भुवः है। सुष्ठुवरण—निदिध्यासन तनुमानसा उसका विषय स्वः है ॥३८॥

महः साक्षात्कृतः प्रोक्तः संपन्नो हि महीयते।
अभिनिष्पद्यमानोऽयमुत्तमः पुरुषो जनः ॥३९॥

साक्षात्कार से सत्सम्पत्ति होती है। यही सत्त्वापत्ति है। सम्पन्न महित होता है ऐसा श्रुति में कहा गया है। फिर स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यमान ही जन उत्तम पुरुष है। यही असंसक्ति है ॥३९॥

ज्ञानैकताननतारूपं पदार्थाभावनात्तपः ।
सत्यस्तुरीयगानिष्ठः सत्यमात्रावशेषणात् ॥४०॥

'यस्य ज्ञानमयं तपः' श्रुति से ज्ञानैकतानता ही तप है। वहाँ अज्ञान-जन्य पदार्थों का भास नहीं रहता। तुरीयगा स्थिति सत्य है, सत्यमात्र वहाँ अवशिष्ट रहता है ॥४०॥

तद्विष्णोः परमं स्थानं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
सत्यस्य सत्यं परमं सर्वाधिष्ठानलक्षणम् ॥४१॥

वही सत्य सर्वाधिष्ठान विष्णु का परम स्थान है ॥४१॥

शुभेच्छादिसमाभासाः सङ्गकामादयस्त्वधः ।
सङ्गात् सञ्जायते काम इति गीतासु दर्शिताः ॥४२॥

शुभेच्छा विचारणा आदि के समाभास गीतोक्त संग, काम, क्रोध, संमोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और प्रणाश ही सात अधोलोक हैं। तत्तत्प्र-धानता से तत्तल्लोक माना जाता है। शुभेच्छा ब्रह्मसंग है, संग विषयसंग है। विचार ब्रह्ममनन है, काम भोगमनन है। तनुमानसा संकल्प की न्यूनता से, क्रोध विवेक की न्यूनता से। सत्त्वापत्ति सम्यग् ज्ञान, ठीक विपरीत संमोह। असंसक्ति दोनों में बराबर है। एक ओर ज्ञान से दूसरी ओर स्मृतिभ्रंश से। पदार्थाभावनी भी तुल्य है। एक ओर ब्रह्ममात्रदर्शन से दूसरी ओर बुद्धिनाश से। तुरीयगा और प्रणाश भी तुल्य है। दोनों में पुरुषार्थ नहीं रहता। तुरीयगा में कृतकृत्य होने से और प्रणाश में सर्व-स्वनाश होने से। इसीलिये नष्ट पुरुष को पाताल में गिर गया ऐसा कहा जाता है ॥४२॥

भवतीति ततो भूः सदसत्त्वावरणक्षयात् ।
भावयेज्ज्ञापयेच्चित्तमभानावरणक्षयात् ॥४३॥

आनन्दसुष्ठुवरणात्स्वरित्येवं निरूपितः ।
महत्त्वाद् व्यापकत्वाच्च महोऽखण्डात्मना स्थितिः ॥४४॥

सर्वोपादानरूपत्वाज्जनोऽधिष्ठानलक्षणः ।
सर्वप्रकाशकश्चैव तपो ज्ञानैकलक्षणः ॥४५॥

पारमार्थिकरूपेण स्थितिः सत्य उदीरितः ।
एतेषां विपरीताश्च क्रमेणैवातलादयः ॥४६॥

मर्त्यत्वं च जडत्वं च दुःखं चैव परिच्छिदा ।
जन्यत्वं विभ्रमश्चैवानृतं चेति यथाक्रमम् ॥४७॥

असत्त्वापादकावरणनिवृत्तिसे सत्-भूलोक है। अभानापादकावरणनिवृत्तिसे भुवः—चित् है। आनन्दाभिव्यक्तिसे सुष्ठु वरणीय स्वः है। व्यापक अखण्ड मह है। सर्वोपादान जन है। सर्वप्रकाशक तप है। परमार्थ सत्य है। इससे विपरीत मर्त्यत्व, जडत्व, दुःख, परिच्छिन्नता, जन्यत्व, भ्रान्ति और मिथ्या अतलादि लोक हैं ॥ ४३-४७॥

सङ्गकामादिपतिताः मर्त्यत्वादिनिवेशिनः ।
अतलाद्या अधोलोका असुर्या नाम ते मताः ॥४८॥

संगकामादिदोषसे व्याप्त तथा मर्त्यत्व, जड़त्व आदि अभिनिवेशयुक्त जो अतलादि जन्म है वही यहाँ असुर्य लोक है ॥४८॥

नन्वयुक्तमिदं सर्वं प्रसिद्धार्थप्रहाणतः ।
असुराणां प्रसिद्धा हि लोका ध्वान्तसमावृताः ॥४९॥

पूर्वपक्षः—ये सब व्याख्या अयुक्त है। क्योंकि इसमें प्रसिद्ध अर्थका परित्याग होता है। असुरोंके लोक अतल वितलादि काले अन्धकारसे आवृत पुराणादिमें प्रसिद्ध हैं। उन्हींका यहाँ ग्रहण करना चाहिये ॥४९॥

मैवमात्महनो नामानात्मज्ञा इति वक्ष्यते ।
आत्मानमव्ययं हन्तुं कः प्रभुर्जगतीतले ॥५०॥

अनात्मज्ञा आत्महनो ज्योतिष्टोमादिकर्मिणः ।
कथं रसातलमियुः प्रेत्य ते स्वर्गगामिनः ॥५१॥

उत्तरः—अनात्मज्ञ ही आत्मघाती हैं यह आगे बतायेंगे। क्योंकि अव्यय आत्माको कौन मार सकता है। ज्योतिष्टोमादि कर्म करनेवाले भी आत्मघाती हो सकते हैं। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' वाले भी आत्मघाती ही हैं। परन्तु ज्योतिष्टोमादि कर्मकारी रसातल क्यों जाने लगे। वे तो स्वर्गगामी होते हैं ॥५०-५१॥

तस्माल्लोकं प्रयान्त्येते यथाकर्म यथाश्रुतम् ।
असुर्यादिपदार्थोऽतो यथाव्याख्यात आञ्जसः ॥५२॥

अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादिताः, तान्स्थावरान्तान् प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् । ये के चात्महनः। आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः? येऽविद्वांसः। कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति? अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् । विद्यमानस्यात्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदलक्षणं तद् हतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना अत्महन [इति] उच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते ।।३।।

वे अन्ध यानी अदर्शनरूपी अज्ञानात्मक तमसे आच्छादित हैं । स्थावरपर्यन्त उन जन्मोंको (योनियोंको) मरणोत्तर कर्म तथा ज्ञानके अनुसार वे पाते हैं जो आत्मघाती हैं । आत्माका हनन करनेवाले आत्महन अर्थात् आत्मघाती हैं । वे जन कौन ? जो अविद्वान् हैं । वे नित्य आत्माकी हिंसा कैसे करते हैं ? अविद्यारूपी दोषसे वे विद्यमान भी आत्मका तिरस्कार जो करते हैं । विद्यमान आत्माका कार्य अर्थात् फल अजरत्व अमरत्वादि हतके समान तीरोभूत होता है, अतः प्राकृत अज्ञानी जन आत्मघातो कहलाते हैं। इस आत्मघात दोषकी सजा है कि वे जन्ममरण संसार पाते हैं ।।३।।

इसलिये यथाकर्म यथावेद वे लोकको प्राप्त होते हैं ! इसलिये यहाँ असुर्यादिपदार्थं यथाव्यख्यात ही ग्राह्य हैं ।।५२।।

अन्धेन तमसावृताः ।

पश्वाद्याः स्थावरान्ताश्च सर्वेऽसुर्या भवन्ति ते ।
आवृतास्तमसा सर्वे ह्यन्धेनादर्शनात्मना ।।५३।।

पशुसे लेकर स्थावरपर्यन्त सभी असुर्य लोक हैं । अदर्शनात्मक तमसे वे आवृत हैं ।।५३।।

आत्महनो जनाः

विद्यमानात्मनः कार्यममरत्वादिवेदनम् ।
हतस्येव तिरोभूतं येषामात्महनस्तु ते ।।५४।।

विद्यमान आत्माका कार्य है अजर अमररूपसे अपनेको जानना ।

अजरत्वामरत्वादि प्रतीत नहीं होता है इसका अर्थ है आत्मा मृत सा हो गया। अतएव जिन्होंने आत्माके अजरत्वामरत्वादिको तिरोहित किया वे आत्मघाती हैं ॥५४॥

कर्णधारं गुरुं प्राप्य नृदेहं दुर्लभं प्लवम्।
भवाब्धिं न तरेत् सोऽयमात्महेति स्मृतेर्वचः ॥५५॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नमस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

इस प्रकार भागवतमें आत्मघातीका लक्षण कहा है। अर्थात् दुर्लभ मानवशरीररूपी जहाज और कर्णधार गुरुको प्राप्त किया। फिर भी भव-सागरको जो पार न होता हो वह आत्मघाती है ॥५५॥

नृजन्म दुर्लभं लब्ध्वा श्रुतिपारावलोकनम्।
मुक्तावयत्नोऽसद्ग्राहाद्धन्त्यात्मानं किलात्महा ॥५६॥

'लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं' इत्यादि विवेकचुडामणिका श्लोक यहाँ संक्षिप्त किया है ॥५६॥

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति

अवेदीदिह चेत् सत्यं महती नंष्टिरन्यथा।
असन्नेव भवेदेष ह्यसद् ब्रह्मेति वेद चेत् ॥५७॥

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति' 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इत्यादि श्रुतियोंमें आत्मघातीका स्वरूप सामने आता है ॥५७॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥५८॥

और तरहके आत्माको और तरहसे समझनेवाला आत्मापहारी चोर है, उसने क्या ही पाप नहीं किया, ऐसा महाभारतमें आया है ॥५८॥

गरीयान् सर्वपापेभ्य आत्मघातः प्रकीर्तितः।
प्रायश्चित्तं हि नास्त्यस्य फलं संसरणं ध्रुवम् ॥५९॥

समस्त पापोंसे बड़ा पाप आत्मघात है। उसके लिये प्रायश्चित्त भी नहीं है। जन्ममरणरूपी संसार फल उसका निश्चयेन होता है ॥५९॥

इति तृतीयमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

यस्यात्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्तेऽनात्महनस्तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते—अनेजदिति ।

जिस आत्मा के हनन से अज्ञानी संसार दुःख पाते हैं और उसके विपरीत ज्ञानी मुक्त होते हैं—आत्मघाती नहीं होते वह आत्मतत्त्व कैसा है ? सो कहते हैं—(अनेजत् इत्यादि से) ।

यदज्ञानात्संसरन्ति मूढा आत्महनो जनाः ।
वर्णयत्यात्मतत्त्वं तद् यज्ज्ञानान्मुच्यते बुधः ॥ १ ॥

जिसके अज्ञान से मूढ आत्मघाती जन जन्ममृत्यु संसारमें पड़ जाते हैं उस आत्मतत्त्वका वर्णन करते हैं जिसके ज्ञान से विद्वान् मुक्त होता है ॥१॥

नन्वीशावास्यमित्येवमीश्वरः प्रस्तुतः पुरा ।
आत्मतत्त्वं कथंकारं वर्ण्यत्वेनोपतिष्ठते ॥ २ ॥

न चात्मघातिनो मूढा पूर्वमन्त्रे विनिन्दिताः ।
आत्मतत्त्वं ततः प्राप्तं वर्ण्यत्वेनेति सांप्रतम् ॥ ३ ॥

आत्मानमन्यथा ज्ञात्वा संसरन्नात्महा भवेत् ।
इत्येषा भवतां व्याख्या, व्याख्यास्यामोऽन्यथा वयम् ॥४॥

ईशावास्यं ततो रक्षेदात्मानमिति शासनात् ।
ईशविज्ञानशून्यो हि निपतन्नात्महा भवेत् ॥ ५ ॥

युक्तं चैतद्वचन्यथा स्यादप्रस्तुतविनिन्दनात् ।
असुर्या नाम मन्त्रस्याप्यप्रासङ्गिकता ध्रुवा ॥ ६ ॥

पूर्वपक्ष :—ईशावास्य से ईश्वर प्रस्तुत हुआ था यहाँ अचानक आत्मतत्त्व की वर्णनीयता कैसे प्राप्त हुई ? यह कहें कि आत्मज्ञान शून्य मूढ आत्मघाती पूर्वमन्त्र में निन्दित हुये हैं । अतः आत्मतत्त्व भी वर्णनीय है तो उसका जवाव यही है कि यह आपकी व्याख्या है। आप कहते हैं कि आत्मा को अन्यथा जानकर आत्मघाती होने से जन्ममृत्यु संसार को प्राप्त होता है। परन्तु हम उसकी व्याख्या दूसरे ढंग से करेंगे। ईशावास्य में यह वताया कि ईशतत्त्व ज्ञान से जगत् का आच्छादन कर—सर्वत्र ईश्वरदर्शन कर आत्मा की रक्षा करो । यदि ईश्वरदर्शन नहीं करोगे तो पतित होकर

आत्मघाती बन जाओगे। ऐसी उसकी व्याख्या है और यही व्याख्या ठीक भी है। अन्यथा प्रथम मन्त्र में ईश्वर दर्शन की प्राप्तव्यता सूचित कर फिर आत्माके अदर्शन की अप्रस्तुत निन्दा हो जाने से "असुर्या नाम" यह मन्त्र ही अप्रासङ्गिक होगा। अतः ईश्वरदर्शनहीन ही आत्मघाती तृतीय मन्त्र में उक्त है ॥२–६॥

न चेशतत्त्वमेवात्र निरूप्यमिति सांप्रतम्।
यतो मनोजवीयस्त्वं सांनिध्यादात्मसंश्रयि ॥ ७ ॥

आत्मन्येवानुपश्येद्य आत्मैवाभूद्विजानतः।
इत्यग्रिमं च वचनमात्मतत्त्वानुयोगिकम् ॥ ८ ॥

तो बाबा क्यों बखेडा करना, ईशतत्त्व का ही "स पर्यगात्" इत्यादि में निरूपण है ऐसा ही मान लीजिये, क्या इसमें नुकशान ? नुकशान क्यों नहीं, 'मनसो जवीय' यहाँ मन के सांनिध्य से आत्मतत्त्व ही उपस्थित होता है। अगले मन्त्रों में भी 'आत्मन्येवानुपश्यति' 'आत्मैवाभूद्विजानतः' इस प्रकार आत्मा शब्द लेकर वर्णन हुआ है। ऐसी स्थिति में यहाँ ईशतत्त्व का वर्णन हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? ॥७–८॥

सत्यमीशात्मनोर्भेदं श्रुतिर्नैवावलोकते।
तत ईशपदेनोक्तमात्मत्वेनानुभाषते ॥ ९ ॥

सिद्धान्त :—आपका कथन सत्य है कि पहले ईश्वर से प्रारम्भ किया, फिर यहाँ आत्मा का वर्णन करने लगे और यह असंगत जैसा लगता है। वस्तुस्थिति यह है कि श्रुति ईश में और आत्मा में भेद ही नहीं देखती। अतएव ईश से प्रारम्भ कर आत्मपद से वर्णन करने लगी ॥९॥

नन्वात्मावास्यमित्येव कुतो नाह पुरा श्रुतिः।
उच्यतेऽहंकृतेर्मा भूदास्पदं वासकं त्विति ॥१०॥

यदि ईश में और आत्मा में श्रुति भेद नहीं देखती तो शब्द बदलकर बोलने की क्या जरूरत थी। 'आत्मावास्यमिदं सर्वं' ऐसा ही प्रारम्भ क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर सुनिये। कहीं अहंकारास्पद आच्छादक के रूप में उपस्थित न हो जाय इसके लिये अपरिच्छिन्न परमात्मलाभार्थं 'ईशा' पद का प्रयोग किया। शुद्ध आत्मा से उपक्रम होने के बाद फिर विपरीतार्थं उपस्थित नहीं होगा। अतः बाद में आत्मपदप्रयोग किया ॥१०॥

आत्मावास्यमिदं सर्वमिति भागवते पुनः ।
प्रारम्भोऽप्यात्मशब्देन संशयोच्छित्तये कृतः ॥११ ॥

श्रुति में ईश शब्द का अर्थ आत्मा से भिन्न कहीं कोई न कर ले इसके लिये भागवत में प्रारम्भ में भी आत्मावास्य ही शब्द रखा ॥११॥

श्रुतिस्तु निजरीत्यैव प्रबुबोधयिषुः सती ।
ईशावास्यमिति प्रहाऽखण्डार्थोपस्थितिप्रसूः ॥१२॥

तथा हि तत्पदार्थस्य प्राधान्येनादिमश्रुतिः ।
अनेजदेकमित्यादि त्वंपदार्थप्रधानतः ॥१३॥

स पर्यगादिति पुनरुभयैक्यप्रधानतः ।
समाभ्योऽस्नाविरोऽर्थान् हि व्यधादित्युभयेक्षणात् ॥१४॥

व्यर्थमस्नाविरत्वादि हीशेऽप्राप्तनिषेधनम् ।
समाभ्योऽर्थान् व्यधादेतज्जीवस्यासंभवार्थकम् ॥१५॥

तस्मादेकत्वमेवात्र सामानाधिकरण्यतः ।
जीवेशयोः श्रुतेरिष्टमसिशब्दार्थं एव सः ॥१६॥

यद्यपि भागवत में आत्मावास्य से उपक्रम किया तथापि श्रुति अपनी ही विशिष्ट रीति से प्रबोध कराने के लिए अखण्डार्थोपस्थित्यर्थ ईशावास्य से प्रारम्भ किया । अर्थात् 'ईशावास्य' यहाँ तत्पदार्थ का प्रधानतया निर्देश है। 'अनेजदेकं' इत्यादि में त्वं पदार्थ का प्रधानतया निर्देश है और 'स पर्यगात्' में असिपदार्थ का निर्देश है। क्योंकि वहाँ ईश्वर और जीव दोनों का सामानाधिकरण्य है। 'अकायमस्नाविरं' यह सब ईश्वर में अप्राप्त का निषेध हो जायेगा, अतः जीव में प्राप्त सशरीरत्व का वह निषेध है। प्रजापतियों को अर्थ विभाजन करना यह जीव का काम नहीं । अतः वह ईश्वर निर्देश है। इस प्रकार प्रथम ईश्वर वर्णन, फिर जीवका वर्णन फिर उन दोनों की एकता का वर्णन किया । यही तो श्रौतरीति है ॥१६॥

तस्मिन्नपो मातरिश्वेत्येतच्चैक्यप्रबोधकम् ।
तथापि तत्प्रसङ्गोक्तमुपपत्त्युपपत्तये ॥१७॥

यद्यपि 'अनेजदेकं' इस मन्त्र भी 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' से जीवेश्वरैक्य बोध होता है। तथापि वह षड्लिङ्गान्तर्गत उपपत्ति संपादनार्थ प्रसक्तङ्गो है ॥१७॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

वह आत्मतत्त्व निष्क्रिय तथा एक है, फिर भी मन से अधिक तेज गति है। पहले ही पहुँच जाने वाले इसको देवता पहुँच न सके। वह दौड़ने वाले अन्य सबको पछाड़ता है, अथ च स्थिर है। सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ उस आत्मतत्त्व की सत्ता में प्राणियों को कर्मफल विभाग करता है ॥४॥

अनेजद् न एजत् । एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वावस्था-

एजनरहित अनेजत् है। एज धातु का कम्पन अर्थ है। कम्पन अर्थात्

यत्त्वत्रात्मेति सर्वत्र परमात्मार्थकं वचः
इति तत्प्रतिवक्ष्यामो यथास्थानं यथाश्रुति ॥१८॥

द्वैती लोगों का कहना है कि आत्मन्येव इत्यादि सर्वत्र आत्मपद का परमात्मा परमेश्वर ही अर्थ है। उसका समाधान श्रुति के अनुसार यथास्थान ही बतायेंगे ॥१८॥

अनेजत्

न कम्पते नैजतीदमनेजदचलं स्वतः ।
आत्मतत्त्वं क्रियाशून्यं व्यापके तदयोगतः ॥१९॥

"एजृ कम्पने" कम्पन-चलन जिसमें न हो वह अनेजत् कहलाता है। स्वतः आत्मतत्त्व क्रिया शून्य है। व्यापक में क्रिया सम्भव नहीं है ॥१९॥

संयोगे च विभागे चाऽसमवायि हि कारणम् ।
क्रियामप्राप्तयोः प्राप्तिं संयोगं च बुधा जगुः ॥२०॥
व्यापकत्वान्न चाप्राप्तमात्मनः किंचिदेव हि ।
स्वशून्यदेशे स्वप्राप्तिर्व्यापकस्य कथं भवेत् ॥२१॥

"संयोगविभागासमवायिकारणं कर्म" यह क्रिया का लक्षण है। "अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः" यह संयोग का लक्षण है। अणु में

अच्युतिः, तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः । तच्चैकं सर्वभूतेषु ।
चलन यानी स्वरूपच्युति। उससे रहित अर्थात् जो सर्वदा एकरूप है। और वह समस्त प्राणियों में एक है।

क्रिया हुई इसका अर्थ है कि उसका पूर्वस्थान से वियोग हुआ और उत्तर स्थल से संयोग हुआ। भले ही अल्प मात्रा में हो, फिर भी प्राप्त देश का परित्याग और अप्राप्त देश की प्राप्ति क्रिया में होती ही है। व्यापक आत्मा में यह सम्भव नहीं है। वह खसकेगा तो कहाँ खसगेगा ? जहाँ वह नहीं वहाँ खसकना होगा, परन्तु वैसा कोई स्थान नहीं है ॥२०-२१॥

ननु भो बम्भ्रमच्चक्रं स्वीयधुर्यां निरन्तरम् ।
अप्राप्तदेशसंप्राप्तिं विनैव भ्रमतीति चेत् ॥२२॥

पूर्वपक्ष :—चक्र अपनी धुरी में ही जब निरन्तर घूमता है तब अप्राप्त देशप्राप्ति के बिना भी क्रियावान् देखने में आता है। वैसे आत्मतत्त्व भी अप्राप्त देशप्राप्ति के बिना घूमता है। ऐसा मानने में व्यापकत्व बाधक नह ं हो सकता ॥२२॥

मास्तु तस्य तदंशानां विस्पष्टं दृष्टिगोचरा ।
भवत्यप्राप्तसंप्राप्तिश्चक्रचङ्क्रमणस्थले ॥२३॥
न चात्मावयवाः सन्ति यैरप्राप्ताप्तिसंभवः ।
व्यापकत्वान्निरंशत्वादात्मा सिद्धयति निष्क्रियः ॥२४॥

उत्तर :—यद्यपि चक्र भ्रमणस्थल में चक्र की अप्राप्तदेशप्राप्ति नहीं है तथापि चक्रावयवों की अप्राप्तदेशप्राप्ति दृष्टिगोचर होती है। चक्रनेमि ऊपर नीचे होती दिखाई पड़ती है। इस प्रकार यदि आत्मा के अवयव होते तो सम्भव था। पर, आत्मा निरवयव है। अतएव व्यापक और निरवयव होने से आत्मा निष्क्रिय सिद्ध होता है ॥२३-२४॥

भीषास्मात्पवते वात इति श्रुत्यनुरोधतः ।
एजयन्नपि सर्वान् स नैवैजत्यत्यद्भुतः पुमान् ॥२५॥

उस आत्मा के भय से ही पवनादि क्रियावान होते हैं इस श्रुति से वह सबको कंपाता है, फिर भी स्वयं हिलता नहीं, यही तो उसमें आश्चर्य की बात है ॥२५॥

एकम्

एकं च सर्वभूतेषु प्रतिदेहं न भिद्यते ।

श्रुत्यन्तरं च तमिममर्थं स्पष्टमवोचत ॥२६॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥२७॥

वह समस्तभूतों में एक है प्रतिदेह भिन्न नहीं । जलचन्द्र के समान केवल नाना प्रतीत होता है ॥२६–२७॥

स्वसमानद्वितीयेन हीनमित्यपरे जगुः ।
तदसन्मुख्यशब्दार्थपरित्यागप्रसक्तितः ॥२८॥

समानोक्त्या गतार्थत्वाद् द्वितीयपदयोजनम् ।
मुख्यार्थाभासमानेतुं बलाद्यत्नो वृथा कृतः ॥२९॥

द्वैतवादी 'एक' का अर्थ करते हैं—स्वसमानद्वितीय रहित । किन्तु यह एकशब्द का मुख्यार्थ नहीं है । लाक्षणिक अर्थ तो कुछ भी किया जा सकता है । दूसरी बात स्वसमान द्वितीय यहाँ द्वितीय शब्द किसलिये है ? यह एक धोखामात्र है कि ये सुनने वालों को ऐसा लगे कि 'एक' का ही यह शब्दार्थ है । क्योंकि 'एक' का एक भी अर्थ है द्वितीयरहित भी अर्थ है । परन्तु 'स्वसमानरहितं' इतना ही पर्याप्त है । परमेश्वर के समान कोई संसारमें नहीं है । उसमें द्वितीय तृतीय बोलनेका क्या काम है ? ॥२८-२९॥

ननु स्वसदृशं स्वं स्यात् स्वशून्यं हि स्वयं कथम् ।
तस्माद् द्वितीयशून्यं हि वक्तव्यमिति चेन्न तत् ॥३०॥

तदसाधारणं धर्मं तद्भेदं च बिभर्ति यः ।
स एव तत्समः प्रोक्तः स्वयं न स्वसमो मतः ॥३१॥

गगनं गगनाकारमित्यादिवचमेषु तु ।
औपम्यशून्यकथनमालङ्कारिकभाषया ॥३२॥

पूर्वपक्ष :—स्वसमानद्वितीयरहितं ऐसे द्वितीयपद नहीं जोड़ेंगे तो स्वसमान तो स्वयं भी है, स्वशून्य स्वयं कैसे होगा ? उत्तर :—स्वसमान स्वयं नहीं होता । तद्भिन्न तद्गतासाधारणधर्मवान् ही तत्सम होता है । गगनं गगनाकरं इत्यादि में उपमा नहीं यही अर्थ है । न कि स्वसमान स्वयं । देवदत्त तो देवदत्त जैसा ही है इस भाषा प्रयोग में भी उपमाशून्य ही अर्थ है ॥३०–३२॥

स्वभिन्नं नेति मुख्यार्थ एव तत्रापि भण्यताम् ।
असाधारणधर्मोऽयं नैकार्थघटको यतः ॥३३॥

अस्तु, एक शब्द का 'स्वसमानं न' यही अर्थ है। ऐसे पूर्वपक्ष का उत्तर है कि 'एकंका स्वसमानं न' अर्थ नहीं, 'स्वभिन्नं न' यही अर्थ है। असाधारण धर्म भी एकपदार्थ घटक नहीं है ॥३३॥

नन्वेकत्वाख्यसंख्यैव मुख्यार्थः शब्दरीतितः ।
स त्वयापि परित्यक्तः स्वभिन्नाभाववादिना ॥३४॥

पूर्वपक्षः—एक शब्दका एकत्वसंख्या मुख्यार्थ है, वह तो आपको भी छोड़ना पड़ा, क्योंकि आप भी स्वभिन्नाभाव अर्थ कर रहे हैं ॥३४॥

नैवमेकत्वसंख्याया अव्यावर्तकता यतः ।
समभिव्याहृतान्यस्याभावोऽर्थस्तेन निश्चितः ॥३५॥

उत्तरः—एकत्व संख्या अव्यावर्तक है। क्योंकि एकत्व सर्वत्र रहता है। अतः एक शब्दके प्रयोगस्थलमें समभिव्यहृतसे अन्यका अभाव ही व्युत्पत्तिसिद्धार्थ है। जैसे यहाँ एक घट है कहनेपर यदि चार घट हो तो भी प्रत्येक घट एक-एक ही है। अतः द्वितीयाभाव ही अर्थ है ॥३५॥

नन्वेको घट इत्येवं पटसत्त्वेपि भण्यते ।
सजातीयान्यशून्यत्वं तस्माद्वक्तव्यमेव चेत् ॥३६॥
साजात्यघटितार्थोऽयं भवेल्लक्षणया क्वचित् ।
एक एव घटोऽत्रेति पटादेश्च निषेधनात् ॥३७॥

पूर्वपक्षः—सजातीय द्वितीयाभाव अर्थ ही करना चाहिये, नहीं तो पटके होनेपर यह घट एक है यह व्यवहार नहीं होगा। क्योंकि द्विगीय पट वहाँ है। उत्तरः—लक्षणासे कहीं सजातीयता जुड़ जाती है। यहाँ घटपटादि है ? प्रश्नके उत्तरमें यहाँ एक घट है कहा जाता है उससे पटादिका भी निषेध देखनेमें आता है ॥३६-३७॥

इदं सदासीदेकं चेत्येवं सामश्रुतिर्जगौ ।
परमात्मान्यशून्यत्वं स्पष्टार्थस्तत्र दृश्यते ॥३८॥
तद्विनिर्दिष्टनेकत्वं प्रत्यभिज्ञायतेऽत्र च ।
तस्माद् द्वितीयशून्यत्वमेवात्राप्येकशब्दितम् ॥३९॥
सजातीयविजातीयस्वीयभेदविवर्जितम् ।
एकमेवाद्वितीयं सदिह वाक्ये विवक्षितम् ॥४०॥

मनसः संकल्पादिलक्षणाज्जवीयो जववत्तरम्। कथं विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं, मनसो जवीय इति च। नैष दोषः। निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः। तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यतेऽनेजदेकमिति।

संकल्पविकल्पलक्षणयुक्त मनसे भी अधिक वेगवान् है। एक ओर ध्रुव निश्चल कहकर फिर मनसे भी अधिक यह वेगवान् है ऐसा कहना तो परस्परविरोधी है, ऐसा कैसे कहा जा रहा है? ऐसा दोषारोप यहाँ नहीं हो सकता। क्योंकि अनेजत् एकं ऐसा जो कहा वह निरुपाधिक अपनेरूपको लेकर है।

छान्दोग्यमें बताया है कि यह जगत प्रथम सत् ही था और वह सत् एक ही था। वहाँ सत्से अन्य द्वितीय नहीं था का अर्थ क्या है? द्वितीय सत् नहीं था यह अर्थ है तो द्वैतमतमें द्वितीय सत् जीवात्मा प्रकृति आदि है। द्वितीय परमेश्वर नहीं था अर्थ है तो पूर्व क्या, अभी कौनसे द्वितीय परमेश्वर हैं? और द्वितीय सत् नहीं था कहनेपर भी सत्पदसे किसकी व्यावृत्ति है? जैसे द्वितीय घट नहीं यहाँ पटकी व्यावृत्ति है। वैसे वहाँ असत्की व्यावृत्ति आप कहें तो क्या असत्को लेकर द्वितीयकी भी प्राप्ति होती है? अतः वहाँ परमात्मासे अन्य कोई भी द्वितीय नहीं था ऐसा अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। वही 'एक' यहाँ भी प्रत्यभिज्ञात हो रहा है। अतः यहाँ भी द्वितीयशून्य ही अर्थ है। वस्तुतः सजातीयविजातीयस्वीयभेदत्रयशून्य जो वहाँ अर्थ है वही यहाँ भी एकदेशोक्ति से विवक्षित है॥३८-४०॥

मनसो जवीय०

मनसश्च जवीयस्तन्नैनद्देना अवाप्नुवन्।
पूर्वमेव यतः प्राप्तं नभोवद् व्यापकत्वतः॥४१॥

वह आत्मतत्त्व मनसे भी अधिक वेगवान् है। और देवता भी उसे पहुँच न सके। क्योंकि वह पहले पहुँच जाता है। आकाशके समान व्यापक जो ठहरा॥४१॥

अनेजत्त्वे जवीयस्त्वं विरुद्धमिति चेन्न तत्।
अनेजदनुपाधि स्याज्जवीयः स्यादुपाधिमत्॥४२॥

मनसोऽन्तःकरणस्य संकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्तनाद् [इह] देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरस्थसंकल्पनं क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्। तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सति प्रथमं प्राप्त इवात्मचैतन्याभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह।

और मनसो जीवयः जो कहा वह संकल्पविकल्पलक्षणयुक्त अन्तःकरणात्मक मनरूपी उपाधिके अनुवर्तनको लेकर है। रहस्य यह है कि यहींपर शरीरस्थ मनका संकल्पसे ही क्षणभरमें ब्रह्मलोकादि दूरदेशगमन होता है। अतः मनका अतिवेगवत्त्व लोकमें प्रसिद्ध है। ऐसा वेगशाली मन ब्रह्मलोकादि अतिशीघ्र पहुँचता है तो पाता है कि आत्मचैतन्यप्रकाश पहले ही वहाँ पहुँच चुका है। अतः मनसे भी अधिक वेगवान् कहा।

पहले अनेजत् अर्थात् अचल कहा। फिर जवीयः—वेगवान्। यह तो परस्पर विरुद्ध है। इस आक्षेपका समाधान यह है कि निरुपाधिक स्वरूप निष्क्रिय है और उपाधिसे सक्रिय है ॥४२॥

ननु सर्वजविष्ठं हि मन एव भुवस्तले।
ततो जवीयो ब्रह्मेदं केन तावदुपाधिना ॥४३॥

पूर्वपक्षः—मन संसारमें सबसे अधिक वेगवाला है। उससे भी अधिक तेज कौन है? जिसको उपाधि बनाकर ब्रह्म मनसे भी अधिक तेज हो गया? क्योंकि ब्रह्म स्वतः तेज नहीं है। उपाधिसे ही तेज मानना होगा। और वह उपाधि मनसे भी ज्यादा तेज होना चाहिये ॥४३॥

न जवीय इवेत्याह पूर्वमर्षवितीरणात्।
व्यापकं प्रागिव प्राप्तं जवीय इव तत् खलु ॥४४॥

उत्तरः—ऐसा दोष यहाँ नहीं है। क्योंकि यहाँ जवीयका अर्थ है जवीय सा। न तो स्वयं जवीय है और न उपाधिसे ही जवीय है। किन्तु उपाधिसे जवीय जैसा प्रतीत होता है। व्यापक होनेसे चलनेवालोंको लगेगा कि यह पहले ही आ गया, अतः जवीय है। जैसे गाड़ी आदिमें दौड़नेवालोंको ऐसा लगेगा कि मेरेसे भी सूर्य आगे आगे दौड़ रहा है। आकाश पहले ही दौड़कर आ गया, मेरेसे पूर्व पहुँच गया ॥४४॥

अत्र भाष्यमनेजत्तत्स्वावस्थाच्युतिवर्जितम् ।
निरुपाधिकरूपेण सर्वदैकरसं परम् ॥४५॥

यहाँ भाष्यमें दूसरे ढंगसे जो व्याख्या की है उसका विवरण इसप्रकार है—अनेजत्‌का अर्थ है स्वावस्थाप्रच्युतिरहित निरुपाधिक रूपसे जो सर्वदा एकरस रहता है ॥४५॥

कम्पितं चलितं वस्तु स्वावस्थातः क्रमात् खलु ।
च्यवते यदनेजत्तन्न हि प्रच्यवते ततः ॥४६॥

प्रथम विचलित होता है तब स्वावस्थासे क्रमशः प्रच्युत होता है । जो विचलित नहीं होता वह च्युत भी नहीं होता ॥४६॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नेह नानास्ति किञ्चन ।
सजातीयविजातीयस्वीयभेदविवर्जितम् ॥४७॥

सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य ही एकका अर्थ है ॥४७॥

ननु चास्त्यात्मनानात्वं प्रतिकर्मव्यवस्थितेः ।
तन्नोपाधिभिदामात्रादुपपत्तिर्यतो भवेत् ॥४८॥

प्रतिकर्मव्यवस्थाके लिये (देददत्तके कर्मसे देवदत्तको फल, यज्ञदत्तके कर्मसे यज्ञदत्तको फल इस व्यवस्थाको प्रतिकर्मव्यवस्था कहते हैं) जीवनानात्व मानना चाहिये इस शंकाका उत्तर यही है कि उपाधिभेदसे ही प्रतिकर्मव्यवस्था संभव है । तदर्थ आत्मभेदकी आवश्यकता नहीं है ॥४८॥

नानूपाधय एवेमे नानास्स्याद् द्वैतरूपिणः ।
तच्च नोपाधिमिथ्यात्वान्नानात्वस्याप्रसक्तितः ॥४९॥

यदि कहें कि उपाधि अनेक होनेसे अद्वैत कहाँ रहा ? उसका उत्तर है—उपाधि मिथ्या है उनको लेकर द्वैत नहीं हो सकता ॥४९॥

नन्वात्मधर्मा भिद्यन्ते सुखदुःखादयः खलु ।
मैवं सुखादयो धर्मा चित्तस्था न तु चित्स्थिताः ॥५०॥

प्रतिकर्मसे जो सुखदुःखादि हैं वे आत्मधर्म नाना होनेसे द्वैत प्रसक्त है । इसका समाधान है कि सुखदुःखादि चित्तके धर्म हैं आत्माके नहीं । अतएव चित्त मिथ्या होनेसे सुखदुःखादि भी मिथ्या ही हैं । द्रष्टव्यः—इन तीन श्लोकोंमें प्रथम श्लोक सजातीयभेदनिराकरणार्थ, द्वितीय विजातीयभेदनिराकरणार्थ और तृतीय स्वगतभेदनिराकरणार्थ है ॥५०॥

नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि एनत्—प्रकृतम् आमतत्त्वं नाप्नुवन्—न प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनो जवीयः। मनोव्यापारव्यवहितत्वादाभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां विषयीभवति। यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत्—पूर्वमेव गतम्। व्योमवद्व्यापित्वात्। सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारवि-

नैनद्देवा—प्रकाशकारी होनेसे चक्षुआदि इन्द्रिय ही देव हैं। वे इस प्रकृत आत्मतत्त्वको नहीं पा सके। क्यों ? उनसे अधिक वेगवान् मन है। उस आगे जानेवाले मनका व्यवधान होनेसे आत्माका आभासमात्र भी चक्षु आदि देवोंका विषय नहीं बन पाता। क्योंकि वेगशाली मनसे भी पहले वह पहुंच जाता है, कारण आकाशके समान व्यापक होनेसे वह सर्वव्यापि है। ऐसा वह आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक स्वरूपसे समस्त संसारधर्मोंसे रहित होनेसे निर्विकार होता हुआ भी उपाधिके कारण समस्त

मिथ्यामायायुतात्तस्मादेतस्मादात्मः पुनः।
वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवनानि विजज्ञिरे ॥५१॥

अनन्तान्यत्र चाण्डानि प्राणिदेहास्तथैव च।
आत्मन्युद्भवंस्तत्र चानुप्राविशदीश्वरः ॥५२॥

इत्थं सकलसंसारधर्मवर्जित एव सः।
मायया सर्वसंसारधर्माननुभवत्यसौ ॥५३॥

अशेषविक्रियाशून्यं मायया सर्वविक्रियम्।
अनेजच्च जवीयश्चेत्येताभ्यामभ्युदीरितम् ॥५४॥

माया भी वास्तविक नहीं है अतः उसको लेकर भी द्वैतापत्ति नहीं। उस मायासे युक्त परमात्मासे आकाश-वायु-तेज-जल पृथिवी तथा उनसे अनन्त ब्रह्माण्ड तथा प्राणिशरीर हुए। फिर उनमें परमेश्वरने अनुप्रवेश किया और उन संसारधर्मोंको आप में आरोपित किया। इसप्रकार सर्वसंसारवर्जित होता हुआ भी मायासे सर्वसंसारधर्मयुक्त हुआ। सर्वविक्रियाशून्य भी सर्वविक्रियावाला बना, यही अनेजत् और मनसो जवीय इन दो विशेषणोंसे दिखाया है ॥५१-५४॥

क्रिया अनुभवतीवाऽविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिभासत इति एतदाह तद् धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान् मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येति अतीत्य गच्छतीव। इवार्थं स्वयमेव दर्शयति–तिष्ठदिति । स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः।

संसारविकारोंका अनुभव करता है । इसलिये अविवेकी मूढोंको प्रतिशरीर अनेक सा भो प्रतीत होता है और विकारी भी प्रतीत होता है । यह बात यहाँ कही जा रही है । वह द्रुतगामी अन्य अर्थात् आत्मभिन्न मन वाणी एवं इन्द्रियादिका अतिक्रमण मानो कर रहा है । 'मानो' कहनेका तात्पर्य स्वयं श्रुति आगे दिखा रही है—'तिष्ठत्' । अर्थात् स्वयं अविकारी होता हुआ ही दौड़ता हुआ स लगता है ।

मनोऽविषयतां चाह जवीयःश्रुतिरात्मनः ।
इन्द्रियाऽविषयत्वं च नैनद्देवा इति श्रुतिः ॥५५॥

"मनसो जवीयः" से आत्मा मनका अविषय है यह भी बताया । और "नैनद्देवाः" से इन्द्रिय अविषत्व भी कहा ॥५५॥

कथमर्थद्वयं युक्तं सकृदुच्चरिते पदे ।
नैष दोषोऽस्त्यार्थिकोऽयं द्वितीयार्थोऽनुदर्शितः ॥५६॥

द्वितीय अर्थ आर्थिक होनेसे एकवार उच्चारित शब्दसे ही दो अर्थ कैसे ऐसी शंकाके लिये स्थान नहीं है ॥५६॥

उत्तरार्धेऽथवा ज्ञेयो द्वितीयार्थोऽयमीरितः ।
तद्धावतोन्यानत्येतीत्येतमर्थं हि भाषते ॥५७॥

अथवा 'तद्धावतोऽन्यान्' इत्यादिसे यह अर्थ समझना चाहिये ॥५७॥

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्

इतश्चेतश्च धावन्ति ये वा विषयलोलुपाः ।
तेषु तिष्ठदपि ब्रह्म तानत्येति तिरोभवत् ॥५८॥
इति वाक्यमुपन्यस्य तमेवार्थं जगुः परे ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठदित्यस्य यत्नतः ॥५९॥

जो विषयलोलुप होकर इधर उधर भटकते हैं उनमें रहता हुआ भी ब्रह्म तिरोभूत होनेसे उनका अतिक्रमण करता है, इस वाक्यका उपन्यास

तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्क्रियात्मकः, यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च, यत् सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि विभजतीत्यर्थः । धारयति वा ।

नित्यचैतन्यस्वभाव उस आत्मतत्त्वके वर्तमान रहते हुए ही मातरिश्वा कर्मविभाजन करता है । मातरि श्वयति-माता अन्तरिक्षमें जो चलता हैं, उसे मातरिश्वा कहते हैं । अर्थात् वायु मातरिश्वा है । जो समस्त प्राणोंका पोषण करता है, क्रियात्मक है, जिसपर शरीर एवं इन्द्रियाँ आश्रित हैं, जिसमें समस्त वायु ओतप्रोत हैं, जिसका नाम सूत्र (सूत्रात्मा) है समस्त जगतको धारण करनेवाला है वह मातरिश्वा प्राणियोंकी तत्तत् चेष्टारूपी कर्मों एवं अग्नि, सूर्य, बादल आदिके ज्वलन, दहन, प्रकाशन एवं वर्षणरूपी कर्मोंको विभक्त करता है यह यहाँ अर्थ है । अथवा दधातिका धारण करता है ऐसा अर्थ है । प्राणियोंसे उन उन कर्मोंको मातरिश्वा कराता है ।

कर "तद्धावतः" इत्यादि श्रुतिका वही अर्थ कई लोग परिश्रमसे उपपादन करते हैं ॥५८-५९॥

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति

मातरिश्वा च सूत्रात्मा तस्मिन् सति परात्मनि ।
दधात्यपो विभजते यद्वासौ धारयत्यपः ॥६०॥
सोमादीनामबात्मत्वात्कर्मात्राप्शब्दितं श्रुतौ ।
पर्जन्यार्कानलादीनां वृष्ट्याभादहनादि तत् ॥६१॥

सोमयागादि जलप्रधान होनेसे अपःका अर्थ कर्म है । सूत्रात्मा परमात्माकी सत्तामें रहकर ही मेघ, सूर्य एवं अग्नि आदिके वृष्टि, प्रकाशन एवं दहनादि कार्योंका विभाग करते हैं या धारण कराते हैं ॥६०-६१॥

ननु सोमादियागानां फलं स्वर्गादि चेतितुः ।
न त्वचेतनपर्जन्यप्रभृतेः कर्म तत्फलम् ॥६२॥

भीषास्माद्वातः पवत इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

श्रुति कहती हैं—इसी (परमात्माके) भयसे वायु चलता है इत्यादि ।

पूर्वपक्षः—यदि अप् पदका सोमादियाग अर्थ करते हैं तो भी उसका फल स्वर्गादि होता है, सो भी चेतन कर्त्ताको मिलता है, न कि वृष्टि आदि, तत्रापि मेघादिको ॥६२॥

मैवं सर्वमिदं कार्यं कर्मजं वेदसम्मतम् ।
तस्माद् वृष्ट्यादिकं सर्वं कार्यं कर्मफलं स्थितम् ॥६३॥

उत्तरः—समस्त कार्य कर्मजन्य है ऐसा वैदिक सिद्धान्त है । अतः वृष्टि आदि भी कर्मका ही फल है ॥६३॥

ननु कर्तुर्भोगकरं कर्म संकीर्त्यते बुधैः ।
वृष्ट्यादि भोगहेतुत्वात् कामं कर्मफलं भवेत् ॥६४॥

तथापि तद्विभजनं सफलं नैव चक्ष्महे ।
अन्तरेण विभागं तत् किं न सम्पत्तुमर्हति ॥६५॥

पर्जन्याद्वाऽस्तु सूर्याद्वा वृष्टिः किं तेन देहिनाम् ।
वृष्ट्या भोगो न तु पुनर्विभागादिति चेन्न तत् ॥६६॥

पूर्वपक्षः—कर्म कर्ताका भोगप्रद है यही सिद्धान्त है । वृष्टि प्रकाशन आदि भोगकारी होनेसे भले कर्मफल हो, लेकिन उसके विभागका कोई प्रयोजन नहीं है । क्या विना विभाग भोग नहीं बनेगा ? वृष्टि मेघसे हो चाहे सूर्य से उससे क्या मतलब ? वृष्टिसे भोग होता है विभागसे नहीं । अतः कर्मविभागमें कोई मूल नहीं ॥६४-६६॥

मैवं नियमराहित्ये न भोगनियतिर्भवेत् ।
नियमार्थो विभागोऽयमेष्टव्य इति निश्चितम् ॥६७॥

उत्तरः—पर्जन्यसे ही वृष्टि होती है सूर्यसे ही प्रकाशन होता हैं ऐसा नियम न होनेपर भोगका भी नियम नहीं बनेगा । नियतकर्मका नियतभोग फल है । अतः विभाग भी मान्य करना पड़ेगा ॥६७॥

मेघेक्षणविशिष्टैतद्वृष्टिभोगश्च नाञ्जसः ।
मेघादेव भवेद्वृष्टिरित्येव नियमो न चेत् ॥६८॥

दूसरी बात मेघसे धारा सम्पात हो रहा है यह दर्शन और मान लीजिये सूर्यसे धारा सम्पात हो रहा है उसका दर्शन ये दोनों समान नहीं

है। मेघासारदर्शनविशिष्टवृष्टिभोग यह एक विलक्षण भोग है। वह मेघसे वृष्टि होनेपर ही सम्पन्न हो सकता है सूर्यसे वृष्टि होनेपर नहीं। अतः कर्मविभाग आवश्यक है ॥६८॥

किं च जीवा इमे विद्याकर्मभ्यां पौर्वकल्पिकाः ।
अग्न्यादिभावमापन्ना इति काचन न क्षतिः ॥६९॥

दूसरी बात यह भी है कि अग्निपर्जन्यादि पूर्वकल्पमें कर्म एवं उपासना करनेवाले जीव ही थे। वे ही इस कल्पमें अग्नि आदि बने। अतः कर्मानुसार उनके कार्योंका विभाजन भी अवश्यंभावी है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥६९॥

भीषास्मात्पवते वातो भीषोदेति दिवाकरः ।
भीषाग्निश्च तथेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥७०॥

इत्यादयश्च श्रुतयः प्रोक्तमर्थं वदन्त्यमूः ।
परमात्मभयादेव सर्वकार्याभिधापराः ॥७१॥

उपरोक्त अर्थ 'भीषास्मात्' इत्यादि श्रुति भी कहती है। श्रुतिका अर्थ है कि परमात्माके भयसे ही वायु सूर्य इन्द्र मृत्यु आदि अपना-अपना कार्य करते हैं। श्रुतिसे एक यह अर्थ स्पष्ट होता है कि परमात्माकी सत्तासे ही सभी कार्य होते हैं। दूसरा अर्थ यह कि सूर्यादि पूर्वकल्पीय जीवविशेष ही इस कल्पमें सूर्यादि बनकर स्वकर्मानुसार परमेश्वरनियन्त्रित होकर कार्य करते हैं। जडको भला भय किससे कैसे हो ॥७०-७१॥

ननु च ब्रह्मणो भीषा प्रवर्तन्तेऽनिलादयः ।
तत्र मध्ये कथंकारं मातरिश्वा समागतः ॥७२॥

उच्यतेऽत्रोपसंहारन्यायाद् भीषेति च श्रुतौ ।
मातरिश्वा निबोद्धव्यो मध्येकारणभावतः ॥७३॥

पूर्वपक्षः—'भीषास्माद्वातः पवते' इत्यादि श्रुतिमें साक्षात् परमात्मासे प्रयुक्त होकर वातादि स्वकार्य करते हैं यह बताया। वहाँ बीचमें सूत्रात्मा कैसे आ गया। अर्थात् उस श्रुतिमें और प्रकृतमन्त्रमें विषयभेद है। अतः वह श्रुति प्रकृतार्थमें प्रमाण नहीं है। सिद्धान्तः—उपसंहारन्यायसे भीषास्मात् इस श्रुतिमें भी मध्यमें सूत्रात्माको जोडना चाहिये। अन्यथा श्रुति-

द्वयका सामञ्जस्य न होगा। परमात्माकी सत्तामें सभी कार्य होते हैं इतने अंशमें दोनों समान ही हैं ॥७२-७३॥

विना नाध्यात्मिकप्राणांश्चक्षुरादिप्रवृत्तयः।
विनाधिदैविकप्राणं न सूर्यादिप्रवृत्तयः ॥७४॥

आध्यात्मिक प्राणके विना चक्षुरादि देवों (इन्द्रियों) की प्रवृत्ति नहीं होती यह प्रत्यक्षसिद्ध है। उसी प्रकार अधिदैविक प्राण (सूत्रात्मा) के विना सूर्यादि देवोंकी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥७४॥

प्रवर्तयन्ति न प्राणा अन्तरात्मानमन्तरा।
आध्यात्मिकांश्चक्षुरादीनित्येतत्सार्वलौकिकम् ॥७५॥

प्रवर्तयति न प्राणः सूत्राख्यश्चाधिदैविकः।
पर्जन्यवह्निसूर्यादीन् परमात्मानमन्तरा ॥७६॥

अब आगे देखिये अन्तरात्माके विना प्राण चक्षुरादिको प्रवर्तित नहीं करता यह प्रत्यक्षसिद्ध है। मरा हुआ आदमी चलता फिरता नहीं है। वैसे ही सूत्रात्मारूपी मुख्यप्राण भी परमात्माके विना सूर्यादिको प्रवर्तित नहीं कर सकता। फलतः आत्मा और प्राण दोनों ही से प्रवृत्ति होती है। अतएव 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' यह सम्यक् बताया ॥७५-७६॥

मातरिश्वा क्रियाशक्तिप्रधानः सूक्ष्मविग्रहः।
उपपत्तिरितः श्रुत्या परमात्मनि दर्शिता ॥७७॥

यहाँ मातरिश्वा सूत्रात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है सूक्ष्मसमष्टिरूप है। "तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" यह उपपत्तिकथन है ॥७७॥

प्रत्यक्ष एवात्र वायुरप इत्युपलक्षणम्।
मेघचन्द्रग्रहर्क्षादीन् दधातीत्यपरे जगुः ॥७८॥

यहाँ द्वैतियोंकी व्याख्याका एक नमूनाः—मातरिश्वाका प्रत्यक्ष वायु ही अर्थ है। अतः यह उपलक्षण है। मेघ, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि सबको प्रत्यक्ष वायु ही धारण करता है ॥७८॥

तदसद् दृश्यमानोऽस्मिन्न वायुश्चन्द्रमण्डले।
इति वैज्ञानिकास्तत्र गत्वा दृष्ट्वा निरब्रुवन् ॥७९॥

सर्वा हि कार्यकरणादिविक्रिया नित्यचैनन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पद-भूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः ॥४॥

तात्पर्यार्थ यही है कि समस्त कार्यकरणादि विकार सर्वास्पद नित्यचे-तन्यके अस्तित्वपर ही आधारित हैं ॥४॥

द्वैतियोंकी यह केवल अन्धपरम्परा है। वैज्ञानिकलोग राकेटसे चन्द्र-मण्डलमें जाकर आ गये। उन्होंने स्पष्ट देखा कि चन्द्रमण्डलमें वायु है ही नहीं। इतनेसे स्पष्ट है कि दुराग्रहमें आकर द्वैतियोंने ऐसा ही अनर्थ सब जगह किया है ॥७९॥

अस्माक तु न तात्पर्यं मिथ्यासंसारवर्णने।
प्रत्यगात्मप्रबोधाय प्रक्रिया काचनाश्रिता ॥८०॥

यदि कहें कि अद्वैतमतमें भी कहीं-कहीं विज्ञानविरुद्ध बात लिखी मिलेगी तो? कुछ नहीं, हमारा मिथ्या संसारवर्णनमें तात्पर्य ही नहीं है। प्रत्यगात्मबोधके लिये किसी प्रक्रियाका आश्रयण किया है। विज्ञानविरुद्ध बात आ जाय तो दूसरी प्रक्रिया पकड़ लेना चाहिये ॥८०॥

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता ॥८१॥

इसमें प्रमाण यही सुरेश्वराचार्यवचन है—यया यया इत्यादि ॥८१॥

सर्वाश्च कार्यकरणक्रियास्तस्मिन् परात्मनि।
सम्पद्यन्ते हि सत्येवेत्यत्र पिण्डीकृताशयः ॥८२॥

यहाँ सारांश इतना ही है कि आध्यात्मिक आधिदैविकादि समस्त कार्यकरणक्रिया उस परमात्माके संनिधानमें ही होती है ॥८२॥

—:०:—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

वह (आत्मा) चलता और नहीं चलता है। वह दूर और नजदीक है। वह सबके अन्दर है और बाहर भी है ॥५॥

न मन्त्राणां जमितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह– तदेजतीति । तदात्मतत्त्वं यत् प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति, स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः ।

मन्त्रोंको आलस्य नहीं होता। अतः पूर्वमन्त्रमें बताये हुए भी अर्थको पुनः कहते हैं। 'तद्' जो आत्मतत्त्व प्रकृत है वह चलता है और वही स्वयं नहीं भी चलता अर्थात् स्वयं अचल होता हुआ भी चलता हुआ सा होता है।

पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं प्रब्रवीति पुनः श्रुतिः ।
मन्त्राणां जामिता नास्ति निजार्थप्रतिपादने ॥१॥

पूर्व मन्त्रमें कहे हुए भी अर्थको श्रुति फिरसे कह रही है। क्योंकि मन्त्रोंमें आलस्य पुनरुक्ति आदि दोष नहीं होते ॥१॥

तदेजति तन्नैजति

चलतीव विकारीव ह्यचलं तदविक्रियम् ।
उपाधिसदसद्भावप्रयुक्तस्योभयात्मता ॥२॥

श्रुतिमें एजतिका अर्थ है कि वह चलनस्वभाववाला जैसा है, अर्थात् विकारी जैसा है। वस्तुतः वह अचल अर्थात् अविक्रिय है; यह नैजतिका अर्थ है। उपाधिके होनेपर विकारी जैसा और निरुपाधिकरूपसे निर्विकार है ॥२॥

विरुद्धार्थसमावेशं केचिदिच्छन्ति सूरयः ।
श्रुतेरेव प्रमाणत्वादचिन्त्यार्थनिरूपणे ॥३॥

कुछ लोगोंका कहना है कि चलन तथा स्थिरता दोनों ही ब्रह्ममें संभव है। यही ब्रह्मका विचित्र शक्तियोग है। इसमें प्रमाण श्रुति ही है। अचिन्त्यके विषयमें तर्कको जोड़ना ठीक नहीं है। श्रुतिने एजति नैजति दोनों कहा। अतः दोनों वहाँ मान्य करना चाहिये ॥३॥

मीमांसा प्रायशस्तेषामफला जायते सताम् ।
श्रुतिद्वैते विरुद्धार्थसमावेशस्य संभवात् ॥४॥

उनके मतमें प्रायः मीमांसा ही निष्फल होगी। सीमांसाका अर्थ है वाक्यार्थ विचार। यथाश्रुत वाक्यार्थ ही सर्वत्र करना है तो विचार व्यर्थ है। जहाँ अर्थविरोध हो वहाँ विरुद्धार्थसमावेश कहकर समाधान किया जा सकता है ॥४॥

आदित्यो यूप इत्यादावादित्यत्वं श्रुतीरितम् ।
अतीन्द्रियमुपादेयं श्रुतेः सार्थकतापि च ॥५॥

पूर्वमीमांसामें आदित्यो यूपः (खंभा आदित्य है) यहाँ अथाश्रुत अर्थ ही लेकर खंभेमें अतीन्द्रिय श्रुत्येकगम्य आदित्यत्व मानना पड़ेगा। और उस ज्ञानको यागादृष्टजननमें उपयोगी मानना होगा ॥५॥

असद्वा इदमग्रेऽभूदिति श्रुत्यासदप्यदः ।
मन्तव्यं स्यान्न चान्यार्थकृतिरत्रापि युज्यते ॥६॥

'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस श्रुतिसे ब्रह्मको असत् भी मानना पड़ेगा। जगत् अव्याकृत था ऐसा अर्थ किया जाय यह नहीं कह सकते। असत्का असत् ही प्रसिद्धार्थ है श्रुतिने कहा तो आपको उसपर ऊहापोह करनेका क्या हक ? ॥६॥

विवक्षखण्डनं चैव यन्नैकस्मिन्नसंभवात् ।
इत्युक्तं नोपपद्येत विरुद्धार्थप्रवेशतः ॥७॥

स्याद्वादका निराकरण 'नैकस्मिन्नसंभवात्' इस अधिकरणमें जो किया वह भी नहीं बनेगा। अस्तित्व एक ही में संभव है। 'सच्चासच्च' 'विश्वं सदसदात्मकं' इत्यादि प्रमाण उसमें भी प्राप्त होगा। और स्याद्वादवादी कहेंगे जैसे आप श्रुतिप्रमाणसे ब्रह्ममें विरुद्ध धर्म मानते हैं, वैसे हम भी अपने आचार्यवाक्यप्रमाणसे जगत्में विरुद्ध धर्म मानेंगे। जैनाचार्यवाक्य अप्रमाण हैं कहें तो उतना ही कहना पर्याप्त होगा। नैकस्मिन्नसंभावत् इत्यादि अधिकरणरचना तो व्यर्थ ही पड़ेगी ॥७॥

किं च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद् दूर इव। तद् उ अन्तिक इति च्छेदः तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वात्।

यही नहीं वह दूरस्थित है, अज्ञानियोंके लिये करोड़ों वर्षोंमें भी अप्राप्य होनेसे दूरस्थित जैसा है। तद् उ अन्तिके ऐसा पदच्छेद है। विद्वानोंके लिये अति समीप भी है क्योंकि वह आत्मा ही है।

तद्दूरे तद्वन्तिके

दूरे तिष्ठति केषांचिदात्मतत्त्वमिदं परम्।
केषांचिदन्तिके चैव तद्धि भावविशेषतः ॥८॥

वह आत्मतत्त्व किसीके दूर रहता है और किसीके समीप। भावभेदसे दोनों उपपन्न है ॥८॥

पराङ्मुखानां गोविन्दे विषयासक्तचेतसाम्।
तेषां तत्परमं ब्रह्म दूराद् दूरतरे स्थितम् ॥९॥

तन्मयत्वेन गोविन्दे ये नरा न्यस्तचेतसः।
विषयत्यागिनस्तेषां विज्ञेयं च तदन्तिके ॥१०॥

इति शौनकवाक्येन ब्रह्म दूरेऽन्तिकेऽपि च।
ब्रह्मात्मकं चात्मतत्त्वं ततो दूरेऽन्तिकेऽपि तत् ॥११॥

शौनकका वचन है—जो भगवान्से विमुख हैं विषयासक्त हैं उनके लिये ब्रह्म दूर है और विषयत्यागी तन्मयतासे भगवान्में अर्पितचित्तवालोंके लिये नजदीक है। ब्रह्मरूप ही आत्मतत्त्व होनेसे वह भी दूर और अन्तिकमें सिद्ध होता है ॥९-११॥

विषयत्यागिनो ये च वासुदेवोन्मुखा अपि।
अविद्वांसो यदि तदा दूरे तेषां च तन्मतम् ॥१२॥

विषयत्यागी हैं वासुदेवोन्मुख हैं फिर भी यदि अविद्वान् हो तो भी ब्रह्म दूर ही में रहता है ॥१२॥

व्योम नीलात्मकं मत्वा तदारोढुमनाः पुमान्।
वर्षकोटिशतायस्तोऽप्यप्राप्यैव निवर्तते ॥१३॥

न केवलं दूरेऽन्तिके च, तदन्तः—अभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य, य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतेः।

केवल दूर और समीप ही नहीं, वह सबके अन्दर है "जो आत्मा सबके अन्दर है" ऐसा श्रुतिवचन है।

यावद्यावत्प्रयात्यग्रे नीलं दूरादपैति खम्।
तथैवाविदुषा त्या दूरं तिष्ठति सर्वदा ॥१४॥

आकाशको नीला समझकर वहाँ चढ़नेकी इच्छासे करोड़ वर्ष तक राकेटमें ऊपर जाता रहे तो भी वह उसे अप्राप्त होकर ही लौटेगा। ज्यों ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों त्यों नीलवर्णात्मक आकाश भी आगे बढ़ता दिखाई पड़ेगा। उसी प्रकार अविद्वान्‌से ब्रह्म भी दूर रहता है। भले उसे पकड़ने उसके पीछे लगा हो ॥१३-१४॥

नीलं खमिति मे भ्रान्तिर्व्यापकं हि नभस्तलम्।
इत्येवंविदुषो व्योम लब्धमेव हि सर्वदा ॥१५॥
नैवात्मा पर्वताग्रादौ किन्तु व्यापकविग्रहः।
इत्येवंविदुषो नित्यप्राप्तेरत्यन्तमन्तिके ॥१६॥

दूर दिखाई देनेवाला नीलवर्ण ही आकाश है यह तो मेरी भ्रान्ति है आकाश व्यापक है इतना जो जानता है उसको आकाश मिला ही मिला है। वैसे—आत्मा ब्रह्म पर्वतकी चोटी आदिमें नहीं, वह व्यापक है, ऐसा जाननेवालोंको वह अत्यन्त अन्तिक नित्यप्राप्त है ॥१५-१६॥

तथा च व्यापकत्वात्तद् ब्रह्म दूरेऽन्तिकेपि च।
अत एवान्तरप्येव सर्वस्य बहिरप्यदः ॥१७॥

व्यापक होनेसे ही दूरमें भी नजदीकमें भी वह ब्रह्म स्थित है। अतएव सबके अन्दर भी और बाहर भी है ॥१७॥

तदन्तरस्य सर्वस्य

तदन्तरस्य सर्वस्य नामरूपक्रियात्मनः।
अन्तरात्मस्वरूपेण सर्वान्तर इति श्रुतेः ॥१८॥

'तदन्तरस्य सर्वस्य' इस श्रुत्यंशका अर्थ है कि नामरूपक्रियात्सक जगत्‌का वह अन्तरात्मा है। 'य आत्मा सर्वान्तरः' ऐसे अन्य श्रुतिमें भी कहा है ॥१८॥

अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य। तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतः, व्यापकत्वादाकाशवत् ।

वह नामरूपक्रियात्मक समस्त जगत्के बाहर भी है । क्योंकि आकाशकें समान व्यापक है ।

कपालो हि घटस्यात्मा कपालस्य कपालिका ।
तस्या मृच्चूर्णमेवात्मा चूर्णस्य परमाणवः ॥१९॥
तन्मात्रा परमाण्वात्मा रसादिक्रमतः पुनः ।
तदात्मा शब्दतन्मात्रा तदात्मा सकलान्तरः ॥२०॥

घटकी आत्मा (वास्तविकस्वरूप) कपाल है । कपालकी कपालिका आत्मा है । कपालिकाकी मृच्चूर्ण, मृच्चूर्णकी परमाणु आत्मा है । परमाणु की तन्मात्रा (पृथिवी तन्मात्रा) उसकी जलतन्मात्रा, उसकी वायुतन्मात्रा और वायुतन्मात्राकी आकाशतन्मात्रा आत्मा है। आकाशतन्मात्राकी भी जो आत्मा है वही सर्वान्तर ब्रह्म है । उसीको प्रत्यगात्मा परमात्मा आदि भी कहते हैं । यह घटकी परम आत्माका विवेचन हुआ । इसी प्रकार पटादिमें भी समझना चाहिये ॥१९-२०॥

तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः

एवं घटादौ विज्ञेय आत्मा सर्वान्तरः परः ।
घटादेः किं च विज्ञेयस्तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥२१॥
घटाद्यभाव एवात्र बाह्यशब्देन बोध्यते ।
घटं च तदभावं च प्रकाशयति तद्यतः ॥२२॥

'तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' का अर्थ है:—घटादि सभी वस्तुओंके बाहर भी ब्रह्म है । घटादिसे बाहरका अर्थ है घटाद्यभाव । घट एवं घटाभावको भी वही प्रकाशित करनेवाला है । (यह यहाँ रहस्यार्थ बताया गया) ॥२१-२२॥

यत्र नैतज्जगत्सर्वमात्मा तत्रापि वर्तते ।
इति केचिदिहाचख्युः किन्तु कुत्रेति नाब्रुवन् ॥२३॥
गगनाभावदेशो हि न तेषां संभवेत्क्वचित् ।
कालदिग्गगनादीनां व्यापकत्वाभ्युपायनात् ॥२४॥

यत्राप्यप्राकृतं व्योम शब्दस्पर्शाद्युपेयते ।
तत्राप्येतत्त्वमास्थेयं न स्याद्व्यापकमन्यथा ॥२५॥

कुछ लोगोंने व्याख्या की है कि इस जगत्के बाहर भी आत्मा है। जगत् जहाँ नहीं वही जगत्का बाह्यस्थान है। परन्तु उन्होंने यह नहीं वताया कि कहाँ यह जगत् नहीं है। जगत्कें अन्तर्गत आकाश काल दिशा आदि भी आते हैं उनका यदि अभाव कहीं मानेंगे तो वे अव्यापक होंगे। जहाँ दिव्य शब्दादि मानते हैं वहाँ भी इस आकाशको मानना पड़ेगा। या फिर यह कहना होगा कि इस व्यापक आकाशका एक टुकड़ा दिव्य है। परन्तु ऐसा मानना केवल मखौल नहीं तो क्या होगा ॥२३-२५॥

रूपादौ गगनाभावमुपगच्छन्ति तार्किकाः ।
तस्मान्न गगनाभावाऽप्रसिद्धिर्मामके मते ॥२६॥
नन्वेवंरूपमेवास्तु व्योम बाह्यं ममेति चेत् ।
आत्मा रूपेऽस्ति तदिदं तदन्तरिति सिद्ध्यति ॥२७॥

यदि सिद्धान्तमें घटवाह्यका घटाभाव अर्थ करते हैं तो भी गगनाभाव अप्रसिद्ध है इसका समाधान यह है कि गगनाभाव अप्रसिद्ध नहीं है। रूपादिमें नैयायिकोंने गगनाभावको प्रसिद्ध माना है। यदि कहो कि तव मेरे मतमें भी गगनाभाववान् रूपादि हो जायेंगे। ठीक है। तो गगनादिसे बाहर आत्मा है इसका अर्थ होगा कि रूपादिमें आत्मा है। परन्तु इतना अर्थ तो तदन्तरस्यसे चरितार्थ है। अस्य अन्तर्से रूपके अन्दर यह भी तो अर्थ आ सकता है ॥२६-२७॥

इदंपदार्थो नाभावो नाभावेऽस्ति पदार्थता ।
अभावेऽपि च बाह्यः स्यात्सत्यबाह्यं यथानृतम् ॥२८॥

'तदन्तरस्य' महाँ अस्यका यदि रूप अर्थ होता है तो अभाव अर्थ भी तो हो सकता है। अतः अभावमें आत्मा उक्तवाक्यसे क्यों नहीं सिद्ध है ? इसका उत्तर यह है कि अभाव कोई पदार्थ नहीं है। कोई दरिद्र यह कहे कि मेरे पास वहुत पदार्थ हैं। क्या पदार्थ हैं ? घटाभाव पटाभाव धनाभाव ये सब पदार्थ मेरे पास हैं, भला सुननेवाला कोई बच्चा भी हो तो वह भी हँसेगा। अयं घटाभाव इत्यादि शास्त्रकारोंका पारिभाषिक व्यवहारमात्र है। वस्तुतः भूतलमें घटबुद्धि न हो एतदर्थ घटो नास्ति कहा जाता है। केवल भूतल वहाँ अर्थ है। न कि घटाभाव नामका एक पदार्थ भूतलपर

निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् अन्तः प्रज्ञानघन एवेति शासनान्निरन्तरं च ॥५॥

तथा अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे भीतर है। वह प्रज्ञानघन ही है इस श्रुतिके अनुसार बाहर भीतर ऐसा विभागरहित होकर निरन्तर भी है ॥५॥

बैठा है। अभाव असद्रूप होता है। उसका भी प्रकाशन घटोनास्ति यहाँ होता है। अतएव बाह्यमें है यह उक्ति भी संगत है। असत् अभाव भी भावबाह्य है जैसे अनृत सत्यबाह्य है ॥२८॥

अस्तु वेदंपदार्थो हि बुद्धिस्थोऽग्रिमभूतसत्।
भवन्तीति च भूतानि भावा एव न चेतरः ॥२९॥

यदि अभाव भी पदार्थ है। ऐसा आग्रह आपका है तो भी यहाँ इदंपदार्थ बुद्धिस्थ भाव पदार्थ ही है। क्योंकि अग्रिममन्त्रमें भूतानि कहेंगे। भवन्तीति भूतानि यह व्याख्या हम आगे करेंगे। भवन्ति इस विग्रहसे भाव पदार्थ सिद्ध होता है। अभाव पदार्थ नहीं ॥२९॥

अयंशब्दो न चाभावे लोके क्वापि प्रयुज्यते।
उपादानं च दुर्ज्ञानं येनात्मा स्यात्तदन्तरः ॥३०॥

पूर्वपक्षः—अभाव यद्यपि पदार्थ है फिर भी इदं पदसे अभावेतर पदार्थको बताया। फिर अभावको बाह्यपदसे ग्रहण किया। यही आपका वक्तव्य है किन्तु इसकी अपेक्षा इदंशब्दसे भावअभाव सभीको लेकर तदन्तरस्य इसप्रकार लाघवात् एकोक्तिसे काम क्यों नहीं लिया ? इस पूर्वपक्षका उत्तर यही कि लोकमें कहीं भी अभावके लिये इदंपदका प्रयोग नहीं होता है। असलमें 'अभाव' यह शब्द पारिभाषिक है। लोकमें 'न' शब्दसे ही अभावका व्यवहार होता है (यह न्यायग्रन्थोंमें भी स्पष्ट बताया है) मेरे पास धनका अभाव है इत्यादि लौकिक प्रयोग भी शास्त्रीयपारिभाषिक शब्द संस्कारमात्रासे प्रयोग है। वस्तुतः मेरे पास धन नहीं है यही व्यवहार होता है। तिसपर भी अभावके साथ 'यह' शब्दका प्रयोग नहीं होता। मेरे पास जो धनाभाव है वह यह है ऐसा कोई भी नहीं बोलता। दूसरी बात-अभावकी अन्तरात्मा माने उपादानरूपआत्मा। अभाव असत् होनेसे उसका उपादान संभव नहीं है। अतः सर्वस्य बाह्यतः यह कहना आवश्यक है ॥३०॥

विरुद्धधर्माक्रान्तानां विभज्य कथनं तथा।
व्युत्पित्सूनां कृते शास्त्रे यथासंभवमीक्ष्यते ॥३१॥

और विरुद्धधर्माक्रान्त मूर्तामूर्त भावाभावादिका यथासंभव विभागके साथ कथन करना शास्त्रोंमें बहुधा देखनेमें आता है ॥३१॥

नन्वन्तरात्मेत्येतेन घटकारणमुच्यते।
वाह्यशब्दो घटाभावो घटः कस्तर्ह्युदीरय ॥३२॥
अत्रोच्यते घटोऽप्यात्मा प्रज्ञानघनशासनात्।
प्रज्ञानं कारणं कार्यं तदभावश्च सर्वशः ॥३३॥

घटका कारण आत्मा है (तदन्तर) घटाभाव भी आत्मा है (तदु बाह्यतः) लेकिन घट क्या है ? उत्तरः—घट भी आत्मा है। "प्रज्ञानघनः" ऐसे श्रुतिमें बताया है। सारांश यह कि कारण कार्य एवं तदभाव सभी आत्मा ही है ॥३२-३२॥

प्रज्ञानैकरसे तत्त्वे परमात्मनि मायया।
कार्यं च तदभावश्च स्रजि दण्डोरगादिवत् ॥३४॥

प्रज्ञानैकरस परमात्मतत्त्वमें कार्य एवं तदभाव मालामें दण्डसर्पादिवत् कल्पित है ॥३४॥

अन्तर्यामिश्रुतेः केचिदन्तस्तिष्ठन्तमब्रुवन्।
तन्नान्तर्देशविरहादणूनां तदयोगतः ॥३५॥

'अन्तरका' अर्थ है अन्दर रहनेवाला। अन्तर्यामी श्रुति इसमें प्रमाण है। ऐसा कुछ लोग मानते हैं। वह संगत नहीं, करण अणुओंका अन्तर्भाग ही कहाँ है ? ॥३५॥

ननु चात्मनि तिष्ठन्य इति श्रुत्यात्मनो ह्यणोः।
यथान्तस्तद्वदेवास्तामन्यत्राप्यणुषु स्थितः ॥३६॥

पूर्वपक्षः—'य आत्मनि तिष्ठन्' इसप्रकार अन्तर्यामी श्रुतिमें कहा है। आत्मा अणु है। जिस प्रकार उसके अन्दर आत्मा है वैसे अन्य अणुओंमें भी आत्मा हो सकता है ॥३६॥

उच्यते पक्षसमता, तत्रापि कथमान्तरः।
तद्देशवर्तितामात्रमाकाशादौ च विद्यते ॥३७॥

उत्तरः—यदि आत्मा अणु है तो वहाँ भी पक्षसमता है। अर्थात् अणु आत्माके अन्दर दूसरा आत्मा कैसे ? अणुदेशावच्छेदेन परमात्मा है इसलिये आन्तर कहें तो आकाशदि भी सर्वान्तर माने जा सकते हैं। तब परमात्मामें विशेषता ही क्या रही ? ॥३७॥

अणुत्वमात्मनोऽसिद्धं प्रतिबिम्बे च बिम्बवत्।
सत्तया वर्तमानत्वादान्तरश्रुतिसंगतिः ॥३८॥

और आत्मा अणु है इसका निराकरण अन्यत्र किया जा चुका है। और जिसप्रकार एक सत्ता होनेसे प्रतिबिम्बमें बिम्ब सत्तामात्रसे वर्तमान है वैसे जीवात्मामें परमात्मा भी माना जा सकता है। "प्रतिबिम्बे स्फुरन्नेषः" इसप्रकार वार्तिककारने भी यह माना है ॥३८॥

अन्तस्तिष्ठति सर्वेषामस्तिभातिप्रियात्मना।
इति नास्त्यर्थवैरूप्यं पृथिव्यादावणावपि ॥३९॥

वस्तुतः 'पृथिव्यां निष्ठन्' 'तदन्तरस्य' इन सबका अर्थ यही है कि अस्ति भाति प्रिय रूपसे समस्त वस्तुओंके अन्दर रहता है। अतएव कहीं भी अर्थवैरूप्य नहीं है। भवन्मतमें शरीरशरीरिभाव दृष्टान्तमें तो जीवात्मा शरीरके अन्दर है। दार्ष्टान्तिकमें पृथिवी आदिके अन्दर और बाहर है। अणुओंमें अणुदेशावच्छेदेन है। इसप्रकार अर्थवैरूप्य स्पष्ट है ॥३९॥

इति पञ्चममन्त्रभाष्यवार्तिकम्

—:o:—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

जो समस्त भूतों (कार्य जगत्) को आत्मामें ही देखता है और समस्त भूतोंमें आत्माको, वह उस आत्मदर्शनके कारण किसी से भी घृणा नहीं करता ॥६॥

यस्तु। यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतानि—अव्यक्तादीनि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानुपश्यति—आत्मव्यतिरिक्तानि न पश्य-

जो परिव्राजक मुमुक्षु अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतोंको आत्मामें ही देखता है अर्थात् आत्मासे भिन्न नहीं देखता, और उन्हीं

निरुपाधिकरूपेण केवलो निर्गुणः परः ।
मायोपाधिवशात्सर्वंजगद्रूप इतीरितम् ॥१॥

"अनेजदेकं" इत्यादि मन्त्रोंमें साररूपसे यही बताया कि निरुपाधिकरूपसे आत्मा केवल है निर्गुण सर्वविकाररहित है। और मायोपाधिके कारण वही आत्मा दृश्यमान समस्त जगत्रूप हो गया ॥१॥

व्याख्यायेशपदं सम्यगेवं वास्यपदेङ्गितम् ।
दर्शनं कीदृशं कार्यं किंफलं चेत्युदीर्यते ॥२॥

यह ईशावास्यमें ईशपदकी व्याख्या हुई। अब वास्य पदसे इंगित आत्मदर्शन (ईशदर्शनसे जगत्का आच्छादन करनेके लिए बतलाया उसमें ईशदर्शन सूचित हुआ है) कैसे होना चाहिये और उसका फल क्या है यह सब दो मन्त्रोंमें बतलाने जा रहे हैं ॥२॥

आच्छादनोपायभूतं दर्शनं प्रथमे मनौ ।
आत्मैवाभूदिति स्पष्टाच्छादनं चापरे मनौ ॥३॥

इन दो मन्त्रोंमें प्रथम मन्त्रमें जगदाच्छादनोपायरूप दर्शनका वर्णन है। और द्वितीय मन्त्रमें अनुपश्यतिका प्रयोग न कर 'आत्मैवाभूत्' से स्पष्ट आच्छादन ही बताया ॥३॥

मुमुक्षुः सन् परिव्राड् य आत्मन्येवानुपश्यति ।
अव्यक्तादीनि भूतानि स्थावरान्तानि कृत्स्नशः ॥४॥

तीत्यर्थः। सर्वभूतेषु तेष्वेव चात्मानं, तेषामपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन, यथाऽस्य देहस्य कार्यकरणसंघातस्यात्माऽहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतः चेतयिता केवलो निर्गुणः, अनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति।

प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम्। सर्वा हि घृणाऽऽत्मनोऽन्यद् दुष्टं पश्यतो भवति, आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानि-

समस्त भूतोंमें आत्माको देखता है अर्थात् जिसप्रकार कार्यकरण समुदायरूप इस देहका आत्मा मैं हूँ, समस्त प्रतीतियोंका साक्षी मैं हूँ, सबको चेतित करनेवाला केवल निर्गुण मैं हूँ, ऐसा समस्त भूतोंमें भी निर्विशेष आत्माको उनके आत्माके रूपमें देखता है वह उसी सर्वात्मदर्शनके कारण किसीसे घृणा नहीं करता।

यह प्राप्तका अनुवादमात्र है। क्योंकि सबप्रकारकी घृणा अपनेसे भिन्न दूषित वस्तुको देखनेवाले पुरुषको ही होती है। आत्माको ही व्यापक

न चात्मव्यतिरिक्तानि भूतान्येतानि पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वात्मास्मीति सर्वदा ॥५॥
आत्मानुदर्शनात्तस्मान्न कुतश्चिज्जुगुप्सते।
यतोऽन्यदात्मनो दुष्टं पश्यन्नेव जुगुप्सते ॥६॥

मुमुक्षु होकर जो एषणात्रयको छोड़ देता है और अव्यक्तसे स्थावरान्त समस्त भूतोंको आत्मव्यतिरिक्त नहीं देखता और समस्त भूतोंमें आत्मभावको देखता है वह उस आत्मदर्शनके कारण किसीसे घृणा नहीं करता। क्योंकि अपनेसे भिन्न दूषितको देखकर सभी घृणा किया करते हैं ॥४-६॥

गलितं पलितं स्वीयं दृष्ट्वा दुष्टमपि स्वयम्।
घृणां न कुरुते स्वस्मिन्ननात्मातो घृणास्पदम् ॥७॥

अपने गलित पलितको देखकर कोई अपनेसे घृणा नहीं करता ॥७॥

युक्तेरनुभवाच्चैवं प्राप्तमेतदनूद्यते।
न जुगुप्सत इत्येतच्छ्रुत्या नैषास्त्यपूर्वगीः ॥८॥

मित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव ततो न विजुगुप्सत इति ॥६॥

निरन्तर परमशुद्ध जो देखता है उसके लिये घृणाका कारण अन्य कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये सर्वात्मदर्शी किसीसे घृणा नहीं करता यह प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध ही है ॥६॥

यह बात युक्ति एवं अनुभवसिद्ध होनेसे अपूर्ववचन नहीं है ॥८॥

किन्तु तात्पर्यनिर्णायि षड्लिङ्गान्तर्गतं श्रुतिः।
फलवत्त्वं प्रबोध्यैव समर्थेत्यवधीयताम् ॥९॥

किन्तु तात्पर्यनिर्णायक षड्लिङ्गके अन्तर्गत फलवत्त्वको बतलानेसे श्रुतिकी सार्थकता है ॥९॥

अत्र भूतपदं केचित्प्राणिमात्रपरं जगुः।
मा हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यादौ तत्र प्रयोगतः ॥१०॥
तदसत् पञ्चभूतानीत्येवमन्यत्र दर्शनात्।
पञ्चभूतात्मकं सर्वं जगत् संकोच्यतां कुतः ॥११॥

बहुतसे लोग 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'में भूतपदका प्राणी अर्थ प्रसिद्ध होनेसे यहाँ पर भी प्राणी अर्थ करते हैं। परन्तु पञ्चभूत भी तो प्रसिद्ध है और सारा जगत् उपनिषदनुसार पंचभूतात्मक है। उसमें संकोच (अर्थ) करना अयुक्त है ॥१०-११॥

उत्पद्यन्ते भवन्तीति कार्यमात्रपरं वचः।
तदनन्यत्वमित्युक्तिर्हेतोरव्यतिरेकि तत् ॥१२॥

भवन्तीति भूतानि इस व्युत्पत्तिसे कार्यमात्र यहाँ भूतशब्दार्थ है। "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इस अधिकरणमें कार्यको कारणसे अनन्य बताया। अतएव आत्माऽव्यतिरिक्तता भी सिद्ध है ॥१२॥

ननु नार्थोऽस्ति सप्तम्या अभेद इति चेन्न तत्।
प्रयुज्यते मृदि घट इत्यभेदेऽपि सप्तमी ॥१३॥

अभेद अर्थमें सप्तमी नहीं होती यह भी बात नहीं है। मृदि घटः यह अभेद सप्तमी मानी है। कार्यकारण भावसे अभेद ही वहाँ अर्थ है ॥१३॥

केचित्तु परमात्मार्थं आत्मशब्दोऽत्र मन्त्रगः।
प्रस्तुतत्वात्प्रसिद्धत्वाद् व्युत्पत्तेश्चेति मन्वते ॥१४॥

कुछ पूर्वपक्षी कहते हैं—यहाँ आत्मापदका परमात्मा अर्थ है। क्योंकि

उपक्रम परमात्माका है आत्मशब्दका रूढार्थ भी परमात्मा है आप्नोति व्याप्नोति सर्वं जगत् यह व्युत्पत्ति भी अणुरूप जीवात्मामें सम्भव नहीं है ॥१८॥

तदसत् परमात्मानं कः पश्येच्चर्मचक्षुषा।
भूतानि चाखिलान्यत्र तदसंभवदुक्तिकम् ॥१५॥

यह व्याख्या अयुक्त है। कारण परमात्मामें समस्त प्राणियोंको कौन देख सकता है। क्योंकि परमात्मा अतीन्द्रिय है और प्राणिवर्ग अनन्त है ॥१५॥

दर्शनं कृपयेशस्य प्रोक्तं संभवतीति चेत्।
कृपयैवाजुगुप्सा स्यादन्तर्गडु हि दर्शनम् ॥१६॥

भगवानकी कृपासे परमात्माका और उसमें विश्वका दर्शन हो सकता है यदि कहो, तो भी आखिर उसका फल यहाँ अजुगुप्सा बताया है। वह फल साक्षात् भगवत्कृपासे ही संभव है बीचमें अन्तर्गडु दर्शनकी क्या जरूरत पड़ी ? ॥१६॥

प्रस्तुतात्महने शब्दे जीवात्मैव निगद्यते।
परमात्मेति शब्दश्च प्रसिद्धः परमात्मनि ॥१७॥

'ये के चात्महनः' यहाँ प्रस्तुत आत्मशब्द जीवात्मपरक ही है। और परमात्मामें परमात्मा शब्द ही प्रसिद्ध है, आत्माशब्द नहीं। आत्मा कहते समय बल्कि आत्माशब्दका अर्थ जीवात्मा ही प्रसिद्ध है ॥१७॥

योगेन व्यापकं ब्रूत इत्यप्युक्तिरसंगता।
योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वाद्रूढ्यर्थस्य परिग्रहात् ॥१८॥
किञ्च योगार्थमास्थातुरणुत्वं खण्डितं भवेत्।
न हि शब्दव्यवहृतिः परिभाषामपेक्षते ॥१९॥

आप्नोति इस योगसे व्यापक अर्थ निकलता है इत्यादि उक्ति भी असंगत है। क्योंकि योगसे रूढ़ि बलवती होती है। और यदि योगार्थ लेंगे तो आपके अणुत्ववादका ही खण्डन होगा। क्योंकि शब्दव्यवहार किसीकी मान्यता पर आधारित नहीं होता है ॥१९॥

इदं तु बोध्यमीशेति वाच्यार्थः परमेश्वरः।
लक्ष्यार्थः शुद्धचैतन्यं तेनैवाच्छादनं यतः ॥२०॥

अत्रात्मनीति वाच्यार्थो जीवात्मैव न संशयः ।
लक्ष्यार्थः शुद्धचैतन्यं भागत्यागवशाद्भवेत् ॥२१॥

यह बात ध्यान देने योग्य है कि ईशावास्यं यहाँ ईशपदका वाच्यार्थ ईश्वर है और लक्ष्यार्थ शुद्धचैतन्य है । क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्त्वादिगुण-विशिष्टसे जगदाच्छादन संभव नहीं है । तथा यहाँ पर भी आत्मपदका जीवात्मा वाच्यार्थ है और शुद्ध चैतन्य लक्ष्यार्थ है । क्योंकि अंतःकरण-परिच्छिन्न आत्मासे अव्यतिरिक्तता समस्त भूतोंमें संभव नहीं है ॥२०-२१॥

आत्मा द्रष्टव्य इत्यादावप्येवं हि व्यवस्थितिः ।
असंगतार्थभाषित्वमन्यथापद्यते श्रुतेः ॥२२॥

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुतियोंमें भी यही व्यवस्था है । अर्थात् वाच्यार्थ जीवात्मा है और भागत्यागसे लभ्य लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य है । यही वाक्यान्वयाधिकरणका भी रहस्य है । अन्यथा आत्माका सीधा अर्थ परमेश्वर करेंगे तो "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" यह पूर्वग्रन्थ असंगत होगा । वहाँ स्पष्टतया जीवात्मा ही प्रतिपादित है ॥२२॥

अथाणुरात्मा बालाग्रशतभाग श्रुतेर्भवेत् ।
न चानुभूयतेऽन्यत्र शरीरादौ यतः स हि ॥२३॥

पूर्वपक्षः—"वालाग्रशतभागस्य" इत्यादि श्रुतिमें अणुपरिमाण जीवका बताया है । व्यापक होता तो अन्य शरीर शिला काष्ठादिमें भी अनुभव होता ॥२३॥

न च वाच्यं मनो नास्ति देहान्तरशिलादिषु ।
करणं हि यतोऽन्यस्यानुभवे नात्मनो मनः ॥२४॥

यदि कहो कि शरीरान्तर शिलादिमें अपना मन नहीं है । तो ठीक नहीं, कारण, मन तो अन्यके अनुभवमें करणमात्र है, न कि वह अनुभविता है और स्वात्मानुभवमें उसकी जरूरत भी नहीं है, जैसे सुषुप्ति आदिमें ॥२४॥

तदसत् परदेहस्थबोधस्तद्देहबोधतः ।
स्वयं प्रकाशरूपेण स्वात्मा बुध्यत एव हि ॥२५॥

समाधानः—परदेहस्थत्वेन आत्मज्ञानका आपादान तब हो सकता है यदि मनसे परदेहसाक्षात्कार हो । आत्मत्वेन आत्मज्ञान स्वयंप्रकाशतया होता ही है । अतः पूर्वपक्ष निराधार है ॥२५॥

अणुरस्मीति नो कश्चित्तं वेत्त्यणुमितं तथा।
अणुत्वे स्वप्रकाशोऽयं कथं तन्नावगच्छति ॥२६॥

यदि यह अणुपरिमाण है तो स्वयंप्रकाश होनेसे मैं अणु हूँ ऐसा बोध होना चाहिये। अस्मन्मतमें देहाध्यासके कारण परिच्छिन्न प्रतीत हो सकता है। किन्तु अणुके महत्त्वभ्रान्तिमें कोई बीज नहीं है ॥२६॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितेति हि।
दशसाहस्रभागोक्तिर्नाणुपर्यवसायिनी ॥२७॥

"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः" इस श्रुतिमें बालके अग्रका दसहजारवां भाग बताया। अणु उससे भी छोटा है ॥२७॥

उपलक्षणमाश्रित्य यदि वाणुपरा भवेत्।
उपलक्षणतः कस्मात्सूक्ष्ममात्रपरा न सा ॥२८॥

दसहजारवां भाग यह अणुका उपलक्षण कहो तो वह सूक्ष्मताका उपलक्षण है ऐसा माननेमें क्या हानि हुई? ॥२८॥

प्रेतस्य विचिकित्सायां नायं हन्ति न हन्यते।
इत्युक्त्वा महतोऽप्याह महीयांसं यमो हि तम् ॥२९॥

अणूपलक्षणमें भी क्या हानि? इसका उत्तर है नचिकेताको यमराजने आत्मा महानसे भी महत्तर बताया। वह कोई परमात्माका प्रकरण नहीं है। "येयं प्रेते विचिकित्सा" इसप्रकार वह जीवात्माका ही प्रकरण है॥२९॥

आत्मनस्तत्त्वमाख्यातुं प्रसङ्गं तमिमं हरिः।
वदन् सर्वगतः स्थाणुरित्युवाच धनञ्जयम् ॥३०॥

इस प्रसङ्गको गीतामें आत्मतत्त्व कहनेके लिये भगवानने उठाया और "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" कहा। सर्वगत यह व्यापकार्थक है। भीष्माद्यात्मा की मृत्युकी शंकामें यह वचन है ॥३०॥

अशरीरं शरीरेषु ह्यनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानमित्यादावपि तत्स्फुटम् ॥३१॥

"अशरीरं" इत्यादि मन्त्रोंमें भी आत्माको महान् विभु बताया ॥३१॥

गृहैकदेशगो दीपो व्याप्नोति सकलं गृहम्।
तद्वदात्मा जगज्ज्ञातुर्व्याप्नोतीत्यप्यसंगतम् ॥३२॥

आत्मा यद्यपि अणु है तथापि प्रकाशके द्वारा वह व्यापक है, जैसे घरके एकदेशस्थित दीपक प्रकाश के द्वारा पूरे घरमें व्यापक होता है; ऐसा अणुवादियोंका कहना है। परन्तु वह असंगत है ॥३२॥

यदि स्याद् व्यापिका दीपप्रभा तैलव्ययः कुतः।
प्रकाशाणुप्रसारोऽतो दीपकस्यांशिनः स्फुटः ॥३३॥

असंगत इसलिये कि यदि दीपककी प्रभा व्यापक है तो तेल क्यों खर्च हो रहा है? स्पष्ट है कि वहाँ तेल जल रहा है और प्रकाशके अणु चारों ओर फैल रहे हैं। दीपक सावयव होनेसे उसमेंसे प्रकाशाणुओंका फैलना संभव है ॥३३॥

पुञ्जीभूता हि मण्यादावपि सौरादिदीधितिः।
ततस्तत्राप्यवयवप्रसारो विज्ञसंमतः ॥३४॥

तेलके बिना ही मणिसे प्रकाश कैसे फैलता है इसका उत्तर यह है कि वहाँ सूर्यादिकी प्रभा पुञ्जीभूत होती है वही निकलती रहती है। यह आधुनिक विज्ञान संमत है ॥३४॥

मुक्तात्मनो हि किं तैलं प्रकाशव्यापृतिर्यतः।
निर्वायाद्दीपवच्चैव सांशो हीन्धापवर्गतः ॥३५॥

मुक्तात्मामें कौनसा तेल है जिससे प्रकाश फैलता है (जीवितमें कथंचित् भोजनादि इंधन हो सकता है) और इंधन समाप्त होनेपर कदाचित् वत्तीके समान जीवात्मा बुझ भी न जाय यह ख्याल रखना पड़ेगा ॥३५॥

अणोरनन्तच्छविरित्यद्धार्थरहितं वचः।
अणुतां चानन्ततां चाऽपरिचिन्वन् विकत्थसे ॥३६॥

अणुका अनन्त प्रकाश यह कथन तो अणुत्व और अनन्तत्वको न पहचानकर अर्थशून्य वचन बोल रहे हो ॥३६॥

अत्र वक्तव्यमखिलमभिधास्यामहे स्फुटम्।
सोऽहमस्मीति वाक्यार्थव्याख्यानसमये वयम् ॥३७॥

"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"की व्याख्यामें हम सारी बात फिरसे स्पष्टतया (आगे) बतायेंगे ॥३७॥

यथेह तन्तुषु पटः पटे तन्तव इत्यपि।
सर्वंभूतेषु चात्मानं तथैव ज्ञः प्रपश्यति ॥३८॥

अभेद स्थलमें इह तन्तुषु पटः (तन्तुओंमें पट) इसप्रकार और पटे तन्तवः (पटमें तन्तु) ऐसी भी प्रतीति होती है। वैसे आत्मामें सर्वभूत तथा सर्वभूतमें आत्माका दर्शन होता है ॥३८॥

स्वप्ने यथा प्रत्यगात्मा दृश्यमानेषु वस्तुषु।
अन्तर्बहिश्च संव्याप्य स्थितोऽपि न हि बुध्यते ॥३९॥

जाग्रत्यपि तथैवात्मा दृश्यमानेषु वस्तुषु।
अन्तर्बहिश्च संव्याप्य तिष्ठन्नपि न बुध्यते ॥४०॥

गुरुशास्त्रेशकृपया नित्यमभ्यासतत्परः।
सर्वभूतेषु चात्मानमनुपश्यत्यसंशयम् ॥४१॥

स्वप्नमें जितने पदार्थ दीखते हैं सबमें प्रत्यगात्मा व्याप्त होकर रहता है। फिर भी नहीं समझ पाते। यही समझते हैं कि स्वाप्निक जगदन्तर्गत शरीरविशेष में ही मैं हूँ। यही हालत जाग्रतमें भी है। सर्ववस्तुमें आत्मा होनेपर भी देवदत्त अपने शरीरविशेषमें ही अपनेको जानता है। गुरु शास्त्र और ईश्वरकी कृपासे स्वयं अभ्यासतत्पर कोई समस्त भूतोंमें आत्माका दर्शन निश्चित करता है ॥३९-४१॥

अथाजुगुप्सा सिद्धा स्याज्जुगुप्सितमपश्यतः।
सर्वात्मदर्शनं तस्माद् व्यर्थमेवेति चेन्न तत् ॥४२॥

पूर्वपक्षः—श्रुतिमें सर्वात्मदर्शनका फल बताया जुगुप्सा (घृणा) का अभाव, वह तो जुगुप्सित वस्तुको देखना बन्द कर दो तो भी हो जायेगा उसके लिये सर्वात्मदर्शनकी क्या जरूरत ? ॥४२॥

जुगुप्साऽभावशब्देन जीवन्मुक्तिसुखं श्रुतिः।
ब्रवीत्यसुखवस्तूनां व्यावृत्त्याऽखण्डमद्वयम् ॥४३॥

उत्तरः—यहाँ जुगुप्साऽभावसे जीवन्मुक्ति सुखकी विवक्षा है। जुगुप्सा से असुख वस्तुओंको कहकर उसकी व्यावृत्ति की गई है ॥४३॥

प्राप्तानुवादकथनं कथं भाष्यकृतस्तदा।
जीवन्मुक्तिसुखं नैव प्राप्तं युक्त्यादिभिर्ननु ॥४४॥

सत्यं यथाश्रुतार्थस्तु प्राप्त एव ह्यनूद्यते ।
जीवन्मुक्तिसुखं द्योत्यं तेनेत्येवाभिदध्महे ॥४५॥

यदि जुगुप्सा के अभावसे जीवन्मुक्तिसुख विवक्षित है तो सर्वात्मदर्शनसे जुगुप्सा के अभावका कथन प्राप्तानुवादमात्र है यह भाष्यकारोक्ति असंगत होगी। क्योंकि सर्वात्मभावसे जीवन्मुक्तिसुख होता है यह प्राप्त नहीं है। इसका उत्तर यह कि यथाश्रुत जुगुप्सा-अभावकथन प्राप्तानुवाद है यही भाष्यतात्पर्य है। जुगुप्सा-अभावोक्तिसे जीवन्मुक्तिसुख द्योत्य है इतना ही हमारा कथन है। अतएव अनुपपत्ति नहीं ॥ ४४-४५ ॥

कथं तद्द्योत्यमिति चेदुच्यते पुरुषार्थनात् ।
आत्मदर्शनसाध्यत्वकथनाच्चाजुगुप्सने ॥४६॥

इति षष्ठमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

द्योत्य कैसे ? इसका उत्तर है कि सुख पुरुषार्थविषय है पुरुषार्थसिद्धिके लिये ही उपनिषत्के पास आये हैं। इसलिये यहाँ सुख ही फल-विधया बोधनीय है। दूसरी बात जुगुप्सा-अभाव आत्मदर्शनसाध्य कहा, इसलिये भी उक्तार्थ द्योत्य है। केवल जुगुप्सा-अभाव तो अन्यथा भी सिद्ध है ॥ ४६ ॥

—: o :—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस समय या जिसको आत्मसाक्षात्कार होनेसे सभी वस्तु आत्मस्वरूप ही हो जाती हैं उस समय उसको क्या मोह और क्या शोक रह जायेगा। अर्थात् कोई शोक मोह नहीं रहेगा। क्योंकि वह एकत्वका ही दर्शन कर रहा है ॥७॥

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह—यस्मिन् सर्वाणि भूतानि। यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि पर-

इसी अर्थको यह दूसरा मन्त्र भी कहता है—जिस कालमें या सर्वा-

यस्त्वित्याद्युक्तमन्त्रेण प्रोक्तमर्थं पुनः श्रुतिः ।
स्पष्टीकरोति तात्पर्यविभ्रमोच्छेदहेतवे ॥१॥

'यस्तु सर्वाणि' इस पूर्वमन्त्रमें बताये हुए अर्थका ही अब स्पष्टीकरण होगा, इसलिये कि तात्पर्यभ्रम न हो ॥१॥

केचित्त्वात्मनि भूतानीत्याधाराधेयभावतः ।
द्वैतप्रतीतिकालीनमात्मज्ञानमुदीरितम् ॥२॥
आत्मैवाभूदिति श्रुत्या सामानाधिकरण्यतः ।
निर्धूतद्वैतविज्ञाना परावस्थेति संजगुः ॥३॥

अन्य व्याख्या :—भूतानि आत्मनि इसप्रकार आधाराधेय भावसे प्रथमकथन हुआ। उससे द्वैतप्रतीतिकालीन आत्मज्ञानका वर्णन है। इस मन्त्रमें भूतानि आत्मैव ऐसे सामानाधिकरण्यसे कथन है। उससे द्वैतप्रतीति-रहित परमावस्थाका वर्णन है ॥ २-३ ॥

विवक्षाभेदतोऽवस्थाभेदाभ्युपगतावपि ।
दिदर्शयिषितं तत्त्वमेकमेव न संशयः ॥४॥

विवक्षाभेदसे ज्ञानकी अवस्थाओंका भेद माने जाने पर भी यहाँ प्रतिपाद्य तत्त्व तो एक ही है इसमें संशय नहीं। अतएव भाष्यमें पूर्वमन्त्रार्थं ही इस मन्त्रका विषय बताया। सप्तमीका अभेद अर्थ हम दिखा भी चुके हैं ॥ ४ ॥

मार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूद्—आत्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विजानतः, तत्र-तस्मिन् काले तत्रात्मनि वा को मोहः कः शोकः। शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजम् अज्ञानवतो भवति, न त्वात्मैकत्वं गगनोपमं पश्यतः।

त्मदर्शी जिस आत्मामें परमार्थदर्शनके कारण सभी भूत आत्मस्वरूप ही हो जाते हैं उस कालमें या उस आत्मामें क्या मोह ओर क्या शोक हो।

काम और कर्मका बीज शोक और मोह अज्ञानीको ही होते हैं, न कि आकाशोपम व्यापक विशुद्ध आत्मैकत्व देखनेवालेको।

यस्मिन्काले यथोक्ते वात्मनि सर्वाणि तानि हि।
भूतान्यात्मैव संवृत्तो वस्तुतत्त्वं विजानतः ॥५॥

कः शोकस्तत्र को मोहो न तौ संभवतः पुनः।
अविद्याकार्ययोर्नाम विद्यायां संभवः कथम् ॥६॥

मन्त्रमें व्याख्यातार्थ ॥ ५-६ ॥

अविद्यया भवेन्मोहो ममाहमितिलक्षणः।
हतोऽहं हतपुत्रोऽहमिति शोकस्ततः परम् ॥७॥

अविद्यासे मैं मेरा यह मोह होता है फिर हाय मर गया, मेरा पुत्र मरा, इत्यादि शोक होता है ॥ ७ ॥

पुनः शोकनिवृत्त्यादेः कामना जायते हृदि।
कर्माणि कुरुते पुण्यपापरूपाणि तत्परम् ॥८॥

ततस्तत्फलमत्युग्रं पुनः संसारलक्षणम्।
चक्रभ्रमणवन्नित्यमेवं स परिवर्तते ॥९॥

फिर शोकनिवृत्ति आदिके लिये कामना होती है, फिर पुण्यपापरूपी कर्म, फिर उसका उग्रफल, पुनः संसार, इसप्रकार चक्र घूमता ही रहता है ॥ ८-९ ॥

अत्र मूलमविद्यैव विद्यया सा निवर्तते।
तन्निवृत्तौ समूलोऽयं भव उच्छिद्यते विदः ॥१०॥

इसमें मूल अविद्या है। विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होती है तो समूल संसारका उच्छेद होता है ॥ १० ॥

आत्मैवाभूदिति प्रोक्तमेकत्वमनुपश्यतः।
इति स्पष्टीकृतं ज्ञानं विद्यात्मैकत्वदर्शनम् ॥११॥

"सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्" से जो बताया, "एकत्वमनुपश्यतः" से जिसका स्पष्टीकरण किया वह ज्ञान ही विद्या है, अर्थात् आत्मैकत्व-दर्शन ही विद्या है ॥ ११ ॥

यत्तु सर्वाणि भूतानीत्युद्देश्यकथनं यदि।
अभूवन्निति वक्तव्यमुद्देश्यगतसंख्यया ॥१२॥

भवन्ति पञ्च तरवो नौकेत्येव प्रयुज्यते।
आत्मा तस्मादिहोद्देश्यो भूतानीति विधेयगीः ॥१३॥

पूर्वपक्ष :—"सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्" यहाँ सभी भूत आत्मा हो जाते हैं ऐसा यदि अर्थ है तब 'अभवन्'–होते हैं, ऐसा बहुवचन होना चाहिये परंतु यहाँ अभूत् ऐसा एकवचन है। अतः आत्मा समस्त भूत हो गया इसप्रकार आत्माको उद्देश्य (मुख्य) रखना चाहिये ॥ १२-१३ ॥

नन्वात्मा सर्वभूतानि यदि सम्पद्यते तदा।
भूतान्यात्मेत्यर्थसिद्धं तत्र का परिदेवना ॥१४॥
मैवं प्रपञ्चरूपेण परमात्मावलोकनम्।
अपुमर्थमतोऽन्यार्थः कल्पनीयो भविष्यति ॥१५॥
तत्र भूतविशिष्टार्थे भूतानीति पदं भवेत्।
सर्वभूततनुर्ह्यात्मा यस्याभूद्येन दृश्यते ॥१६॥

अवान्तर उत्तर—आत्मा यदि सर्वभूत हुआ तो सर्वभूत तो अर्थात् आत्मा भी हो गये। इसमें रोनेकी क्या बात ? खण्डन—आत्मा प्रपञ्चरूप तो अभी भी है। वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता। अतः अर्थ बदलना होगा। आत्मा प्रपञ्चविशिष्ट-प्रपञ्चशरीरक हो गया, अर्थात् सर्वभूत शरीर है, उसमें शरीरीके रूपमें जो आत्माको देखता है ऐसा अर्थ होगा ॥ १४-१६ ॥

तदसद् भूतशब्दस्य विशिष्टे लक्षणा तथा।
अभूदित्यस्य वेत्त्यर्थे क्लेशस्तत्र स्फुटस्तव ॥१७॥

उत्तर—पूर्वपक्षीका उक्त कथन अयुक्त है। कारण उनकी व्याख्यामें भूतशब्दका भूतविशिष्ट, फिर भुतशरीरक, अर्थ करना पड़ेगा। वह लक्षणासे ही संभव है। और अभूत्का दर्शन अर्थ करना पड़ेगा। इसप्रकार नाना लाक्षणिक अर्थमें महान् क्लेश होनेसे गौरव है ॥ १७ ॥

वचनव्यत्ययस्तस्माल्लाघवादुपगम्यते ।
एको रुद्रो द्वितीयाय न तस्थुरिति वाग्यथा ॥१८॥

अतः लाघवात् यहां वचनव्यत्यय—अर्थात् छान्दस एकवचन बहुवचनके स्थानमें मानना चाहिये जैसे "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" यहाँ एकवचनके बदले बहुवचनप्रयोग किया ॥ १८ ॥

नन्वर्थगौरवं नास्ति दोषः फलमुखत्वतः ।
प्रथमं शब्दसाधुत्वमिति चेत्तन्न युज्यते ॥१९॥
उद्देश्यक्रमभङ्गोऽयं ततोपि प्रथमं कृतः ।
यथोद्देश्ये फलमुखं व्यत्यये गौरवं खलु ॥२०॥

पूर्वपक्षी—प्रथम शब्दसाधुत्व देखा जाता है, पश्चात् अर्थ। शब्दसाधुत्व प्रथम होनेपर अर्थमें लक्षणा आदि फलमुख गौरव है और आपके मतमें शब्दसाधुत्व कालमें ही व्यत्यय मानना पड़ेगा अतः पूर्वगौरव है। वह दोष है।

सिद्धान्ती—केवल शब्दसाधुत्व ही प्रथम नहीं होता किन्तु सामान्यार्थ सहित शब्दसाधुत्व ही प्रथम होता है। अन्यथा सर्वम् आनयतीति सर्वाणि भूतमानयतीति भूतानि इत्यादि एकवचन भी माना जा सकेगा। सामान्य अर्थबोध होता है उसमें फिर तात्पर्यानुपपत्ति होनेसे लक्षणा की जाती है। सामान्य अर्थबोधकालमें 'सर्वाणि भूतानि' यह प्रथम सुनते ही उद्देश्यविधया उपस्थित होगा और आत्मा यह विधेयविधया। विधेयभाव प्रति उत्तरमें अभूत एकवचन कैसा? इस शंकामें वचनव्यत्यय होगा। परंतु आपके मतमें उद्देश्य-विधेय भावमें ही क्रमभंग करनेसे गौरव होगा। अतः व्यत्यय फलमुख गौरव होनेसे अदोष है ॥ १९-२० ॥

ननु सामान्यबाधश्चेत्प्रथमं समुपेयते ।
विरम्यवृत्तिः शब्दानां तात्पर्याल्लक्षणा ततः ॥२१॥

पूर्वपक्षी—शब्दसे यदि सामान्यबोध पहले मानेंगे तो शब्दोंकी विरम्यवृत्ति होगी अतः तात्पर्यसे ही लक्षणा होती है (तात्पर्य प्रकरणादिसे अवसेय है) ॥ २१ ॥

मैवं वेदे ऽह तात्पर्यं सामान्यार्थावबोधतः ।
उपक्रमोपसंहारप्रभृतेरित्युदीरितम् ॥२२॥

लोकमें भोजनादि प्रकरणसे सैन्धवमानय इत्यादिमें तात्पर्यार्थनिश्चय

युक्त है। परंतु वेदमें उपक्रमोपसंहारादिशब्दार्थसामान्यज्ञानसे ही तात्पर्य-निर्णय और तदनुसार लक्षणा आदि होते हैं ॥२२॥

सामान्यार्थं परिज्ञाय मीमांसा क्रियते ततः।
अथातो धर्मजिज्ञासेत्यन्यथा नोपपद्यते ॥२३॥

सामान्यार्थाधिगमके बाद ही मीमांसा होती है। "अथातो धर्मजिज्ञासा" यहाँ अथका वेदाध्ययानान्तर अर्थ है। वेदाध्ययन केवल अक्षरग्रहण नहीं किन्तु अर्थज्ञान भी अपेक्षित है। सामान्यार्थज्ञानके बाद मीमांसासे विशेषार्थज्ञान होता है। यदि वाक्योंकी विरम्यवृत्ति न हो तो मीमांसारम्भ ही नहीं होगा ॥ २३ ॥

विशयो हि न कुत्रापि सामान्यज्ञानमन्तरा।
अत्र सामान्यबोधश्च श्रुत्यैवेति विनिश्चितम् ॥२४॥

मीमांसाधिकरणोंमें विषय विशयादि होते हैं विशयका अर्थ है संशय। सामान्यज्ञानके बिना संशय नहीं हो सकता। अतएव न्यायवार्तिकमें 'समान धर्मादिविशिष्टधर्मिदर्शनादविशेषवति धर्मिण्येव संशयः 'सामान्यतोऽधिगते धर्मिणि विशेषानवधरणात्मकः प्रत्ययः संशयः' 'इत्यादि संशयपरीक्षावसरमें कहा। वेदार्थमीमांसामें समानधर्मादिविशिष्ट धर्मिज्ञान श्रुतिसे ही कहना होगा ॥ २४ ॥

विरम्यवृत्त्या वाक्यानां पुनः सन्धानतोऽपि वा।
वाक्यार्थधीः स्यात्सामान्यज्ञानं पूर्वं पुनर्ध्रुवम् ॥२५॥

वाक्यार्थनिश्चय भले विरम्यवृत्तिसे मानो, भले वक्योंके पुनरनुसन्धान से। सर्वथापि प्रथम सामान्यज्ञान होता ही है ॥२५॥

तस्मात् प्राथमिकोद्देश्यविधेयक्रमरक्षणात्।
व्यत्ययो वचनस्यैव क्रमभङ्गो हि दुःसहः ॥२६॥

इसलिये प्रथमागत उद्देश्यविधेयक्रम रक्षा करते हुए अन्तमें आये वचनका ही व्यत्यय कर लेना चाहिये। क्रमभंग अन्याय्य है और वेदमें तो 'व्यत्ययो बहुलं' यह प्रसिद्ध होनेसे लौकिकवाक्यसे सर्वथा तुलना नहीं होती ॥ २६ ॥

यत्र वा सर्वमात्मैवास्याभूत्तत्केन कं श्रुतौ।
अस्य चार्थस्य संवादो विस्पष्टमुपलक्ष्यते ॥२७॥

"यत्र तु द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" "यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" इस श्रुतिमें इसी अर्थका संवाद भी मिलता है। वहां द्वैतनिषेधसे अर्थान्तर नहीं किया जा सकता ॥ २७ ॥

आत्मैवेत्येवकारश्च व्यर्थं आपद्यते तव।
न सर्वदेहवानन्यो यं तद्व्यावर्तयेत्पदम् ॥२८॥

परमात्मा ही सर्वशरीरविशिष्ट दीख पड़ा यहाँ 'ही' यह किस लिये? क्या और भी कोई सर्वभूत शरीरवाला दीख पड़ता है जिसकी व्यावृत्ति एवकार करेगा? अतः आपके मतसे एवकारकी व्यर्थता भी है ॥ २८ ॥

एतदभ्युपगमप्रोक्तं व्यत्ययो नास्ति वस्तुतः।
उद्देश्यवचनं बाधसमानाधिकृतौ न यत् ॥२९॥
स्थाणुः पुरुष इत्यत्र न स्थाणुः किन्त्वयं पुमान्।
इत्यर्थे पुरुषो मुख्यस्तत्संख्याख्यातगामिनी ॥३०॥
मालासर्पादयो यस्य रज्जुरेवाभवत्सतः।
इति प्रयोगो भवति न तु तत्राभवन्निति ॥३१॥
द्वौ चन्द्रावेक एवास्ति एकं भं द्वे स्त इत्यपि।
वस्तुगत्यभिधानेन विधेयवचनं भवेत् ॥३२॥

वचनव्यत्ययकी बात अभ्युपगमवाद है। वस्तुतः बाधसामानाधिकरण्यस्थलमें विधेयगत संख्या ही आख्यातकी होती है। कारण वहाँ विधेय ही मुख्य होता है। 'यह स्थाणु पुरुष ही है' यहाँ स्थाणु नहीं पुरुष है ऐसी व्याख्या है वहाँ पुरुषकी मुख्यता स्पष्ट है। माला सर्प आदि सब रस्सी हो गयी ऐसा ही प्रयोग है न कि माला सर्पादि रस्सी हो गये। ये दो चन्द्र एक ही है यह एक तारा दो हैं इत्यादि प्रयोग होता है। क्योंकि वस्तुगतिका यहाँ अभिधान है। अतः विधेय संख्या ही होती है ॥ २९-३२ ॥

भूतान्येकं भवन्तीति बाधस्तत्र न शाब्दिकः।
भवन्तीति ततो युक्तं पार्ष्ठिकी बाधधीर्भवेत् ॥३३॥

सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति यहाँ बाध शाब्दिक न होनेसे बहुवचन है। वहाँ पृष्ठतः बाधबुद्धि होती है ॥ ३३ ॥

अयं स्थाणुः पुमानेवेत्येवं सर्वैः प्रयुज्यते।
बाधितोऽपि ततो भाति संसर्गविधयाऽभिदा ॥३४॥

यह स्थाणु पुरुष ही है ऐसा सभी प्रयोग करते हैं। अतः बाधित अभेद भी विवक्षानुसार संसर्गविधया भासित होता है ॥ ३४ ॥

को मोहः कः शोकः इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासंभव-प्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥७॥

क्या मोह क्या शोक इसप्रकार अविद्याके कार्य शोक और मोहका आक्षेपके द्वारा असंभव दिखानेसे यही प्रदर्शित होता है कि कारणसहित संसारका सर्वथा उच्छेद होता है ॥ ७ ॥

ईशेनाच्छादनं यद्वद्वेदीशात्मना स्थितिः।
भूतानामात्मतापत्तिरात्ममात्रात्मना स्थितिः ॥३५॥

ईशसे जगदाच्छादन ईशरूपेण स्थिति मात्र है। वैसे भूतोंकी आत्मता आपादन भी आत्मरूपेण अवस्थानमात्र है ॥ ३५ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कृतावेतत् तदाह स्म विजानतः।
अखण्डाकारवृत्तिर्हि विज्ञानं सत्यवस्तुनः ॥३६॥

ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर ही उक्त बात संभव है। अतएव विजानतः कहा। अखण्डाकार वृत्ति ही विज्ञान है ॥ ३६ ॥

को मोह इति चाक्षेपोऽसंभवार्थप्रदर्शकः।
सति मूले च मोहादि नैवासंभवि संभवेत् ॥३७॥

समूलमोहशोकादिसमुच्छेदस्ततः श्रुतौ।
विवक्षितोऽत्र मूलं चाविद्येति प्रागुदीरितम् ॥३८॥

क्या मोह क्या शोक यह आक्षेपार्थक है, असंभव सूचित करता है। परंतु मूलके रहते कार्य असंभव नहीं होता। अतएव मूलसहित शोकमोह-निवृत्ति श्रुत्यभिप्रेत है। मूल अविद्या है यह हम कह आये ॥ ३७–३८ ॥

एकत्वदर्शिनो नैव शोकमोहादिसंभवः।
अहं ममेति मोहो हा हतोस्मीत्यादिकोऽपरः ॥३९॥

एकत्वदर्शीको शोकमोहादि नहीं हो सकता। मैं मेरा यह मोह है। हाय मर रहा हूँ इत्यादि शोक है ॥ ३९ ॥

ननु चात्मैकतावादे ह्युपदेशः कथं भवेत्।
गुरोर्ज्ञातःर्थतायां हि ज्ञातार्थः शिष्य एव यत् ॥४०॥

अनृतं स्थाणुचौरं ना-पसर्तुं वक्ति कश्चन ।
मिथ्याशिष्यं कथंकारं जानन्नुपदिशेद् गुरुः ॥४१॥

पूर्वपक्षः—सर्वात्मैकत्व यदि मानेंगे तो गुरु शिष्यको उपदेश ही नहीं करेगा। कारण आत्मा एक होनेसे गुरुको ज्ञान हुआ तो शिष्यको भी ज्ञान हो ही गया। दूसरी बात, जब यह मालूम पड़ जाता है कि स्थाणु चोर मिथ्या है अर्थात् स्थाणुमें दिखाई देनेवाला चोर झूठा है तो उसे हटनेको कौन कहेगा ? वैसे द्वैत प्रपञ्च झूठा मालूम पड़ गया तो फिर झूठे शिष्यको कौन उपदेश करेगा ? और गुरु तो हमेशा ज्ञानी ही होता है, उसको मालूम नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता ॥ ४०-४१ ॥

अत्रोच्यते मनःसाक्षितदाभासत्रयात्मकाः ।
गुरुशिष्यादयो भिन्नाः शुद्धस्यैकत्वमात्मनः ॥४२॥

सिद्धान्तः—जीव केवल आत्माको नहीं कहते। किन्तु अन्तःकरण, साक्षी और आभास इन तीनके विशिष्टरूपको कहते हैं। अन्तःकरण और आभास भिन्न होनेसे विशिष्ट त्रितयात्मक जीवात्मा भिन्न-भिन्न ही हैं। शुद्ध आत्माकी एकता हमने बतायी। विशिष्ट आत्माओंकी नहीं ॥ ४२ ॥

पृथक् पृथक् च भिन्नेषु तेष्वविद्यापि विद्यते ।
न गुर्वविद्यानाशेन शिष्याविद्या विनश्यति ॥४३॥

और उन विशिष्टरूप जीवोंमें अविद्या भी भिन्न-भिन्न है। अतएव गुरुकी अविद्याके नाशसे शिष्यकी अविद्याका नाशापादन असंगत है ॥४३॥

ननु चाविद्यया जीवोऽविद्या जीवाश्रया च चेत्।
तत्रान्योन्याश्रयो दोषः तन्नानादित्वतस्तयोः ॥४४॥

जीवोंमें अविद्या भिन्न-भिन्न है किन्तु अविद्यासे जीव होता है, जीव होनेसे पहले अविद्या कहाँ रही ? अन्योन्याश्रय दोष इस पक्षमें है। इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि जीव एवं अविद्या दोनों अनादि हैं। अविद्यासे जीव बना तो क्या पहले जीव नहीं था ? यदि नहीं तो बिना कर्म जन्म उसका कैसे हुआ ? अतः जीव एवं अविद्या दोनों अनादि हैं। जीवमें अविद्या रह सकती है ॥ ४४ ॥

जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥४५॥

जीव, ईश्वर, विशुद्ध चैतन्य, जीवेश्वर भेद, अविद्या एवं अविद्या-चैतन्यसम्बन्ध ये छः अनादि हैं ऐसा पूर्वाचार्यवचन है ॥ ४४ ॥

व्यावहारिकसत्यत्वं शिष्ये दुःखे जगत्यपि ।
तद्दुःखमार्जनार्थं हि कृपालुर्यतते गुरुः ॥४६॥

व्यावहारिक सत्यता शिष्यमें, दुःखमें एवं सारे जगत्में है। तो जिस प्रकार व्यावहारिक सत्य अपने दुःखको दूर करनेके लिए गुरुने ज्ञान प्राप्त किया वैसे शिष्यको भी तो व्यावहारिकदुःखनिवारणार्थ इच्छा होगी। तदर्थं कृपालु गुरु प्रयास किया करते हैं ॥ ४६ ॥

मिथ्यात्वं ज्ञानबाध्यत्वाज्जगतो न त्वसत्त्वतः ।
न प्रातिभासिकत्वाच्च व्यावहारिकसंसृतेः ॥४७॥

जगत् मिथ्या इस कथनका यह अर्थ नहीं कि वह शशविषाणके समान है ही नहीं। और यह भी अर्थ नहीं कि स्थाणु पुरुषके समान प्रातिभासिक है। हम तो जगत्को व्यावहारिक सत्य मानते हैं ॥ ४७ ॥

सत्यशब्दाभिधेयत्वं जगतो मन्महे वयम् ।
वाचामगोचरं ब्रह्म शब्दलक्ष्यं यतः स्थितम् ॥४८॥

हमारे मिथ्या शब्दका अर्थ आपने समझा ही नहीं। वैसे तो सत्य शब्दका एक वाच्यार्थ है और दूसरा लक्ष्यार्थ। ब्रह्म वाणीका अविषय होनेसे सत्यशब्दका भी लक्ष्यार्थ ही होगा। तब सत्यशब्दका वाच्यार्थ क्या है ? कहना ही पड़ेगा कि व्यावहारिक सत्य ही सत्य शब्दका वाच्यार्थ है। अतः जगत्को हम सत्य कह सकते हैं। फिर भी मिथ्या है। तब मिथ्या शब्दका अर्थ जो आप समझते हैं, वह नहीं, यह निर्णीत हुआ। अर्थात् ज्ञानबाध्यत्व ही मिथ्या शब्द का अर्थ है ॥ ४८ ॥

ननु च ज्ञानबाध्यत्वमसिद्धं जगतीति चेत् ।
मैवं श्रुतेरनुभवात् सिद्ध्यति ज्ञानबाध्यता ॥४९॥

जगत्में ज्ञानबाध्यत्व असिद्ध है, अतः मिथ्यात्व नहीं हो सकता, इस शंकाका उत्तर यह है कि अनुभवसे तथा श्रुतिसे जगत्में ज्ञानबाध्यता सिद्ध है ॥ ४९ ॥

समाधौ यमिनो ब्रह्म साक्षात्कुर्वन्ति तत्परम् ।
न जगत्तत्र पश्यन्ति ज्ञानबाध्यं ततो जगत् ॥५०॥

ज्ञानी संन्यासी महात्मा समाधिमें परब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं ("यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म" इत्यादि वचनमें यह स्पष्ट है)

परंतु उस समय जगत्को नहीं देखते। अतएव जगत् ज्ञानबाध्य सिद्ध होता है ॥ ५० ॥

नन्विन्द्रियाद्यभावेन समाधौ नेक्ष्यते जगत् ।
न ब्रह्मण्यावृतेर्भङ्गे किमर्थं चक्षुरादिकम् ॥५१॥
उपादानं प्रपश्यद्भिः कथं कार्यं न दृश्यताम् ।
म मृदं किल पश्यद्भिर्घटस्तत्स्थो न वीक्ष्यते ॥५२॥

समाधिमें जगत् नहीं दीखता इसका अर्थ जगत् बाधित हो गया ऐसा कैसे बोल सकते हैं ? समाधिकालमें चक्षुरादि इन्द्रिय ही नहीं है। अतः जगत् नहीं दीखता, न कि बाध होनेसे। इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि चक्षुरादि इन्द्रिय तथा चित्तवृत्ति घटादिके आवरण भंगार्थ है। आवरण हमेशा चैतन्यका ही होता है। घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावरणभंग होनेपर चैतन्यस्फुरण होता है। तब अवच्छेदक घटादि भी स्फुरित होते हैं। यह सिद्धान्तप्रक्रिया है। समाधिकालमें अखण्डाकारवृत्तिसे ब्रह्मचैतन्यावरण भंग हो गया। अब चक्षुरादिकी जरूरत कहाँ रह गयी ? अब आगे सोचिये। उपादानकारणके दीखनेपर कार्य भी दीखना चाहिये। ऐसा कभी नहीं होता कि सामने घड़ा पड़ा है उसका उपादानकारण मृत्तिका दीख पड़ी और घट नहीं दीखा। प्रकृतमें जगत्का उपादान कारण ब्रह्म है। समाधिमें ब्रह्म दीख पड़ा तो उसीमें स्थित जगत् क्यों नहीं दीखेगा ? अतः मानना ही पड़ेगा कि ज्ञानसे बाधित होने ही के कारण समाधिमें जगत् नहीं दीखता ॥ ५१-५२ ॥

बाधितस्यानुवृत्त्या च शिष्यानुपदिशेद् गुरुः ।
संस्कारादीक्ष्यते सर्वं व्युत्थितेन जगत् किल ॥५३॥

समाधि आदिमें सर्वथा बाधित होनेपर भी प्रारब्धप्रयुक्त लेशाविद्या संस्काराद्युद्बोधसे बाधितानुवृत्ति होती है। उस समय गुरु शिष्योंको उपदेश भी करेगा। समाधिसे व्युत्थितको जगत् दीखता है यही इसमें दृढतर प्रमाण है। जगत्का उपादान ब्रह्म है यह प्रथम मन्त्र व्याख्यामें ही कह चुके हैं। अतः यहाँ पुनः शास्त्रार्थ नहीं करते ॥ ५३ ॥

यत्राभूत् सर्वमात्मैव तत्पश्येत्केन कं त्विति।
श्रुतिश्च जगतो बाधमस्य सर्वस्य भाषते ॥५४॥

"यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" इत्यादि श्रुति भी जगत्का बाध बताती है ॥ ५४ ॥

व्यावहारिकसत्यत्वाद् बाधितस्यानुवर्तनात् ।
शिष्यं गुरुर्बोधयतीत्यत्र का नाम ते व्यथा ॥५५॥

सारांश यह कि सभी जीव परस्पर भिन्न हैं। जीव, भेद तथा जगत् व्यावहारिक सत्य हैं। सुख-दुःखादि यादृशसत्यपदवाच्य अन्य मानते हैं वैसा सत्यपदवाच्य है। अतएव मुमुक्षुता भी सिद्ध है। सत्यपदलक्ष्यार्थ पारमार्थिकसत्ता ब्रह्मसाक्षात्कारसमाधिमें बाधित जगत्में न होनेसे अस्मदीय पारिभाषिक मिथ्या भी है। गुरु जब समाधिसे व्युत्थित होता है तब लेशाविद्या या संस्कारसे बाधित जगदनुवृत्ति होनेसे शिष्य एवं तदीय दुःखादिके दीखनेसे उपदेश भी संभव है और सफल भी है। ऐसी स्थितिमें गुरु शिष्यको प्रबोधित करता है इस अंशको लेकर आपको कौनसी व्यथा हो रही है। पूर्वपक्षियोंका आक्षेपादि सभी सिद्धान्तानभिज्ञताप्रयुक्त है यह स्पष्ट है। यही 'का व्यथा' से सूचित करते हैं ॥ ७ ॥

इति सप्तममन्त्रभाष्यवार्तिकम्

—: ० :—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथा-
तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

वह आत्मा व्यापक है स्वयंज्योति, शरीररहित, व्रणरहित, स्नायुशून्य, शुद्ध, पापालिप्त, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर, सर्वोपरि, स्वयंभू है। उसने संवत्सर-नामक नित्य प्रजापतियोंको जैसे जहाँ होता है वैसे नियतरूपसे कार्यपदार्थों को विभाग करके दिया। अर्थात् अमुक समयके अमुक साधनसे अमुक समयमें अमुक फल होता है इत्यादि नियत कर दिया। जैसे इस वर्षमें बीज लगाया तो दुसरे तीसरे वर्षमें पेड़ तैयार होता है चौथे वर्षमें फल लगता है इत्यादि तथा इस जन्ममें यागादि करनेसे मरणोत्तर स्वर्गादि प्राप्त होता है इत्यादि ॥ ८ ॥

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः—

पूर्व मन्त्रोंसे वर्णित आत्मा अपने स्वरूपसे किन लक्षणोंसे युक्त है इस

उपाधिसदसद्भावमादाय प्रागुदीरितम् ।
अधुना स्वेन रूपेण तत्त्वं व्यक्तमुदीर्यते ॥१॥

"तदेजति तन्नैजति" इत्यादि उपाधिके सद्भाव और असद्भावको लेकर पहले बताया। अब उसी तत्त्वका अपने स्वस्त्ररूपसे वर्णन करने जा रहे हैं ॥ १ ॥

विरोधाभासरूपेण ब्रह्म निर्वर्णितं पुरा ।
अधुना स्वेन रूपेण दर्श्यतेऽभ्रान्तबुद्धये ॥२॥

पहले चलता है नहीं चलता है इस प्रकार विरोधाभासरूपसे ब्रह्मको दिखाया। स्वरूपसे नहीं। कहीं उससे किसीको भ्रान्ति न हो जाय इसके लिये संप्रति अपने स्वरूपसे ब्रह्मको श्रुति दिखा रही है ॥ २ ॥

तत्त्वंपदार्थरूपाभ्यां पूर्वं यदुपवर्णितम् ।
संप्रति स्वेन रूपेण तदभेदेन दर्श्यते ॥३॥

स पर्यगात्। स यथोक्त आत्मा पर्यगात् परि = समन्ताद् अगाद् = गतवान्। आकाशवद् व्यापीत्यर्थः।

बातको यह (आठवाँ) मन्त्र कहता है वह पूर्ववर्णित आत्मा 'पर्यगात्' चारों ओर फैला हुआ है। अर्थात् आकाशके समान व्यापक है।

'ईशावास्य'में तत्पदार्थके रूपमें जिसका वर्णन किया और 'अनेजदेकं' इत्यादिमें त्वंपदार्थके रूपमें जिसका वर्णन किया उसका अपना स्वरूप जो अभेद (तत्त्वंपदार्थाभेद—असिपदार्थ) है उस रूपसे संप्रति वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥

स पर्यगात्

पर्यगात् सर्वगः सोऽयमात्मा पूर्वोपदर्शितः।
न ह्यर्थानुभवस्तस्याऽव्यापकत्वे समञ्जसः ॥४॥

मन्त्रमें 'स'का अर्थ हुआ पूर्वदर्शित स्वात्मा, पर्यगात्का अर्थ है—सर्वगामी-व्यापक। आत्मा अव्यापक हो तो अर्थानुभव उपपन्न नहीं होता ॥४॥

चक्षुराद्यर्थसंयोगे घटाद्याकारवृत्तितः।
चैतन्यावृतिभङ्गेन घटादिस्फुरणं भवेत् ॥५॥

नो चेत्तत्रात्मचैतन्यं कथंकारं घटः स्फुरेत्।
अहं घटं प्रपश्यामीत्येतदात्मघटान्वयात् ॥६॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संनिकर्ष होनेपर घटाद्याकार चित्तवृत्ति होती है। उस चित्तवृत्तिसे घटावच्छिन्न चैतन्यका आवरण भङ्ग होता है। तब उस अनावृत चैतन्यसे घटस्फुरण होता है (अर्थात् आत्म-चैतन्य सारे जगत्में व्यापक है। परन्तु आवरण उसपर पड़ा हुआ है। जहाँ चित्तवृत्ति आ जाती है उतने अंशमें आवरण दूर हो जाता है तो उतने स्थानपर आत्मा प्रकाशित होता है। उसी चैतन्यप्रकाशसे उतने स्थानकी वस्तु प्रकाशित होती है) यदि घटादिस्थानमें आत्मचैतन्य न हो तो घटका स्फुरण किस प्रकार हो। "मैं घटको देख रहा हूँ" यहाँ मेरा और घटका सम्बन्ध तो होना आवश्यक है ॥ ५-६ ॥

तन्नैजतीति नात्मायं घटादि प्रति गच्छति।
पूर्वमर्षदिति प्राप्तिं वक्ति व्यापकता ततः ॥७॥

शुक्रं = शुद्धं (शुभ्रं) ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः ।

'शुक्रं' अर्थात् शुद्ध है—ज्योतिष्मान है—दीप्तिमान है ।

यह माना जाय कि हमारे शरीरसे निकलकर अन्तःकरणके साथ आत्मा भी घटतक जाता है तो 'तन्नैजति' इस श्रुतिसे विरोध होगा । 'पूर्वमर्षत्' से प्राप्ति बतायी भी गयी । अतः अन्ततः व्यापक ही मानना पड़ेगा ॥ ७ ॥

ननु चेदात्मचैतन्यं घटादौ स्फुरणान्मतम् ।
अहं घटो मयि घटो घटेऽहमिति वा भवेत् ॥८॥

पूर्वपक्षः—यदि घटके स्फुरणकी अन्यथानुपपत्तिसे घटादिमें भी आत्मचैतन्य मानेंगे तो मैं घट हूँ या मुझमें घट है या घटमें मैं हूँ इन तीनमें-से एक प्रतीति अवश्य होगी ॥ ८ ॥

तन्नाहंकारचैतन्यमहंशब्देन भण्यते ।
यथासंस्कारमेवातः प्रत्ययः संप्रजायते ॥९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
वासुदेवः सर्वमिति वस्तुतोऽस्ति त्रयं मतम् ॥१०॥

उत्तरः—"अहं"से अहंकारावच्छिन्न चैयन्य कहा जाता है । शुद्धचैतन्यमें घटादि है । शुद्धचैतन्यसे घटस्फुरण होनेपर जैसा संस्कार है वैसा ही होगा । अर्थात् चैतन्यका अहंकारके साथ तादात्म्यसे और घटादिके साथ विषयविषयिभावसे अन्वित प्रत्यय तथा व्यवहार होगा । जो पूर्वमें तीन आपत्ति—"मैं घट हूँ" इत्यादि दी वे तीनों ही शुद्ध चैतन्यको लेकर इष्ट हैं । अतएव गीता आदिमें—सर्वत्र मुझे, और मुझमें सर्व, सर्व मैं वासुदेव ही, इसप्रकार तीनोंको स्वीकार किया ॥ ९-१० ॥

शुक्रं

शुक्रमित्यादिकं क्लीबं लिङ्गव्यत्ययतः स्थितम् ।
पुंसोपक्रमणात् पुंसा कविरित्युपसंहृतेः ॥११॥

शुक्रम् अकायम् इत्यादिमें लिङ्गव्यत्यय है । अर्थात् शुक्रः अकायः ऐसा पुंलिंग समझना चाहिये । क्योंकि "सः" ऐसा पुंलिंगसे उपक्रमण किया, फिर "कविः" इत्यादि अन्तमें भी पुलिंग प्रयोग किया ॥११॥

अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणम् = अक्षुतम्।
'अकायं' अर्थात् शरीररहित है लिंगशरीररहित है ऐसा यहाँ अर्थ है। 'अव्रणं' माने अक्षत है।

शुक्रः शुद्धप्रभोऽज्ञानाऽमिश्रो नित्यस्वयंप्रभः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादौ नित्यस्फुरणलक्षणः ॥१२॥

शुचिधातुनिष्पन्न होनेसे पवित्र ज्योति अर्थ निकलता है। पवित्रता-शुद्धता यही कि वह अज्ञानव्यवहित नहीं, प्रकाशैकरस है। फलतः नित्य-स्वयंप्रकाश है। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि स्थानमें तथा सर्वत्र यह नित्य-स्फुरणरूपेण स्थित है ॥१२॥

अज्ञानावरणेऽप्येव बहिरर्थेऽस्फुरन्नपि।
अन्तःस्फुरत्यसौ सर्वानज्ञातत्वेन भासयन् ॥१३॥

अज्ञानावरणसे क्वचिद् बहिःस्फुरणा न होनेसे अन्दर वह स्वयंप्रकाश है और अज्ञातत्वेन सबको प्रकाशित भी करता है ॥१३॥

सुप्तोत्थितो ह्यतो ब्रूते नाहं किञ्चिदवेदिषम्।
बाह्यास्फूर्तेः स्वप्रशत्वादज्ञातत्वेन भासनात् ॥१४॥

अतएव सोकर उठा हुआ व्यक्ति बोलता है—मैंने कुछ नहीं जाना। किन्तु मैंने कुछ नहीं जाना इतना तो जाना, इसमें 'मैं' का स्वयंप्रकाशस्फुरण है। कुछ नहीं जानासे बाह्यास्फूर्ति। किन्तु सभी अज्ञात रहा यही कुछ नहीं जानाका अर्थ है। अर्थात् अज्ञातत्वेन सबको जाना ॥१४॥

अकायम्

अकायो देहभिन्नः स इति केचित्प्रचक्षते।
स्वप्ने स्थूलप्रतीतिर्न स्वप्रतीतिस्तु विद्यते ॥१५॥
स्वाप्नं जाग्रति नावैति स्वं त्ववैति च जाग्रति।
स्वज्ञाने सत्यपि स्थूलसूक्ष्माद्यप्रत्ययादिति ॥१६॥

अकाय शब्दका देहभिन्न अर्थ कुछ लोग करते हैं। स्वप्नमें जाग्रत्-शरीरकी प्रतीति नहीं होती, किन्तु अपनी प्रतीति होती है। यदि जाग्रत् शरीर और स्व एक होता तो स्वकी प्रतीति होनेसे जाग्रत शरीरको भी प्रतीति होती। एवं जाग्रतमें स्वप्नादिशरीरकी प्रतीति नहीं होती, किन्तु स्वकी प्रतीति होती है। इससे निश्चित है कि 'स्व' भिन्न है और स्थूलादिशरीर भिन्न है। यह शरीरसे भिन्न होनेमें हेतु है ॥१५–१६॥

अस्नाविरं = स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् । अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः । शुद्धं—निर्मलम-

'अस्नाविरं' अर्थात् जिसमें शिरायें न हों । अव्रणम् अस्नाविरं इन दो विशेषणोंसे आत्मामें स्थूलशरीरका प्रतिषेध किया गया । 'शुद्धं' अर्थात् निर्मल—अविद्यारूपी मलसे रहित । इससे कारणशरीरका प्रतिषेध किया

अव्रणास्नाविरौ स्थूलं शुद्धशब्दश्च कारणम् ।
अपापेत्यादि सूक्ष्मं च विशेषेण निषिध्यति ॥१७॥

अव्रणम् अस्नाविरं इन दो विशेषणोंसे स्थूल शरीरका, शुद्धंसे कारण-शरीरका, अपापविद्धंसे सूक्ष्मशरीरका विशेषरूपसे निषेध है । अर्थात् अकायं से शरीरसामान्य निषेधकर उसीका विशेषेण निषेध अव्रणं इत्यादिसे किया ॥१७॥

यद्वा कायनिषेधः स्यादकायमिति शब्दतः ।
कायवत्त्वनिषेधः स्यादव्रणेत्यादिशब्दतः ॥१८॥

अथवा अकायंसे शरीरात्मक नहीं ऐसा निषेध किया और अव्रणं इत्यादिसे शरीरवाला नहीं ऐसा निषेध किया ॥१८॥

भाष्ये त्वकायशब्देन सूक्ष्मवर्जितमीरितम् ।
स्थूलकारणयोस्तूक्तो निषेधः पूर्ववच्छ्रुतौ ॥१९॥
धर्माधर्मावात्मनीति परभ्रान्तिनिवृत्तये ।
अपापविद्धमित्युक्तमिति व्याख्योपलभ्यते ॥२०॥

भाष्यमें व्याख्या दूसरे ढंगसे है । अकाय पदका सूक्ष्मशरीररहित अर्थ बताया । तथा अव्रणं अस्नाविरंसे स्थूलशरीररहित, शुद्धंसे कारणशरीररहित । अपापविद्धंसे सूक्ष्मशरीररहित अर्थ इसलिये नहीं कहा क्योंकि मीमांसक वैशेषिकादि आत्मामें पुण्यपाप मानते हैं । अतः अपापविद्धंसे सूक्ष्मशरीरकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती । बल्कि अपापविद्धंसे आत्मामें पुण्यपाप है इस परकीय भ्रान्तिका ही निरास करना अभीष्ट है ॥१९-२०॥

ननु चात्र बहुव्रीहेः कायवर्जितमुच्यते ।
कस्य तर्हि भवन्तीमे कायाः स्थूलादिलक्षणाः ॥२१॥
यदि कायमृषात्वेनाकायत्वमभिधीयते ।
अजगर्त्तर्हि वक्तव्यं सर्वस्यैव मृषात्वतः ॥२२॥

विद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः। अपापविद्धं—धर्माधर्मादिपापवर्जितम्। शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वेन परिणेयानि। स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुंलिङ्गत्वेनोपसंहारात्।

गया। अपापविद्धंका अर्थ है—धर्म एवं अधर्मरूप पापसे रहित। शुक्रं इत्यादि नपुंसक प्रयोगोंको पुंल्लिङ्गरूपसे परिणत करना चाहिये। क्योंकि 'स पर्यगात्' यहाँ सः ऐसा पुंलिङ्ग शब्दसे उपक्रम कर कविः मनीषी ऐसे पुंलिङ्ग शब्दसे ही उपसंहार किया है।

पूर्वपक्षः—यदि बहुव्रीहि करके शरीररहित अर्थ करते हैं तो आखिर ये स्थूलादि शरीर हैं किसके ? यदि स्थूलादिशरीर मिथ्या होनेसे शरीररहित कहते हैं तो 'जगद्रहित' ऐसा कहना चाहिये। सारा जगत् ही मिथ्या है ॥२१-२२॥

अत्रोच्यते प्राप्तमात्रनिषेधोऽत्र विधीयते।
शरीरवत्त्वं प्रत्यक्षात् प्राप्तं देहीति वर्णनात् ॥२३॥

उत्तरः—यहाँ आत्मस्वरूपवर्णनके लिये प्राप्तमात्रका निषेध किया जा रहा है। शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्षतः प्राप्त है। मैं शरीरधारी हूँ, चक्षुष्मान् हूँ, अज्ञानी हूँ इत्यादि सबको अनुभव होता है। वैसे जगत्धारी हूँ इसप्रकार किसीको अनुभव नहीं होता। शास्त्रोंमें भी 'शरीरस्थस्य देहिनः' 'शरीरत्वाय देहिनः' 'देही नित्यमवध्यः' इत्यादि वर्णनसे देहवत्त्व प्राप्त है ॥२३॥

ईशवर्णनमात्रेऽत्राकायमित्याद्यसंगतम् ।
अप्राप्तत्वात्प्राप्तिसत्त्वे निषेधासंभवादिति ॥२४॥

कुछ लोग यहाँ अकायं इत्यादि ईश्वरमात्रका वर्णन मानते हैं। उनके मतमें अकायं इत्यादि अप्राप्तनिषेध होनेसे असंगत होगा। क्योंकि ईश्वरका शरीर है या नहीं यह शास्त्रसे ही अवगत करना होगा। शास्त्रने ईश्वरशरीरवर्णन नहीं किया तो अप्राप्तनिषेध यहाँ होगा। यस्य पृथिवी शरीरं इत्यादिसे जो लोग पृथिवी आदिको ईश्वरशरीर मानते हैं उनके मतमें निषेध संभव ही नहीं है ॥२४॥

न च प्राकृतकायेन रहितोऽस्तीति सांप्रतम्।
प्राकृतत्वात्पृथिव्यादेर्लक्षणायाः प्रसक्तितः ॥२५॥

प्राकृतशरीररहित ऐसा अर्थ करना भी युक्त नहीं है। कारण, शरीर-रूपी पृथिवी आदि प्राकृत ही है। और कायशब्दका प्राकृत शरीर अर्थ लक्षणासे ही होगा। लक्षणासे तो कुछ भी अर्थ किया जा सकता है। परन्तु वह गत्यन्तर होनेपर मान्य नहीं होता ॥२५॥

अकायम्

लिङ्गदेहविहीनत्वात्सुखदुःखादयः कुतः ।
आभासोऽपि च मिथ्यैवेत्यकायमिति सूचितम् ॥२६॥

लिङ्गदेह न होनेसे सुखदुःखादि भी आत्मामें नहीं यह सिद्ध होता है। और अतएव आभास लिङ्गशरीरयुक्त होनेसे मिथ्या सूचित होता है ॥२६॥

नन्वाभासमते बिम्बं प्रतिबिम्बं च भिद्यते ।
भागत्यागेन तत्त्यागादकायत्वं च युज्यते ॥२७॥

प्रतिबिम्बमते बिम्बात् प्रतिबिम्बं न भिद्यते ।
अकायत्वं कथं तत्र कायसंश्लेषदर्शनात् ॥२८॥

पूर्वपक्षः—आभासवादमें 'अकायं यह विशेषण उपयुक्त है। क्योंकि उस मतमें बिम्ब और प्रतिबिम्ब भिन्न होता है। प्रतिबिम्ब लिङ्गशरीरमें पड़ता है, अतः प्रतिबिम्ब लिङ्गशरीरसम्बन्धित होनेपर भी मिथ्या होनेसे भागत्यागसे उसका त्याग हो जाता है, इसलिये अलिंगता संभव है। परन्तु प्रतिबिम्बवादमतमें बिम्बसे प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं होता और मिथ्या भी नहीं होता। उस मतमें लिङ्गशरीरका सम्बन्ध स्पष्टतया होनेसे 'अकायं' यह विशेषण कैसे संगत होगा ॥२७-२८॥

न, द्वित्वं प्रतिबिम्बत्वं लिङ्गोपाधिवशाद्यथा ।
शुद्धे प्रकल्प्यते तद्वल्लिङ्गवत्त्वं च कल्पितम् ॥२९॥

उत्तरः—प्रतिबिम्बवादमें लिङ्गशरीरोपाधिके कारण ब्रह्ममें द्वित्व एवं बिम्बप्रतिबिम्बभावकी कल्पना है। वैसे लिङ्गशरीरसम्बन्धकी भी कल्पना-मात्र है ॥२९॥

अव्रणम्

व्रणस्नावादिमत्स्थूलमतत्त्वान्न द्विजाद्यदः ।
न तेन कर्मसम्बन्धोऽप्यधिकाराभिधोऽस्य हि ॥३०॥

व्रण, स्नायु आदि स्थूल शरीरमें होता है। उससे रहित होनेसे स्थूल

शरीरवर्जित अतएव द्विजत्वादि धर्मशून्य है। अधिकाराख्य कर्मसम्बन्ध भी अतएव नहीं है यह बात उपक्रममें बताया गया ॥३०॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं नायं हन्ति न हन्यते।
अव्रणत्वोक्तितः सर्वमेतादृगिह सूचितम् ॥३१॥

अव्रण कहकर 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं' इत्यादि 'नायं हन्ति न हन्यते' इत्यादि सभी सूचित होता है ॥३१॥

अस्नाविरम्

प्राणेन्द्रियादिसहिते जीवेऽपेते यथा तरोः।
स्नावाशोषेण शुष्यन्ति शाखा नात्मा तथाविधः ॥३२॥

प्राणेन्द्रियादिसहित जीव जब निकलता है तब स्नायु शोष होकर शाखा वृक्षादि सूख जाते हैं। परंतु आत्मा अस्नाविर होनेसे नहीं सूखता ॥३२॥

शुद्धम्

शुद्धमज्ञानरूपेण मलेन रहितं यतः।
अज्ञानमपि सन्नेव कल्पितत्वान्निजात्मनि ॥३३॥

शुद्धका अर्थ है—अज्ञानरूपी मलसे रहित। अज्ञान भी सत् नहीं है; वह भी आत्मामें कल्पित है ॥३३॥

नन्वज्ञानं यदि भवेदज्ञानान्तरकल्पितम्।
अनवस्थादयो दोषाः प्रसज्येरंस्तवेति चेत् ॥३४॥

पूर्वपक्षः—यदि अज्ञान कल्पित है तो किससे ? दूसरे अज्ञानसे ? वह दूसरा अज्ञान किससे कल्पित है ? यदि तीसरेसे तो इसप्रकार अनवस्था होगी ॥३४॥

तन्नानादीदमज्ञानं स्वयं कल्पितमिष्यते।
ज्ञानवाध्यत्वतः सिद्धा स्वयंकल्पितताऽस्य हि ॥३५॥

उत्तर :—यह अज्ञान अनादि है कल्पितरूपसे ही सिद्ध है। अतएव स्वयं कल्पित माना जाता है। अनादित्वात् आत्माश्रय दोष नहीं है। अज्ञान वाध्य होनेसे कल्पितता माननी ही होगी ॥३५॥

स्वयं श्वमांसं मलिनमात्मसूर्यौ स्वयंप्रभौ।
स्वयं पवित्रं गङ्गाम्भः स्वयंकल्पितकं तमः ॥३६॥

पात्रादि श्वानमांसस्पर्शसे अपवित्र होते हैं, परंतु श्वमांस स्वयं अपवित्र है। सूर्य तथा आत्मासे वस्तु प्रकाशित होती है, परंतु सूर्य और आत्मा स्वयंप्रकाश है। गङ्गाजलसे अन्य वस्तु पवित्र होती है। गङ्गजल स्वयं पवित्र है। वैसे अज्ञानसे प्रपञ्च कल्पित होता है, परंतु अज्ञान स्वयं कल्पित है ॥३६॥

विज्ञानेन निवृत्तिर्हि कल्पितस्योपपद्यते।
सिद्धं ज्ञाननिवर्त्यत्वमज्ञानस्य प्रमाणतः ॥३७॥

ज्ञाननिवर्त्यत्व कल्पितमें ही होता है। और "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितं" इत्यादि वचनोंसे तथा युक्ति अनुभवसे भी अज्ञान ज्ञाननिवर्त्य सिद्ध है। अतः कल्पित मानना पडेगा, अन्ततः स्वयंकल्पित ही सिद्ध होगा ॥३७॥

अपापविद्धम्

अपापेत्यत्र पापेति धर्माधर्मौ विवक्षितौ।
धर्मस्यापि च पापत्वं पापहेतुतया स्थितम् ॥३८॥
धर्मेणापि भवेज्जन्म जन्मन्यस्त्येव कर्म च।
सर्वारम्भा हि दोषेणेत्युक्तेः कर्म च दोषवत् ॥३९॥

अपापविद्धं यहां पापपदसे धर्म अधर्म दोनों विवक्षित हैं। धर्म भी पापहेतु होनेसे पाप है। क्योंकि धर्मसे भी जन्म होना है। जन्म होनेपर कर्म भी होगा। और 'सर्वारम्भा ही दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' इस गीतावचनसे कर्ममात्रमें पापदोष रहता ही है ॥३८-३९॥

तेनैव वचसा धर्मः स्वयमेव च दोषभृत्।
तथा च पापरूपत्वं धर्मस्यापि ध्रुवं स्थितम् ॥४०॥

धर्म जन्मान्तरीय पापहेतु होनेसे पापशब्दलक्ष्य है इतना ही नहीं, "सर्वारम्भा हि दोषेण" इत्यादि उक्त गीतावचनसे स्वयं धर्म भी आरम्भात्मक होनेसे दोषयुक्त एवं पापरूप है ॥४०॥

उपक्रान्तं न सुकृपं न दुष्कृतमिति श्रुतिः।
परामृश्याह पाप्मानो निवर्तन्तेऽत इत्यपि ॥४१॥
अहोरात्रजरामृत्युशोकास्तत्रोदिता अपि।
पाप्मान इति भाष्योक्तेनं विच्छद्यान्वयो मतः ॥४२॥

छान्दोग्यमें "न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" इस प्रकार सुकृतदुष्कृत दोनोंका पाप्मा पदसे अनुवाद इसमें प्रमाण है। यद्यपि वहाँ पूरा मन्त्रांश इस प्रकार है—"अथ य आत्मा स सेतुः ....नैनं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते"। इसमें ऐसा भी अन्वय संभव है—अहोरात्र जरामृत्यु और शोक एवं सुकृतदुष्कृत आत्मसेतुको प्राप्त नहीं होते। एवं सब पाप उससे निवृत्त होते हैं। इस प्रकार पूर्वानुवाद किये बिना ही विच्छिद्यान्वय है तथापि भाष्यमें "अहोरात्राद्या उक्ता अनुक्ताश्चान्ये सर्वे पाप्मान उच्यन्ते" इस प्रकार "सर्वे पाप्मानः" को उक्तानुक्तानुवाद ही बताया। अहोरात्रादि कैसे पापरूप हैं इसका उत्तर "पाप्मकार्याणां" इस आनन्दगिरि टीकामें सूचित हुआ है। विच्छिद्यान्वय माननेपर 'न दुष्कृतं' से गतार्थ होनेसे 'सर्वे पाप्मान' इत्यादि अंशकी व्यर्थता स्पष्ट है ॥४१-४२॥

पुण्यपापादिकं सर्वं लिङ्ग एव न चात्मनि।
जरामृत्युजनुःशोकप्रभृतिश्च ततो न हि ॥४३॥

पुण्यपापादि सभी लिंगशरीरमें ही हैं, आत्मामें नहीं, अतएव उसके कार्य उक्त मन्त्रमें उक्त तथा अनुक्त जरामरण जन्म शोकादि कोई भी आत्मामें नहीं है ॥४३॥

ननु नैव जडः कर्ताऽकर्तुः पुण्यादिकं कथम्।
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्स ततः पुण्यादि तस्य हि ॥४४॥

पूर्वपक्षः—जड कर्ता नहीं होता। अकर्ता अन्तःकरणादिमें तब पुण्यपाप कैसे ? कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इस अधिकरणमें आत्माको कर्ता बताया है। अतः पुण्यपाप भी आत्मामें ही होना चाहिये ॥४४॥

मैवं तदीयसांनिध्यादकर्तुरपि कर्तृता।
आभासस्यैव शास्त्रार्थवत्त्वात्कर्तृत्वमुच्यते ॥४५॥

उत्तरः—आत्माके सांनिध्यसे अकर्ता भी अन्तःकरणादिमें कर्तृत्व आता है जैसे, अयस्कान्त मणिके सांनिध्यसे लोहेमें क्रिया होती है। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' यहाँ आभासको कर्ता बताया साक्षीको नहीं ॥४५॥

तत्राप्युपाधितोऽविद्याप्रत्युपस्थापितं मतम्।
यथा च तक्षोभयथेत्यत्र तच्च प्रदर्शितम् ॥४६॥

आभासरूपी जीवात्मामें भी उपाधिके कारण आविद्यक कर्तृत्व ही है। "यथा च तक्षोभयथा" इस अधिकरणमें यह स्पष्ट किया है ॥४६॥

बुद्धेर्ग्रहणशक्ती द्वे स्वच्छास्वच्छात्मिके मते।
आत्माभासाद् भवेत्स्वच्छे ज्ञानमन्यत्र च क्रिया ॥४७॥

विद्युतः किल सम्बन्धाद् व्यजने जायते क्रिया।
वर्त्तिकायां प्रकाशश्च तद्वदत्रापि बुध्यताम् ॥४८॥

बुद्धिमें दो ग्रहणशक्तियाँ हैं। एक स्वच्छ और दूसरी अस्वच्छ है। स्वच्छमें चित्प्रतिबिम्बसे ज्ञान होता है। अस्वच्छमें क्रिया होती है। जैसे बिजलीके सांनिध्यसे पंखेमें क्रिया होती है और वल्बमें प्रकाश होता है ॥४७-४८॥

ननु कर्तृपदं सः स्यात्पूर्वोक्तैकत्वदर्श्यसौ।
शुक्रमित्यादि कर्म स्यात् पर्यगाद् गच्छतीश्वरम् ॥४९॥

पूर्वपक्षः—"स पर्यगाच्छुक्रं" यहाँ सः, अर्थात् वह पूर्वोक्त एकत्वदर्शी शुक्रादिरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है, इसप्रकार अन्वय संभव है। तब नपुंसकका पुंलिङ्ग विपरिणाम क्यों मानना चाहिये ? ॥४९॥

न प्राप्यप्राप्तृभावो हि द्वैते सत्येव युज्यते।
आत्मैवैकेक्षिणो यस्य द्वैतं तस्य क्व विद्यते ॥५०॥

उत्तरः—प्राप्यपापकभाव तो द्वैतमें होता है। "एकत्वमनुपश्यतः आत्मैवाभूत्" ऐसा जिसके लिये कहा उसको द्वैत कहाँ रहता है ॥५०॥

शोकमोहप्रतिक्षेपे पुरुषार्थसमापनात्।
निजानन्दातिरिक्तं किं प्राप्तव्यमवशिष्यते ॥५१॥

स्वानन्दलक्षणं चेत्तत्प्राप्तिः स्यादौपचारिकी।
घट्टकुट्यां प्रभातेन व्यर्था स्यात्कर्मकर्तृता ॥५२॥

"तत्र को मोहः कः शोकः" इसप्रकार शोकमोहनिवृत्ति होनेपर पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है। फिर "स पर्यगात्से" स्वात्मानन्दातिरिक्त कौनसी वस्तु प्राप्तव्यतया अवशिष्ट बतायी जा रही है। यदि कहें कि स्वात्मानन्द प्राप्ति ही 'सपर्यगात्'में कहा जा रहा है तो इसका मतलब हुआ शुक्रं इत्यादि प्राप्तव्य आत्मानन्दका स्वरूप हुआ परंतु आत्मा स्वयं प्राप्त होनेसे उसकी प्राप्ति औपचारिक ही होगी। शब्दान्तरसे कहो तो 'स'से

कविः = क्रान्तदर्शी सर्वदृक्। नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतेः।

'कविः' माने क्रान्तदर्शी यानी सर्वदर्शी। "इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है" ऐसा श्रुतिमें भी कहा है।

उक्त आत्माका ही स्वरूपवर्णन शुक्रं इत्यादिसे किया। यह तो घट्टकुटी-प्रभातवृत्तान्त हुआ। तब कर्तृकर्मभावानुसन्धानक्लेशके बिना लिङ्गव्यत्ययसे आत्मस्वरूपवर्णन ही क्यों नहीं मानते ॥५१-५२॥

विशेष्यपदराहित्यादध्याहार्यं च ते भवेत्।
कविरित्यादिपार्थक्यमपि चात्रासमञ्जसम् ॥५३॥

"स शुक्रादिरूपं पर्यगात्" यहाँ शुक्रादि क्या ? विशेष्यावचक पद न होनेसे उसका अध्याहार करना पड़ेगा। फिर कविर्मनीषी इत्यादि कुछ विशेषण कर्ताके साथ जोड़ना बिना मतलब होगा। कवि इत्यादिका ईश्वरार्थ पक्षमें बिना प्रसंग ही जीवसे तुरन्त ईश्वरमें कूदना होगा ॥५३॥

कविः

क्रान्तदर्शी कविर्द्रष्टा नान्योऽतोऽस्तीति सर्वदृक्।
सर्वतादात्म्यतः सर्वद्रष्टृत्वमुपपद्यते ॥५४॥

कविका क्रान्तदर्शी सर्वद्रष्टा अर्थ है। "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" यह श्रुति कहती है कि कोइ दूसरा द्रष्टा नहीं है। चैतन्य व्यापक होनेसे सर्वसंबन्धी है, अतः सर्वद्रष्टा हो सकता है ॥५४॥

विषयत्वं हि तादात्म्यमनावृतचितो भवेत्।
नित्यानावृतचिद्रूपः सर्वद्रष्टेश्वरस्ततः ॥५५॥

नैयायिकादि मतमें विषयता एक सम्बन्धविशेष है। परंतु वेदान्तमतमें अनावृतचित्तादात्म्य ही विषयता है। ईश्वरचैतन्य नित्य अनावृतचिद्रूप होनेसे वह सर्वद्रष्टा है ॥५५॥

वृत्त्यनावृतचैतन्यं शारीरस्य घटादिषु।
स्वतोऽनावृतचैतन्यमीश्वरस्य घटादिषु ॥५६॥

जीवात्माका घटादिमें वृत्त्यनावृतचैतन्यतादात्म्य है। और ईश्वरका स्वतः अनावृतचैन्यतादत्म्य है ॥५६॥

मनीषी = मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः ।

मनीषी अर्थात् मनको प्रेषित करनेवाला सर्वज्ञ ईश्वर ।

मनीषी

मनीषी मनसोऽपीषी सर्वज्ञः सकलेश्वरः ।
सर्वाणि ज्ञानकर्माणि प्रयोजयति यन्मनः ॥५७॥

मनके भी वह प्रेरयिता है। अतएव सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर है। क्योंकि मन ही समस्त ज्ञान एवं कर्मों का प्रयोजक है। ॥५७॥

वासनासमुदायं हि मन आहुर्मनीषिणः ।
यत्सर्ववासनायुक्तं तां मायां जगदुर्बुधाः ॥५८॥

वासनासमुदाय ही मन है और जो सर्ववासनायुक्त है वही माया है ऐसा विद्वनोंने पंचदशी आदिमें कहा है ॥५८॥

मायायां भूतवस्तूनि वर्तन्ते वासनात्मना ।
भविष्याणि च सर्वाणि तथा सत्कार्यवादिनाम् ॥५९॥

मायामें भूतवस्तु सभी संस्काररूपसे रहते हैं तथा भविष्य वस्तु भी संस्काररूपसे रहते हैं। क्योंकि हम सत्कार्यवादी हैं ॥५९॥

असत्कार्यमतं सम्यग् भञ्जयामास भाष्यकृत् ।
बृहदारण्यके भाष्ये तस्मात्तदुपपद्यते ॥६०॥

वृहदारण्यक भाष्यमें असत्कार्यवादनिराकरण सम्यक् किया है ॥६०॥

न चानिर्वचनीयत्वं सिद्धान्तेऽभ्युपगम्यते ।
कथं सत्कार्यवादित्वं भवतामिति सांप्रतम् ॥६१॥

सत्यं विषमसत्तायां सर्वानिर्वचनीयता ।
समसत्ताकहेतौ तु मृदि सन् हि घटो मतः ॥६२॥

पूर्वपक्षः—आपका अनिर्वचनीयतावाद सिद्धान्त है। सत्कार्यवाद कैसा ? समाधानः—विषमसत्तास्थलमें अनिर्वचनीयतावाद है। जैसे रज्जुमें सर्प तथा परमात्मामें जगत् । परन्तु समसत्तामें मिट्टीमें घट सत् ही है ॥६१-६२॥

अस्त्वनिर्वचनीयत्वं तथापि न वचःक्षतिः ।
वासनात्मतया हेतौ कार्यसत्त्वं न तद्रिपुः ॥६३॥

परिभूः सर्वेषां परि-उपरि भवतीति परिभूः ।

'परिभूः' का अर्थ है जो सबके परि-उपरि सर्वोपरि रहनेवाला ।

और मृत्तिकामें भिन्नाभिन्नत्वादिरूपेण अनिर्वचनीय मान लेनेपर भी पूर्वोक्तवचनकी क्षति नहीं है। वासनारूपसे कारणमें कार्य रहे और अनिर्वचनीय भी हो इसमें क्या विरोध है ॥६३॥

इत्थं भूतभविष्याणां मायाया वासनात्मना ।
स्वात्मना वर्तमानानां सत्त्वात्सर्वज्ञतेषितुः ॥६४॥

इस प्रकार भूत और भविष्य वस्तु मायामें वासनारूपसे हैं और वर्तमान वस्तु स्वरूपसे हैं। अतएव मनःसमुदाय मायाके ईषिता परमेश्वरमें सर्वज्ञता स्पष्ट है ॥६४॥

सृजत्यवति हन्त्येतद् विश्वं मायावशात् पुमान् ।
सर्वेश्वरत्वमप्येवं तस्य सिद्धं मनीषिणः ॥६५॥

मायासे ही परमेश्वर जगत्की सृष्टि स्थिति संहार करते हैं। अतएव मनीषीकी सर्वेश्वरता भी स्फुट है ॥६५॥

परिभूः

भवत्युपरि सर्वेषां परिभूः स निगद्यते ।
पारमार्थिकसत्तैवोपरिसत्ता परात्मनि ॥६६॥

उपरि भवति इस अर्थमें परिभू शब्द है। सर्वोपरि सत्ता-पारमार्थिक सत्ता परमात्मामें है, अतः वह परिभूः है ॥६६॥

त्रिकालाबाधिता सत्ता प्रोच्यते पारमार्थिकी ।
तदधीना च सर्वस्य सत्ता विश्वस्य संमता ॥६७॥

त्रिकालाबाधित सत्ता ही पारमार्थिक सत्ता है। समस्त विश्वकी सत्ता तदधीन है ॥ ६७ ॥

घटादिसत्ता सोपाधितत्सत्तैव न चापरा ।
उपाध्यनुविधाय्यूर्ध्वाधोभावो भणितो बुधैः ॥६८॥

घटादिकी सत्ता घटाद्युपहित परमात्मसत्ता ही है, दूसरी नहीं। उपाधिके अनुसार सत्तामें उर्ध्व-अधःभाव है। जैसे शुक्तिरजत उपाधि हो तो

स्वयंभूः—स्वयमेव भवतीति । येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः । स नित्यमुक्त

स्वयंभूः अर्थात् जो स्वयं हो । जिनके ऊपर है, जो ऊपर है, वह सब स्वयं ही है, इसलिये स्वयंभू कहा । उस नित्यमुक्त ईश्वरने सर्वज्ञ होनेसे 'याथातथ्यतः'

सर्वाधः प्रातिभासिक सत्ता है । घटादि व्यावहारिक उपाधि होनेपर ऊर्ध्वं व्यावहारिक सत्ता है । और प्रतिभासिकत्वादिप्रयोजक उपाधिके अभावमें सर्वोर्ध्वं पारमार्थिक सत्ता है ॥६८॥

विशिष्टशुद्धयोर्भेदाद्भेदेनैषा प्रतीयते ।
शुद्धाधीनं विशिष्टं हीत्यधीनत्वं च युज्यते ॥६९॥

विशिष्ट और शुद्ध भिन्न होनेसे सत्ताभेदकी प्रतीति है । और विशिष्ट शुद्धाधीन होनेसे शुद्धमें उपरिभाव और विशिष्टमें अधोनभाव भी युक्तियुक्त है ॥६९॥

परे तु त्रिविधा सत्ता प्रथमा पारमार्थिकी ।
व्यावहारिक्यथान्या स्यात्तृतीया प्रातिभासिकी ॥७०॥
श्रेष्ठत्वात्पारमार्थिक्या उपरित्वं च युज्यते ।
स्वाम्यर्थवत्प्रयुक्तोऽयं श्रेष्ठार्थेऽप्युपरियंतः ॥७१॥

अन्य विद्वान् तीन सत्ताओंको पृथक् ही मानते हैं । प्रथम पारमार्थिकी द्वितीय व्यावहारिकी और तृतीय प्रातिभासिकी है । पारमार्थिक सत्ता श्रेष्ठ होनेसे उपरि है । उपरि शब्द स्वामी अर्थमें जैसे वैसे श्रेष्ठार्थमें भी प्रयुक्त होता है । सैनिक मन्त्री आदि सबके ऊपर राजा है यहाँ सर्वस्वामी या सर्वशासक अर्थ है जिसके अधीन अन्य सब है । सौन्दर्यमें सर्वोपरि लक्ष्मी है इत्यादिमें सर्वश्रेष्ठ अर्थ है ॥७०-७१॥

स्वयंभूः

अन्यानपेक्षसत्ताकः स्वयंभूर्यो भवेत् स्वयम् ।
स्वयंप्रकाशवद् ब्रह्म स्वयंसत्ताकमिष्यते ॥७२॥

अन्यनिरपेक्षा जिसकी सत्ता हो उसको स्वयंभू कहते हैं । ब्रह्म जैसे स्वयंप्रकाश है वैसे स्वयंसत्ताक भी है ॥७२॥

ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद् यथातथाभावो याथातथ्यं तस्माद् यथाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान् कर्तव्यपदार्थान् व्यदधाद् विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः ।

अर्थात् जैसा होना चाहिये वैसा यानी जैसा कर्म जैसा फल और जैसा साधन होना चाहिये उसीके अनुरूप कर्तव्यपदार्थोंको शाश्वती यानी नित्य संवत्सर नामवाले प्रजातियोंके लिये विभाग कर दिया ॥८॥

मृदपेक्षा भवेत् कार्यघटसत्ता न संशयः ।
ब्रह्म नाम सदेवेदमसतः सद्भवेत् कथम् ॥७३॥

घट कार्य है अतएव घटसत्ता मृत्सापेक्ष है। क्योंकि कार्यसत्ता कारण-सापेक्ष होती है। ब्रह्म तो सत्को ही कहते हैं। उसका भी कोई कारण होगा तो उस कारणकालमें कार्य सत् नहीं रहा, ऐसा मानना होगा। सत् नहीं रहा'का अर्थ है असत्। असत्से भला सत् कैसे होगा। अतः ब्रह्म निरपेक्षसत्ताक है ॥७३॥

यद्वा येषामुपरि स यश्चोपरि वितिष्ठते ।
स्वयमेव भवेत्सर्वं स्वयंभूस्तेन कीर्तितः ॥७४॥

अथवा स्वयमेव ऊपर भी और स्वयमेव नीचे भी अर्थात् कार्यकारणा-कारसे स्वयमेव ब्रह्म ही होता है अतः स्वयंभू है ॥७४॥

अहिकुण्डलवत्सर्वं स्वयमेव भवत्यसौ ।
ध्येयो ध्याता च गन्तव्यो गन्तैवं शिष्यशासकौ ॥७५॥

'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' इस न्यायसे ध्याता तथा ध्येय, गन्तव्य तथा गन्ता, शासनीय तथा शासक आदि सभी रूपमें स्वयमेव परमेश्वर ही भेदव्यपदेशवाले होते हैं। जैसे सर्प ही कुण्डलाकार होकर कुण्डली होता है ॥७५॥

याथातथ्यतो०

यस्मिन्काले यथा ह्यर्थस्तथा तत्र भवेदिति ।
याथातथ्येन सर्वार्थान् समाभ्यो व्यभजद्विभुः ॥७६॥

यथा तथा भावो यथातथ्यं ऐसा विग्रह है। जिस कालमें जैसा अर्थ

होता है वैसा उस समयमें हो इसके लिये परमेश्वरने समस्त कार्य पदार्थोंको संवत्सरात्मक प्रजापतियोंको विभाग कर दिया ॥७६॥

प्रजापतय एवात्र संवत्सरपदाः समाः ।
फलसाधनकर्माणि विभक्तानि समासु हि ॥७७॥

यहाँ 'समाः'से संवत्सर नामक प्रजापतियोंका ग्रहण है। संवत्सरोंमें ही फल, साधन एवं कर्मरूपी अर्थोंका विभाजन है ॥७७॥

ये हि दुर्मतिदुन्दुभ्याद्याख्यसंवत्सराः स्मृताः ।
प्रजापतय उच्यन्ते शाश्वता एव ते मताः ॥७८॥

जो आजकल दुर्मति दुन्दुभी आदि नामवाले संवत्सर चल रहे हैं वे प्रजापति हैं, शाश्वत हैं ॥७८॥

स्थित्वा ह्येकैकवर्षं ते निवृत्य स्वाधिकारतः ।
कालान्तरे प्रवर्तन्ते पुनस्ते तेन शाश्वताः ॥७९॥

दुन्दुभी आदि प्रजापति एक-एक वर्ष रहकर अपने अधिकारसे निवृत्त होते हैं। फिर कालान्तरमें अपना समय आता है तो अधिकारपर आते हैं (अनेक वर्षोंमें फिर उन्हींका टरन आता है) अतएव ये नित्य हैं ॥७९॥

कर्षणं प्रथमं जातं वपनं च ततः परम ।
फलं पश्चादिदं लोके काले नियतमीक्ष्यते ॥८०॥

प्रथम कर्षण (हल चलाना हुआ) श्रावणमें वपन हुआ भाद्रपदादिमें फल यह सब कालनियत प्रत्यक्ष है ॥८०॥

स्वर्गयागादयश्चैवं कालेषु नियतेषु हि ।
प्रवर्तन्ते ततोऽर्थानां काले विभजनं मतम् ॥८१॥

इसी प्रकार स्वर्गयागादि भी नियतकालमें ही होता है। (याग इस जन्म समयमें, जन्मान्तरमें स्वर्ग इत्यादि) अतः अर्थोंका कालमें विभाग अभिमत है ॥८१॥

नन्वश्विन्यादयो नित्यास्तथा प्रतिपदादयः ।
आवर्तन्ते हि ताश्चापि कथं नोक्ता इहेति चेत् ॥८२॥

संवत्सरोऽजायतेति नियन्तृविषया श्रुतिः ।
संवत्सरं निगदति यथाश्रुत्यवबुध्यताम् ॥८३॥

अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र प्रतिपत् द्वितीय आदि तिथि ये भी आवर्तमान होनेसे नित्य हैं। श्रुतिने उनको क्यों नहीं कहा ? इस प्रश्नका उत्तर यह कि "ततः संवत्सरोऽजायत" इत्यादि श्रुतिमें नियन्ता प्रजापतिके रूपमें संवत्सरका ही जन्म बताया। अतः इस बातको श्रुतिके आधारपर ही समझना होगा ॥८२॥

नन्वजायन रात्रीति रात्रिश्च श्रुतिभाषिता।
सत्यं नियन्तृरूपेण सवत्रैव समाः श्रुताः ॥८४॥

यद्यपि 'ततो रात्र्यजायत' इसप्रकार रात्रि आदिको भी श्रुतिमें बताया है। तथापि अर्थनियन्ताके रूपमें बहुत स्थलोंमें संवत्सर प्रजापतिका ही श्रुतियोंमें उल्लेख है ॥८४॥

ननु ह्यशाश्वतां नैव दिनानामंशिसम्भवः।
कथं संवत्सराख्योऽयमेको नाम प्रजापतिः ॥ ८५ ॥

न च वाच्यमनित्यानां वर्णानां संहृतिर्यथा।
वाच्यमेकं भवेद् बोधजनकं तद्वदत्र हि ॥ ८६ ॥

यत्तत्तद्वर्णसंस्कारसहिता यान्त्यवर्णधीः।
बोधिका सैव सम्प्रोक्ता तार्किकैर्नाक्षरव्रजः ॥ ८७ ॥

पूर्वपक्षः—संवत्सरका अर्थ है तीन सौ पैंसठ दिन। उनका एक साथ पैदा होना असंभव है। अतः एव उनसे एक अवयवी भी नहीं हो सकता। तब संवत्सर नामका प्रजापति कैसा ? यदि कहें कि वर्ण क्षण-क्षण नष्ट होता गया। फिर भी अनेक वर्ण मिलकर एक वाक्य बनता है। वैसे नाशनान् दिनोंसे संवत्सर बन सकता है, तो उसपर वक्तव्य यही कि नैयायिक लोग तत्तद्वर्णके नष्ट होनेसे तत्तद्वर्णश्रवणजनितसंस्कारसहकृत अन्तिम वर्णज्ञान ही बोधकारण मानते हैं, न कि वर्णसमुदाय ॥८५-८६-८७॥

किं च वर्षान्तदिवसध्वंसे ध्वंसात् कथं खलु।
संवत्सरस्य नित्यत्वं सम्भवेदिति चेन्न तत् ॥ ८८ ॥

दूसरी बात वर्षके अन्तिम दिनका ध्वंस हुआ तो वर्षका भी ध्वंस निश्चत है। तब वह शाश्वत कैसे ? ॥८८॥

संवत्सराभिमानिन्यो देवता एव शाश्वताः।
नियामकतया प्रोक्ता इति नैवास्त्यसङ्गतिः ॥ ८९ ॥

उत्तरः—संवत्सर समय विनाशी होनेपर भी संवत्सराभिमानी देवता यहाँ प्रजापति पदसे विवक्षित हैं, और वे नित्य हैं ॥८९॥

ननु तद्देहकालस्यानित्यत्वाच्छाश्वताः कथम् ।
अन्यथा शाश्वता जीवा अपि किं नु विशेषणात्॥ ९० ॥

पूर्वपक्षः—संवत्सर प्रजापतियोंका शरीर एक वर्ष समय हुआ। शरीर नष्ट होनेसे प्रजापति शाश्वत कैसे ? चैतन्य शाश्वत है कहो तो जीवचैतन्य भी शाश्वत है, 'शाश्वतीभ्यः' यह विशेषण व्यर्थ ही होगा ॥९०॥

अत्रोच्यते देवता सा ममत्वं लभते नु या ।
न त्वहं त्वं शरीरादावनुग्राह्योऽधिकारभृत् ॥ ९१ ॥

उत्तरः—देवता उसको कहते हैं जो ममत्वाभिमान तो शरीरादिमें करता है, किन्तु अहंत्वाभिमान नहीं। शरीरादि उनके अनुग्राह्य है। वे अधिकारवाले होते हैं। यथा हस्तका देवता इन्द्र है' इसका अर्थ यह है कि हस्तमें इन्द्र ममत्व करता है। हस्त अनुग्राह्य हैं। इन्द्र अधिकारवान् है। परंतु हस्तको 'यह मैं' करके अभिमान नहीं करता ॥९२॥

अहंत्वाध्यासशून्यत्वान्नैव तद्दुःखदुःखिता ।
देहव्यावर्तनायैव शाश्वतीभ्यो विशेषणम् ॥ ९२ ॥

अहंत्वाध्यास नहीं होता। इसलिये हस्तादिके दुःखसे इन्द्र दुःखी नहीं होता। जैसे पुत्रको चोट लगती है तो उसका दर्द ममत्व करनेवाले भी पितामें नहीं आता। कारण उसमें अहंत्वाध्यास नहीं है। निजशरीरमें अहंत्वाध्यास है। अतः उसके दुःखसे स्वयं दुःखी होता है ॥

'शाश्वतीभ्यः' यह विशेषण देहकी व्यावृत्तिके लिये है। अर्थात् कालात्मक संवत्सरकी व्यावृत्तिके लिये है ॥९२॥

अनन्तवत्सरार्थाय चकारार्थान्महेश्वरः ।
इत्याद्यर्थस्तु वैयर्थ्यात्समाशब्दस्य नेष्यते ॥ ९३ ॥
शाश्वताय चिरार्थायेत्युक्तानुक्तार्थलाभतः ।
समाः संवत्सराख्यानप्रजापत्यर्थकं पदम् ॥ ९४ ॥
अनन्तकालपर्यन्तस्थायी नार्थश्च कश्चन ।
विहितः परमेशित्रा जन्यस्यानित्यता यतः ॥ ९५ ॥

कुछ लोगोंने यहाँ व्याख्या की है—अनन्त वर्षोंके लिये-प्राणिभोगार्थ परमेश्वरने पदार्थोंको बनाया। परन्तु उस व्याख्यामें संवत्सर शब्द व्यर्थ

है। शाश्वताय कहने ही से उक्तार्थं लाभ होता है और अनन्तवर्षपर्यन्त-स्थायी पदार्थ अप्रसिद्ध है। क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है। आकाशादि अनुत्पन्न शाश्वत मानेंगे तो व्यदधात् यह विशेषण नहीं लगेगा ॥ ९३-९५ ॥

युगपच्चैव नैवार्थान् विधाय स्वपितीश्वरः।
प्रतिक्षार्थजनुष ईशाधीनस्य दर्शनात् ॥९६॥
यदि प्रकृतिरेवेदं जनुरर्थं प्रयोजयेत्।
अनादिसिद्धा सा नूनमीशमेव विसर्जयेत् ॥९७॥

अनन्तकालके लिये पदार्थोंको अभीसे या पूर्व ही बना डाला तो फिर बादमें वह ईश्वर क्या करता है? सो जाता है क्या? प्रतिक्षण पदार्थोंका जन्म देखनेमें आता है। वह ईश्वराधीन ही मानना पड़ेगा तब अनन्तकालके लिये पदार्थोंको बना छोड़ा नहीं। यदि वह कहें कि एकबार ईश्वरने बना डाला। बादमें प्रकृति स्वयं बनाती रहेगी। जैसे एकबार गाड़ीको धक्का दिया तो फिर बहुत दूर तक गाड़ी अपने आप चलती रहेगी तो उसपर वक्तव्य यह है कि तब वह प्रकृति ईश्वरका ही विसर्जन कर डालेगी। यदि संसार और प्रकृति सादि होते तो परमेश्वरके प्राथमिक धक्केकी जरूरत रहती। परन्तु प्रकृति तथा संसार अनादि होनेसे स्वयमेव प्रकृतिसे सृष्टि होती रहती। आदि सृष्टिमें समीक्ष्य-कारिता है तो आजकी सृष्टिमें भी समीक्ष्यकारिता है। अतः अनन्त-कालके लिये भोग्यपदार्थोंको बना डाला ऐसी व्याख्या असंगत है ॥९६-९७

प्रजापतय एवातः समाशब्दविवक्षिताः।
शतं समा इति प्रोक्तं संवत्सरनियामिकाः ॥९८॥

इसलिये यहाँ समा शब्द से प्रजापति ही विवक्षित हैं सो भी जिजीवि-षेच्छतं समाः इस प्रकार पहले कहे गये संवत्सर ही के नियामक समझने चाहिये न कि पूरे कल्प के अधिपति प्रजापति।

अतएव 'समाभ्यः' यह बहुवचन भी सुगमतया समझमें आता है। अन्यथा संवत्सरनामके कितने प्रजापति कहाँ-कहाँ रहते हैं इत्यादि बातोंको लेकर अज्ञान ही छाया रहेगा ॥९८॥

॥ इत्यष्टममन्त्रभाष्यवार्तिकम् ॥

अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः । "ईशावास्यमिदं सर्वं" "मा गृधः कस्यस्विद्धनमि" ति । अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठाऽसंभवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेदिति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः ।

यहाँ प्रथम मन्त्र (ईशावास्यं)से त्रिविध एषणाका त्यागकर ज्ञाननिष्ठा करनेको जो उपदेश किया वही प्रथम वेदार्थ है। ईशावास्यमिदं सर्वं यह ज्ञाननिष्ठा कथन है। "मा गृधः कस्यस्विद्धनं" यह एषणात्यागोपदेश है। जीवनेच्छावाले अज्ञानियोंके लिये ज्ञाननिष्ठा संभव न होनेसे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्" से कर्मनिष्ठाका उपदेश किया। यही द्वितीय वेदार्थ है।

नमामि　जगदुत्पत्तिस्थितिसंहृतिहेतवे ।
विद्याविद्यासहायानां　सेतवे　वृषकेतवे ॥ १ ॥

जगत्की उत्पत्ति स्थिति एवं संहारके कारण वृषभध्वज शंकर भगवान्को हम प्रणाम करते हैं, जो विद्या एवं अविद्या साथमें ले चलनेवाले अर्थात् समुच्चयकारी पुरुषोंके धर्मसेतुरूप हैं ॥१॥

निष्ठाद्वयमुपक्षिप्य मन्त्राभ्यां प्रथमं श्रुतिः ।
ज्ञाननिष्ठामथाचख्यौ कर्मनिष्ठां ततः परम् ॥ २ ॥

"ईशावास्यं" "कुर्वन्नेव" इन दो मन्त्रोंसे प्रथम दो निष्ठाओंका उपक्षेप (प्रारंभ) किया। इसके वाद ज्ञाननिष्ठाका वर्णन किया फिर कर्मनिष्ठाका प्रतिपादन किया ॥२॥

व्याख्याय ज्ञाननिष्ठां तु कर्मनिष्ठामथाधुना ।
स्फुटं भाष्यानुसारेण व्याख्यास्यामो यथामति ॥ ३ ॥

इनमें ज्ञाननिष्ठाका हमने वर्णन किया। अव कर्मनिष्ठाकी भाष्यानुसार यथामति हम व्याख्या करेंगे ॥३॥

ज्ञाननिष्ठाद्यमन्त्रेणानैषणानामुदीरिता　।
अज्ञानां कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीये वैषणावताम् ॥ ४ ॥

एषणात्रयत्यागी ज्ञानमार्गियोंके लिये प्रथममन्त्रमें ज्ञाननिष्ठाका वर्णन किया। और एषणायुक्त अज्ञानियोंके लिये द्वितीयमन्त्रमें कर्मनिष्ठा बतायी ॥४॥

ततश्च ज्ञाननिष्ठानामज्ञनिन्दापुरःसरम् ।
स पर्यगेत्यन्तमन्त्रैरात्मयाथात्म्यमीरितम् ॥ ५ ॥

उसके बाद "असूर्या नामसे" अज्ञानीजन की निन्दाके साथ "स पर्यगात्" इत्यादि मन्त्रतक आत्माके यथार्थ स्वरूपका वर्णन किया ॥५॥

अधुना कर्मनिष्ठानां कृते वक्तव्यमस्ति यत् ।
तदुच्यते तदेवं स्यादत्र प्रकरणद्वयम् ॥ ६ ॥

अब कर्मनिष्ठोंके प्रति जो वक्तव्य है उसे "तमः" इत्यादिसे कहने जा रहे हैं। फलतः यहाँ दो प्रकरण सिद्ध होते हैं ॥६॥

अत्राह भास्करस्तावत् सर्वासूपनिषत्स्वपि ।
ब्रह्मविद्याप्रकरणमेकमेवोपगम्यते ॥ ७ ॥

इसपर भास्कराचार्यका कहना है कि सभी उपनिषदोंमें एक ही ब्रह्म-विद्या प्रकरण है ॥ ७ ॥

तन्न युक्तं प्रकरणद्वयमत्रोपलभ्यते ।
विभिन्नरूपयोरत्र वर्णनाज्ज्ञानकर्मणोः ॥ ८ ॥

भास्कराचार्यका यह मत अयुक्त है। क्योंकि यहाँ दो प्रकरण स्पष्ट दीख रहे हैं। विभिन्न रूपवाले ज्ञान और कर्मका वर्णन यहाँ किया गया है ॥ ८ ॥

नन्वेकं वा पृथग् वा स्यात् किं तेन भवतो भवेत् ।
न च वाच्यं ततः सिध्येज्ज्ञानकर्मसमुच्चयः ॥ ९ ॥

साध्यसाधनरूपेण क्रमतः स समुच्चयः ।
सर्वैरुपगतो नातः सिध्येत् समसमुच्चयः ॥१०॥

पूर्वपक्षः–प्रकरण एक हो या अलग-अलग इसमें क्या अन्तर पड़ता है ? यदि कहो कि एक प्रकरणपक्षमें ज्ञान और कर्मका समुच्चय प्राप्त होगा (जो सिद्धान्तमें अनभिमत है) तो सम्यग् नहीं होगा। कारण साध्य-साधनरूपसे सिद्धान्तपक्षमें भी ज्ञानकर्म समुच्चय माना है हाँ, समसमुच्चय नहीं मानते। किन्तु प्रकरण एक होने मात्रसे समसमुच्चयकी प्रसक्ति नहीं है ॥९-१०॥

नोपक्रमोपसंहारसाम्याभावात्तदाश्रितम् ।
अखण्डब्रह्मतात्पर्यं तदैक्ये नैव सिध्यति ॥११॥

कर्मादावपि तात्पर्याच्छ्रवणं नैव सिध्यति ।
अद्वैते ब्रह्मणि श्रौततात्पर्यावधृतिर्हि तत् ॥१२॥

उत्तरः—प्रकरणैक्यपक्ष अभिमत नहीं है। क्योंकि प्रकरण एक होनेपर "ईशावास्यं" यह उपक्रम और "नम उक्तिं विधेम" यह उपसंहार होगा। दोनोंकी एकरूपता न होनेसे अखण्डब्रह्ममें उपनिषत्का तात्पर्य सिद्ध नहीं होगा। दूसरी बात कर्मादि मुख्यतात्पर्य होनेपर "श्रोतव्यः" इस श्रुतिसे सिद्ध श्रवण भी सिद्ध नहीं होगा। कारण, श्रवणका लक्षण है— वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणम्"। अद्वैतमात्रमें तात्पर्य ही नहीं तो अवधारण क्या होगा ? ॥११-१२॥

ननु मा सिध्यतु तव श्रवणं पारिभाषिकम् ।
कर्मादावपि तात्पर्यं श्रुतेर्भवतु किं ततः ॥१३॥

भास्करः—यह तो आपकी अंदरूनी बात हुई। आप अपने पारिभाषिक श्रवणकी सिद्धिके लिये प्रकरणभेद मान रहे हैं। न हो आपका वैसा श्रवण। कर्मादिमें भी श्रुतिका तात्पर्य हो। उससे बिगड़ता क्या है ? ॥१३॥

नैवमेकप्रकरणेष्वङ्गाङ्गित्वं भवेत्ततः ।
अङ्गहीनेन बोधेन न मोक्षफलसंभवः ॥१४॥
न ह्यङ्गं भवति ज्ञानं कर्मणो नापि तस्य तत् ।
विनापि कर्म विज्ञानाच्छुकादेर्मोक्षदर्शनात् ॥१५॥

समाधानः—एक प्रकरण मानना संभव नहीं है। क्योंकि एक प्रकरणवालेका प्रकरणप्रमाणसे अङ्गाङ्गिभाव होगा। इनमें कर्मका अंग ज्ञान नहीं हो सकता। और न ज्ञानका ही अंग कर्म क्योंकि अंग न होनेसे अंगिसे फलनिष्पत्ति नहीं होनी चाहिये। किन्तु देखा गया है कि शुकदेवादिने कर्म नहीं किया फिर भी ज्ञानसे उनका मोक्ष हो गया ॥१४-१५॥

ननु ब्रूमोऽत एवात्र ज्ञानकर्मसमुच्चयम् ।
समो वा विषमो वास्तु स स्यात्प्रकरणैक्यतः ॥१६॥

शुकादेर्मोक्षकथनमर्थवादश्रुतिर्भवेत् ।
भवेत्प्रकरणादेव श्रुतेरनुमितिः क्रमात् ॥१७॥

पूर्वपक्षः— इसीलिये तो हम ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद मानते हैं। क्योंकि एक प्रकरणस्थ होनेसे सम या विषम समुच्चय सिद्ध होगा ही। शुकादिको

विना कर्म भी मोक्ष प्राप्त हुआ इत्यादि तो अर्थवादमात्र है। क्योंकि प्रकरणसे वाक्य, वाक्यसे लिङ्ग एवं लिङ्गसे श्रुतिका अनुमान होता है। श्रुतिसिद्ध अर्थसे विरोध आनेपर अर्थवाद ही माना जायेगा ॥१६-१७॥

मैवं पृथक् फलश्रुत्या मृत्युं तीर्त्वेति सुस्फुटम् ।
इह प्रकरणानैक्यं बलादापतितं भवेत् ॥१८॥
अन्यथा पूर्वकाण्डेऽपि येऽग्निहोत्रादयः श्रुताः ।
एकप्रकरणास्ते स्युर्यन्न केनाप्युपाश्रितम् ॥१९॥

उत्तरः—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा" इत्यादि रीति कर्मका पृथक् फल स्पष्ट बताया गया है। तब प्रकरणभेद भी बलात् सिद्ध होगा। फलभेद होनेपर भी यदि प्रकरणकी एकता मानेंगे तो पूर्वकाण्डमें भी अग्निहोत्र ज्योतिष्टोमादि मिलकर एक प्रकरण मान्य होने लगेगा। किन्तु किसी भी मीमांसक ने ऐसा माना नहीं है ॥१८-१९॥

साध्यसाधनभावेनाप्यत्र नास्ति समुच्चयः ।
सकामकर्मणां ज्ञानसाधनत्वानुपायनात् ॥२०॥

अतएव साध्यसाधनभावसे भी यहाँ समुच्चय नहीं है। क्योंकि सकाम कर्म ज्ञानसाधन माने ही नहीं जाते ॥२०॥

संयोगस्य पृथक्त्वेन तत्स्यादित्यप्यसांप्रतम् ।
बलात् स्यात्प्रकृतेर्भेदः पृथक्त्वप्रतियोगिना ॥२१॥

यदि कहें कि संयोगपृथकत्वन्यायसे मृत्युतरणादि फलवाले कर्मोंका भी ज्ञानोत्पादन फल हो सकता है तो उसका जवाब है कि संयोगपृथकत्वका मतलब है अन्य फलके साथ संयोग उस अन्यका प्रतियोगी किसी फलका पहले प्रतिपादन तो होगा ही। वह कहाँ है ? "मृत्युं तीर्त्वा" यही यदि प्रतिपादन है तो उसीको लेकर प्रकरणभेद बलात् होगा ॥२१॥

यत्र प्रकृतसम्बन्धः कथंचिन्नोपपद्यते ।
उत्कर्ष एव शरणं तत्रेत्येव विनिश्चयः ॥२२॥

जहाँ भी आगे पीछेका प्रसङ्ग परस्पर सम्बद्ध है और बीचका प्रकरण सम्बद्ध नहीं है वहाँ भी बलात् अङ्गाङ्गिभाव न मानकर उत्कर्ष ही माना जाता है। अर्थात् वहाँसे उसे निकालकर उचित स्थानान्तरमें जोड़ा जाता है। यहाँ तो उत्कर्षके विना ही प्रकरणभेद आसान होनेसे दोनोंकी जैसे तैसे जोड़नेकी कोशिश सर्वथा विसंगत है ॥२२॥

नन्वर्थवाद एवास्तु फलोक्तिरिह चेन्न तत् ।
गत्यन्तरस्य सद्भावात्त्वयापि तदनेषणात् ॥२३॥

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा" को अर्थवाद ही क्यों न माना जाय ? जैसे "विष्णुरुपांशु यजतेऽजामित्वाय" "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" देवता इत्यादिमें ? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि प्रकरणैक्य निश्चित होनेपर अवान्तर फलोक्ति अर्थवाद होगी । किन्तु यहाँ प्रकरणभेद माननेमें कोई आपत्ति नहीं है । अतः गत्यन्तर होनेसे अगतिकगतिका आश्रयण नहीं किया जा सकता और स्वयं भास्करने भी यहाँ अर्थवाद स्वीकार नहीं किया है । बल्कि प्रकरणभेद मान-कर फलविधि ही मानी है ॥२३॥

ननु नैव पृथक् किंचित्फलमत्राभिधीयते ।
अमृतं खलु मोक्षः स्याज्ज्ञानस्यापि स एव तत् ॥२४॥

न च स्वर्गा यथा भिन्नाः पूर्वकाण्डे व्यवस्थिताः ।
तथा मोक्षोऽपि भिन्नः स्यादत्रत्योऽपीति सांप्रतम् ॥२५॥

यतो मोक्षो नातिशयो विद्यते त्वन्मतेऽपि च ।
अद्वैतत्वात्तदेतच्च विस्पष्टं विवरिष्यते ॥२६॥

फलस्य कर्मनिष्पत्तेर्लोकवत्परिमाणतः ।
तेषां फलविशेषः स्यादित्येवोवाच जैमिनिः ॥२७॥

मोक्षो नैव फलं किन्तु स्वस्वरूपव्यवस्थितिः ।
कथं फलविशेषोऽत्र यतो मोक्षः प्रभिद्यताम् ॥२८॥

सिद्धान्तैकदेशी:—यहाँपर "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतं" यह पृथक् फल कहाँ हैं ? जिससे प्रकरणभेद हो सके । ज्ञानका जो फल मोक्ष है वही मृत्युतरण एवं अमृतप्राप्ति है । पूर्वकाण्डमें जैसे स्वर्ग भिन्न भिन्नमाने हैं वैसे यहां यह कहना संभव नहीं है कि ज्ञानफल मोक्ष भिन्न है और यहाँ प्रतिपादित अमृतरूपी मोक्ष भिन्न है, क्योंकि मोक्षमें अतिशय न होनेसे भेद करना शक्य ही नहीं है । अद्वैतमें अतिशय किंप्रयुक्त होगा । यह बात आगे स्पष्ट होनेवाली ही है । स्वर्गमें भेद हो सकता है । क्योंकि वह सातिशय है । जैसे अधिक पैसा देनेसे अधिक धन मिलता हैं वैसे अतिशय कर्मसे अतिशय स्वर्ग होगा । मोक्ष तो स्वस्वरूपमें स्थित है । यहाँ अतिशयकी संभावना ही कहाँ है ? ॥२४-२८॥

अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः । सोऽकामयत जाया मे स्यादित्यादिना अज्ञस्य

इसप्रकार मन्त्रमें दिखायी गयी दो निष्ठाओंका विभाग वृहदारण्यकमें भी दिखाया गया है । जैसे कि उसने कामनाकी कि मेरी पत्नी हो इत्यादिसे

मैवमापेक्षिकं ह्यत्राऽमृतत्वं वर्णयिष्यते ।
तथा च फलभेदोऽत्र विद्ययोर्युज्यतेतराम् ॥२९॥

उत्तरः—"विद्ययाऽमृतमश्नुते" यहाँ अमृतपद मुख्यमोक्षार्थक नहीं है । किन्तु आपेक्षिक अमृतत्वबोधक है । इसका विवरण आगे मिलेगा । तब "ईशावास्यं" इस विद्याके फलमें और "विद्ययामृतं" इस विद्याके फलमें भिन्नता आ गयी (तब प्रकरणभेद भी सिद्ध हुआ) ॥२९॥

न च विद्यैक्यतो युक्तं फलैक्यमिति सांप्रतम् ।
कर्माविरोधि विद्येषा पूर्वा कर्मविरोधिनी ॥३०॥

शंकाः—विद्या-विद्या एक है तब फल भी तो एक ही मानना होगा । उत्तरः—नहीं, विद्ययाऽमृतं यहाँ कर्मकी अविरोधी विद्या उक्त है । ईशावास्यंमें कर्मविरोधी विद्या उक्त है ॥३०॥

उपासनाख्यविद्यात्र ब्रह्मविद्या तु पूर्वगा ।
तस्माद्विद्यैक्यतो नैव फलैक्यं शक्यमीरितुम् ॥३१॥

यहांपर उपासना रूपी विद्या वर्णनीय है । पहले ब्रह्मविद्याका वर्णन हुआ तब विद्याकी एकतासे फलकी एकता कैसे हो ? ॥३१॥

न चास्तु ब्रह्मविद्यात्र नोपास्तिररिति सांप्रतम् ।
ब्रह्मविद्याविरोधस्य पुरा कर्मणि साधनात् ॥३२॥

यहाँ उपासनारूपी विद्या क्यों लेना ? ब्रह्मविद्या क्यों न ली जाय ? तब विद्याकी एकता भी सिद्ध होगी और फलकी एकता भी सिद्ध होगी । परिणामतः प्रकरणैक्य भी सिद्ध होगा । इस शंकाका समाधान यह है कि ब्रह्मविद्याका कर्मके साथ विरोध पहले सिद्ध किया जा चुका हैं और यहाँ कर्मसमुच्चय वर्णन होनेसे कर्मकी अविरोधी उपासना ही ली जायेगी ॥३२॥

कामिनः कर्माणीति । मन एवास्यात्मा वाग् जायेत्यादिवचना- दज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते ।

कामनायुक्त अज्ञानीके लिये कर्म हैं यह दिखाया गया मन ही उसका आत्मा है वाणी पत्नी है इत्यादि अग्रिमवचनसे कर्मनिष्ठ पुरुषमें अज्ञता और कामिता रहती है यह निश्चितरूपसे जाना जा सकता है ॥

तस्माद् यन्न विरुध्येत शास्त्रतो न्यायतोऽपि वा।
निगद्यते सात्र विद्या विद्याकर्मसमुच्चितेः ॥३३॥

अतः विद्या एवं कर्मका यहाँ समुच्चयकथन होनेसे शास्त्रसे और कर्मविरोधी न हो उसी विद्याका यहाँ ग्रहण है ॥३३॥

अतश्च ज्ञाननिष्ठोक्ता सांख्यानां प्रागथाधुना ।
अज्ञानां कर्मनिष्ठेति विभागो युज्यतेतराम् ॥३४॥

इसलिये ही पहले सांख्योंके लिये ज्ञाननिष्ठा बतायी और अब अज्ञोंके लिये कर्मनिष्ठा बतायी जा रही है यह विभाग उचित ही है ॥३४॥

प्रदर्शितो विभागोऽय बृहदारण्यकेऽपि च ।
कर्मनिष्ठाऽविदां ज्ञाननिष्ठा संख्यावतामिति ॥३५॥

बृहदारण्यकमें भी अज्ञानियोंके लिये कर्मनिष्ठा और ज्ञानियोंके लिये ज्ञाननिष्ठा यह विभाग दिखाया गया है ॥३५॥

सोऽकामयत जाया स्यादित्यादि वचसा श्रुतौ ।
अज्ञस्य कामिनः कर्माणीत्येतत् संप्रदर्शितम् ॥३६॥

"सोऽकामयत जायामे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय" इस वाक्यमें कामी अतएव अज्ञानी कर्म करता है यह दर्शाया गया है ॥३६॥

नन्वत्र कामिनः कर्म सिद्धं नाज्ञस्य वाक्यतः ।
न च कामी भवेदज्ञः कामाभासेऽनवेक्षणात् ॥३७॥

सोऽकामयत वाक्ये तु कामाभासो न भण्यते ।
परं तु काम एवेति न शक्यं वदितुं बुधैः ॥३८॥

संवत्सरस्य पितरमुद्दिश्यापि तथाविधम्।
वाक्यं विलोक्यते तत्र नैवाज्ञानं तु लक्ष्यते ॥३९॥

शंकाः—"सोऽकामयत" इस वाक्यसे कामी अर्थ तो आता है, किन्तु अज्ञानी अर्थ तो नहीं निकलता। यह कहें कि कामी अवश्यमेव अज्ञानी होगा, तो सही नहीं होगा। कारण कामाभासमें भी कामपदका प्रयोग होता है। कामाभास जहाँ है वहाँ अज्ञानका होना अनिवार्य नहीं है। कामाभास अर्थमें कामपदका प्रयोग नहीं होता ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसी उपनिषदमें परमात्माको लेकर भी "सोऽकामयत" ऐसा प्रयोग आया है। उससे संवत्सर प्रजापतिका जन्म बताया है। अतः वहाँ जीवात्मा अर्थ तो नहीं ही है। उस कामके होनेपर भी परमात्मामें अज्ञान कहाँ है? ॥३७-३९॥

तन्नाधिकारिकाणां हि मा सेधीदज्ञता क्वचित्।
जायैषिणस्तु नैवाधिकारिका इति मे मतिः ॥४०॥

समाधानः—संवत्सर प्रजापतिको जन्म देनेवाला आधिकारिक पुरुष है। उनका काम कामाभास हो सकता है अतएव उनमें अज्ञता भी सिद्ध नहीं होगी। किन्तु जायैषणावाले तो आधिकारिक न होनेसे उनमें काम वास्तविक है अतएव वे अज्ञ भी हैं ॥४०॥

तस्मात् कामित्वकथनादज्ञत्वं कर्मिणां स्थितम्।
मन आत्मास्य वाग्जायेत्यादौ स्पष्टतरं च तत् ॥४१॥

फलतः कामित्वकथनसे कर्मियोंकी अज्ञता निश्चित होती है। मन ही आत्मा, वाणी जाया इत्यादि उत्तरग्रन्थमें यह वात और भी अधिक स्पष्ट होती है ॥४१॥

सोऽकामयत जाया स्यात् प्रजायेयाथ मे भवेत्।
वित्तं कर्माथ कुर्वीयेत्युक्त्वाथ श्रुतिरब्रवीत् ॥४२॥
एकैकमपि यावत् स नैतेषां प्राप्नुयान्नरः।
अकृत्स्नं मन्यते स्वं हि तस्येयं कृत्स्नतोच्यते ॥४३॥
मन आत्मास्य वाग्जाया प्रजा प्राणोऽक्षिणी धनम्।
तदेतदज्ञतामेव व्यञ्जयत्यस्य कर्मिणः ॥४४॥
मन आदौ यदात्मत्वाद्यवभासो भवेदयम्।
न वास्तविकः किंतु सोऽध्यासोऽज्ञानजृम्भितः ॥४५॥

उस ब्रह्मचारीरूपी आत्माने कामना की कि मेरी पत्नी हो, फिर मैं पुत्ररूपसे उत्पन्न होऊँ तथा मुझे धन प्राप्त हो एवं कर्म करूँ इतना कहकर आगे श्रुति कहती है— जबतक इनमेंसे एक-एकको भी प्राप्त न कर लें तब तक वह अपनेको अधूरा ही समझता है। उस अधूरेपनकी पूर्ति इस प्रकार होगी कि मनको आत्मा, वाणीको पत्नी, प्राणको पुत्र एवं चक्षुको धन मान लें। किन्तु इस बातसे अवगत होता है कि कर्मी अज्ञानी होता है। क्योंकि मन आदिको आत्मा समझना यथार्थ नहीं हो सकता। वह तो अज्ञानप्रयुक्त अध्यासमात्र होगा ॥४२-४५॥

ननूपास्तिविधिस्तावदयं नाज्ञत्वबोधकः।
अधिष्ठानं विजानन् हि करोत्यारोपमास्तिकः ॥४६॥

उषाश्वस्य शिरोबोध्यमिपत्यादिवदिहापि तत्।

पूर्वपक्षः—मन आत्मा, वाग् जाया इत्यादि उपासनाविधि है। वह अज्ञताकी बोधिका किस प्रकार? उपासनाके लिये प्रथम अधिष्ठानको समझ लेते हैं फिर उसमें आरोप करते हैं। जैसे "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" यहाँ प्रातःकालको समझकर उसमें अश्वके मस्तकका आरोप किया जाता है। यह आरोप अज्ञताका परिचायक कैसे हो? यह कोई रज्जुसर्पके समान भ्रान्ति तो है नहीं ॥४६॥

न चारोपोऽखिलोऽप्येव भवेदज्ञानजृम्भितः ॥४७॥
इति वाच्यमबाध्यत्वादिच्छाजन्यत्वहेतुतः।

यदि कहें कि आरोप सभी अज्ञानकार्य ही है तो ठीक नहीं। कारण इच्छाजन्य होनेसे वह बाधित नहीं होता (आहार्य ज्ञानको नैयायिक भी बाध्य नहीं मानते) क्योंकि बाधकालमें ही इच्छाजन्य ज्ञानात्मक आरोप होता है ॥४७॥

न हि व्यवहरन्त्यज्ञं प्रतिमाविष्णुपूजकम् ॥४८॥
द्वैतदर्शित्वतस्तत्त्वे वाग्जायाधावनं वृथा।

प्रतिमामें विष्णुभावना कर पूजा करनेवालेको कोई भी अज्ञ नहीं कहता। द्वैतदर्शी होनेसे अज्ञ मानोगे तो वाग्जायापर्यन्त दौड़नेकी क्या जरूरत? ॥४९॥

नैवमात्मानमेवासावकृत्स्नं मन्यतेऽज्ञधीः ॥४९॥

तस्य कृत्स्नत्वसम्पत्त्यै वाग्जायादिरुदीरितः ।
नात्मनोऽकृत्स्नता नास्य वाग्जायाद्यैश्च कृत्स्नता ॥५०॥

समाधानः—वह अज्ञानी अवश्य है क्योंकि वह आत्माको ही अकृत्स्न मान रहा है। और वाग्जायादिसे कृत्स्नता संपादन कर रहा है। आत्मा वस्तुतः अधूरा होता नहीं। और वाणी पत्नी आदिसे उसकी पूर्णता भी वस्तुतः नहीं होती। अतः प्रथम अकृत्स्न मानना और बादमें कारण-विशेषसे कृत्स्न मानना दोनों ही अज्ञानका ही परिणाम है ॥५०॥

ननु कृत्स्नः कर्म कुर्यादित्येतदिह गम्यते ।
कृत्स्नत्वमात्मनस्तु स्यात्कर्मबीजमनेकधा ॥५१॥

तथा हि त्रिविधं तावत् कार्त्स्न्यं संभाव्यते नृणाम्।
स्वतो जायादिभिश्चैव वाग्जायादिभिरेव च ॥५२॥

अज्ञानामुत्तरे द्वे स्तामाद्यं तु ज्ञानिनां भवेत् ।
तथा च ज्ञानिनां कर्म कथं नास्तीति चेन्न तत् ॥५३॥

पूर्वपक्षः—बृहदारण्यकके पूर्वोक्त प्रकरणसे इतनी ही बात आती है कि कृत्स्न (पूर्ण) होकर कर्म करें। किन्तु पूर्णता अनेक प्रकारसे हो सकती है। एक तो आत्माकी स्वतः पूर्णता है। दूसरी लौकिक पत्नी आदिसे है। तीसरी कल्पित वाणीपत्नी आदिसे है। इनमें लौकिक पत्नी आदि एवं कल्पित पत्नी आदिसे पूर्णता माननेवाले भले अज्ञ हों, किन्तु स्वतः पूर्णता माननेवाला अज्ञानी नहीं है। तब अज्ञानीको ही कर्माधिकार है यह कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रश्नका अब उत्तर सुनिये ॥५१-५३॥

अकृत्स्नं मन्यते सोऽयमित्युक्त्याभिमानिकम् ।
अकृत्स्नत्वं मन्यतिना सूच्यतेऽकर्मकारणम् ॥५४॥

तथा च प्रतियोग्यस्य कृत्स्नत्वं चाभिमानिकम् ।
कर्मप्रयोजकं सिध्येत्तच्चाज्ञस्यैव संभवेत् ॥५५॥

उत्तरः—वह जायादिमें एक एकको जबतक प्राप्त नहीं करता है तब तक अपनेको अपूर्ण मानता है इस वाक्यमें "मानता" शब्दसे आभिमानिक अपूर्णत्व ही कर्माभावमें प्रयोजक सूचित होता है। अतएव कर्ममें प्रयोजक आभिमानिक अकृत्स्नत्वका प्रतियोगी आभिमानिक कृत्स्नत्व ही सिद्ध होगा। और आभिमानिक पूर्णता अज्ञानीके लिये ही संभव है ॥५४-५५॥

किं वाकृत्स्नत्वमानीति न सामान्येन भण्यते ।
न हि सामान्यतस्तत्स्यात्तत्त्वज्ञानिष्ववदर्शनात् ॥५६॥

दूसरी बात यह है कि—वह इनमें एक एकको जबतक प्राप्त नहीं होता है तब तक आत्माको अपूर्ण ही मानता है इस वाक्यमें सामान्य निर्देश नहीं है। तत्त्वज्ञानीमें यह अपूर्णता नहीं देखी जाती है अतः यह सामान्य निर्देश नहीं है ॥५६॥

तस्मात्तदज्ञविषयमिति निर्णीयते श्रुतौ ।
तत्पदेन परामर्शश्चाज्ञस्यैवेति [illegible]ध्यति ॥५७॥

जब सामान्य निर्देश नहीं हुआ तब "अकृत्स्नं मन्यते" यह किसका निर्देश है ? निश्चित है कि यह अज्ञानीको लेकर ही कहा जा रहा है। तब "स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोति" यहाँ "सः" इस पदका अज्ञानी अर्थ निश्चित हुआ तो "सः" पद पूर्वोक्तपरामर्शक होनेसे पूर्वोक्त भी अज्ञानी ही है यह सिद्ध होगा ॥५७॥

तथा च कर्म कुर्वीयेत्युक्तेऽज्ञानीत्यपि स्फुटम् ।
विद्वत्प्रक्रमणेऽज्ञस्य परामर्शस्तदा (तत्पदेन) कथम् ॥५८॥

परामर्शनीय पूर्वोक्त कौन है ? "कर्म कुर्वीय"से जो कर्मी बताया गया वही। अतएव कर्मी अज्ञानी है यह सुनिश्चित है। क्योंकि यदि पूर्वमें ज्ञानीका उपक्रमण हुआ हो तो "सः" इस पदसे अज्ञानीका परामर्श असंभव ही है ॥५८॥

ननु च ज्ञाज्ञयोरेकदेशं निष्कृष्य तच्छ्रुतिः ।
ब्रूतेऽकृत्स्नत्वमानित्वं तस्य चानधिकारिताम् ॥५९॥

न वा कृत्स्नत्वमानी स्यादधिकारी च कर्मणि ।
पन्यवेक्षणकर्म स्यात् कथं वाग् जायया क्रतौ ॥६०॥

चक्षुर्वित्तेन विप्रादिदक्षिणापि कथं भवेत् ।
उपास्तिर्विधिरेवातो जायादिरहितस्य सः ॥६१॥

विप्रादेरश्वमेधादिक्रतावनधिकारिणः ।
उषा वेत्यादिना यद्वदुपास्त्या फलभागिता ॥६२॥

पूर्वपक्षः—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्", "सोऽकामयत" इत्यादिमें सामान्यनिर्देश क्यों नहीं संभव है ? वहाँ विद्वान् अविद्वान् इन

दोनोंको सामान्यरूपसे लिया। किन्तु पश्चात् "स यावदप्येतेषां"में एकदेशको पृथक् कर अज्ञानीमात्रका परामर्श किया ऐसा माननेमें क्या आपत्ति ? 'पशुजाति बड़ी अच्छी है। वह दूध देती है, हलपर जोती जाती है' इत्यादि वाक्यमें आरम्भ सामान्यरूपसे हुआ। किन्तु दूध देना सामान्य कार्य नहीं है। दूध देना स्त्री जातिसे और हलपर जोतना पुरुष जातिसे सम्बद्ध है। दूसरी बात यह भी है कि पूर्णत्वाभिमानसे भी कर्ममें अधिकार नहीं होता। क्या वाग्जायासे पत्नी अवेक्षणकर्म सिद्ध होगा ? क्या चक्षुरूपी वित्तसे ब्राह्मणदक्षिणा संपन्न होगी ? निश्चित है कि यह जायावित्तादिरहितके लिये फलार्थं उपासनाविधि है। जैसे अश्वमेधमें अनधिकारी ब्राह्मणादिको फलप्राप्त्यर्थं "उषा वा अश्वस्य" इत्यादि उपासनाविधि है ॥५९-६२॥

सति जायादिके यो न कृत्स्नत्वमभिमन्यते ।
न किं तस्याधिकारोऽस्ति कर्मणोऽमानितागसा ॥६३॥

तस्माज्जायादिविरहे वाग्जाय द्यौरुपास्यताम् ।
इत्येवार्थः श्रुतेस्तत्र नाभिमानः प्रयोजकः ॥६४॥

फिर मान लीजिये जिसके जायापुत्रादि हैं, किन्तु वह यह अभिमान नहीं करता कि मैं इनसे पूर्ण हूँ, तो क्या उसको कर्ममें अधिकार नहीं है ? अतः जायादि यदि न हो तो वाग्जायादिसे फलार्थं उपासना करो इतना ही श्रुतिका अर्थ है। कृत्स्नत्वाभिमान तो अप्रयोजक है। मन्यतिका प्रयोग सामान्यरूपसे श्रुतिने किया है ॥२३-६४॥

तदसन्नेकदेशस्य पृथक्कारः प्रतीयते ।
सोऽकामयत जाया मे स यावन्नाप्नुयादिति ॥६५॥

प्राभाकराश्च जगदुर्नित्यकर्माधिकारिणम् ।
शुचिर्विहितकालस्थ इति ज्ञानयुतं नरम् ॥६६॥

तत्रापि पृच्छयतां प्रश्नः स्नातो विहितकालगः ।
स्नातत्वाद्यभिमानाज्ज्ञः किं सन्ध्याद्यधिकार्यसौ ॥६७॥

उत्तरः—उक्त पूर्वपक्ष अयुक्त है। "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" "स यावदेकैकं न प्राप्नुयात्" इन दो वाक्योंमें प्रथममें ज्ञानी अज्ञानी दोनोंका साधारणरूपेण ग्रहण है और द्वितीयमें उसके एकदेशी केवल अज्ञानीका "सः" पदसे ग्रहण है ऐसी प्रतीति किसीको नहीं होती। और जो बताया

तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गः, तेष्वात्मभावेनात्मस्वरूपावस्थानम् ।

तदनुरूप उसका फल भी सप्तान्नसर्ग और उसमें आत्मभावसे अपने स्वरूपका अवस्थान है ।

कि वस्तुतः जायादि हो तो जायादिका अभिमान अप्रयोजक है इसपर वक्तव्य यही है कि प्राभाकरोंने विचार किया कि सन्ध्यादि नित्यकर्ममें फलविशेष न होनेसे अधिकारी कौन होगा। सिद्धान्त किया है कि जो अपनेको विहितकालस्थ एवं स्नानादिसे शुचि मानता हो वह अधिकारी है। वहाँ भी यह प्रश्न हो सकता है कि जो नहा चुका हो और प्रातःसमयमें स्थित हो किन्तु मैं शुचि हूं, प्रातःकालस्थ हूँ ऐसा अभिमान नहीं करता उसको संध्या करनेका अधिकार है या नहीं ? प्राभाकरमतमें नहीं होना चाहिए और प्रश्नकर्ताके मतमें होना चाहिये ॥६५-६७॥

शुचित्वाद्यभिमानस्तु भवेद्वात्र तच्छ्रुतेः ।
अत्राथ कर्म कुर्वीयेत्यथशब्दात्तथा स्थितिः ॥६८॥

जायाधनादिसंपन्नो ह्यथ कुर्वीय कर्म सः ।
इत्यर्थप्रत्ययात्तत्त्वज्ञानावश्यक्यनिर्णयात् ॥६९॥

"प्रातः शुचिः" "संध्यां प्रकुर्वीत" इत्यादि वचनोंमें आए हुए विशेषणों का ज्ञान स्वतः प्राप्त होनेसे आवश्यक है। वैसे यहां भी "अथ कुर्वीय"से पूर्वोक्त सामग्रीसत्त्वज्ञान होनेपर ही कर्मप्रवृत्ति हो सकती है। अर्थात् जायाधनादिसे संपन्न हो तब कर्म करे ऐसा अर्थावगम होनेसे जायादि धनादिपूर्णत्वज्ञान पूर्वमें अवश्यभावी है, आवश्यक भी है ॥६८-६९॥

एतेनेदमपास्तं यदाचख्युरिह केचन ।
अनन्धबधिरत्वादि कारणं स्यात्स्वरूपसत् ॥७०॥

कुतस्तदभिमानित्वं भाष्यकारैः पुरेरितम् ।
कर्मणां कारणतया यज्ज्ञानेन विरुध्यते ॥७१॥

इस विवेचनासे कुछ लोगोंका यह आक्षेप भी परास्त होता है कि अन्धत्व बधिरत्वादिका अभाव स्वरूपसत् ही कर्मके प्रति कारण है। तब भाष्यकारोंने इसके अभिमानको कर्मके प्रति कारण कैसे बताया जो ज्ञानके साथ विरोधी हो ॥७०-७१॥

किं च सप्तान्नसर्गोऽस्य फलं श्रुत्या प्रदर्शितम् ।
विदुषां नैव तद्युक्तं तस्मादज्ञो हि कर्मकृत् ॥७२॥

और यह भी बात है कि इस कर्मका फल श्रुतिने सप्तान्नसर्ग बताया है। विद्वानोंके लिये वैसा फल युक्त नहीं है। इसलिये भी कर्मकारी अज्ञानी ही सिद्ध होता है ॥७२॥

एकं सामान्यमन्नं स्याद् द्वे हुतप्रहुते दिवि ।
त्रीणि स्युर्वाङ्मनःप्राणा एकं पश्वर्थतः पयः ॥७३॥

इत्यन्नान्यकरोत् सप्त मेधया तपसा पिता ।
यजमानः पितान्नानि ह्यु पास्त्या कर्मणाऽकरोत् ॥७४॥

सात अन्नोंमें एक सामान्य अन्न है जिसे हम सब खाते हैं। दो हुत और प्रहुत देवताओंके अन्न हैं। वाणी, मन और प्राण ये तीन अन्न सबके भोग्यरूप हैं। दूध सातवाँ अन्न पशुओंका है ॥७३-७४॥

विहितप्रतिषिद्धादिकर्मोपास्तिफलं जगत् ।
साक्षात्क्वचित्क्वचिच्चैव पारंम्पर्येण तत्फलम् ॥७५॥

विहित, प्रतिषिद्ध, अविहित एवं अप्रतिषिद्ध उपासना तथा कर्मोका ही कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया ये जागतिक वस्तुएं फल हैं ॥७५॥

तत्रात्मभावं कृत्वा यदवस्थानं निजात्मनः ।
संसारोऽयं न विदुषः किन्त्वज्ञस्येति निश्चितिः ॥७६॥

इन सात अन्नरूपी जगत्में आत्मभाव कर जो आत्माका अवस्थान है, यही संसार है। यह विद्वान्के लिये नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानीके लिये ही संभव है—यही निश्चय है ॥७६॥

अहं ममेति योऽध्यासः संसर्गाध्यास एव च ।
आत्मभावस्थितिः प्रोक्ता संसाराख्याभिमानिनाम् ॥७७॥

इन जागतिक वस्तुओंके साथ अहं ममाध्यास तथा संसर्गाध्यासको ही आत्मभावसे अवस्थिति कहते हैं। इसीको अभिमानयुक्त पुरुषका संसार भी कहते हैं ॥७७॥

वाचि प्राणे मनसि च ममाहमिति दृश्यते ।
अहं ब्रवीमि श्वसिमि चिन्तयामीति दर्शनात् ॥७८॥

मम वाग् वक्ति मत्प्राणः श्वसित्येवं मनो मम ।
नित्यं चिन्तयतीत्येवं ममकारोऽपि दृश्यते ॥७९॥

वाणी, प्राण और मनमें 'मेरा' 'मैं' ये दोनों देखे जा सकते हैं। मैं बोलता हूँ श्वास लेता हूँ, सोचता हूँ ऐसा भी अभिमान होता है और मेरी वाणी बोलती है, प्राणशक्ति श्वास लेती है, मेरा मन सोचता है ऐसा भी अभिमान होता है। यही अहंममरूपेण आत्मभावस्थिति है ॥७८-७९॥

यो दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गस्तत्र ममेति य ।
स हुतादौ भवेद्भाव आत्मभावस्थितिः स तु ॥८०॥

नयन्त्याहुतयस्तं स्वं एह्येहीति मधूक्तयः ।
तत्रापि ममभावोऽयं श्रुत्या समधिगम्यते ॥८१॥

दर्शपूर्णमासादि यागोंसे जो स्वर्ग होता है वहां कारण और कार्यकी अभिन्नतासे स्वर्गगत ममता ही हुत और प्रहुतमें ममता है। एवं ये आहुतियां एहि एहि (आइये आइये) युं मधुरवाणी कहती हुई यजमानको स्वर्ग ले जाती हैं उनमें ममत्व होनेसे भी हुत एवं प्रहुतकी अन्नता सिद्धि होती है ॥८०-८१॥

अपि चाहुतयः सूक्ष्मा अप्शब्दा वासनात्मिकाः ।
यास्ताभिः संपरिष्वक्तः कर्मी मृत्वाथ रंहति ॥८२॥

त्रिवृद्भिस्ताभिरद्भिः स्यात् स्वस्तु स्वर्गभोगकृत् ।
ततश्च सिद्धमन्नत्वं हुतप्रहुतयोर्दिवि ॥८३॥

तच्च वर्ष्म स्वरुद्भूतं भवेद्दिव्यमलौकिकम् ।
पृथक्कृत्य ततस्तस्य व्याख्यानमुपपद्यते ॥८४॥

हुत और प्रहुतकी अन्नता सिद्ध करनेवाला अन्य कारण भी है। आहुतिका वासनात्मक सूक्ष्म रूप रहता है। जल बाहुल्य होनेसे उसको 'आप' शब्दसे भी कहते हैं। कर्मपरायण लोग मरनेपर उन्हीं आपसे वेष्टित होकर चन्द्रलोकादि जाते हैं। और उन्हींसे स्वर्गमें भोग्य शरीरका निर्माण होता है। यह बात "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्यां" इत्यादि सूत्रोंसे ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिपादित हुई है। अतः स्वर्ग भोग्य शरीरोपादान होनेसे भी हुत और प्रहुतकी अन्नता सिद्ध होती है।

स्वर्ग में वह शरीर दिव्य तथा अलौकिक होनेसे उसका पृथक् व्याख्यान करना भी उचित ही है ॥८२-८४॥

केचित्तु हूयमानं सद् घृताद्यं वासवादिभिः ।
भुज्यतेऽतस्तदन्नत्वं सिद्धमित्यूचिरे बुधाः ॥८५॥

तच्चिन्त्यं नैव तत्र स्यादात्मभावेन संस्थितिः ।
आत्मनो यजमानस्य कथं कर्मफलं तु तत् ॥८६॥

कुछ विद्वानोंका कहना है कि होमा हुआ घृतादि देवता ग्रहण करते हैं अतः हुतादिमें देवान्नता सिद्ध होती है। किन्तु यह व्याख्या समीचीन प्रतीत नहीं होती। क्योंकि भाष्यकारने उस अन्नमें आत्मभावसे आत्माकी स्थितिको संसार बताया है। देवभुक्त अन्नमें यजमान अहं ममाध्यास कैसे करेगा ? ॥८५-८६॥

सामान्यं भुज्यतेऽन्नं यच्छरीरं तद्भवस्ततः ।
अन्नं भोग्यत्वहेतोश्च तेन तस्यापि संग्रहः ॥८७॥

प्रथम सामान्य अन्न जो बताया वह भोग्य होनेसे अन्न तो है ही तद्भव शरीर भी अन्नजन्यत्वात् अन्न है और भोग्य होनेसे भी अन्न है। अतएव सामान्य अन्नपदसे शरीर भी संगृहीत होता है ॥८७॥

पितृभुक्तान्नजत्वेऽपि प्रथमोत्पन्नजन्मनः ।
कर्मजत्वात् स्वभोग्यत्वादन्नत्वं नैव हीयते ॥८८॥

गर्भजात शरीर यद्यपि पितृ (मातापिता) भुक्त अन्नसे उत्पन्न है। तथापि स्वकर्मजन्य एवं स्वभोग्य होनेसे उसमें भी अन्नत्वकी अनुपपत्ति नहीं है ॥८८॥

अत एव च सूर्यादिपृथिव्यादिगृहादयः ।
इदंकारास्पदीभूता भोग्यत्वादन्नशब्दिताः ॥८९॥

संसर्गाध्यास एष स्याद् भोगहेतुस्तदेषिणाम् ।
भोग्यत्वेन स्वरूपेण तेषामप्यन्नता ततः ॥९०॥

कर्मज एवं भोग्य होनेसे सूर्यचन्द्रादि, पृथिवीजलादि एवं गृहदारादि सभी इदंकारास्पद अन्न ही है। इनके साथ संसार्गाध्यास होता है। इसलिये भोग्यत्वेन रूपेण ये सभी सामान्य अन्नके अन्तर्गत हैं ॥८९-९०॥

गन्धर्वादितनूकारि हुतं स्यात्प्रहुतं पुनः।
प्रकृष्टेन्द्रादितनुकृदित्यप्यन्ये प्रचक्षते ॥९१॥

हुतसे गन्धर्वादि सामान्यदेवशरीर एवं प्रहुतसे विशिष्ट इन्द्रादि शरीर विवक्षित है ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं ॥ ९१॥

मनोऽन्तःकरणव्यूहो वाक् च सर्वेन्द्रियव्रजः।
प्राणशब्दाभिधेयं च प्राणापानादिपञ्चकम् ॥९२॥

सर्गादिदिष्टनिष्पन्नः प्रलयान्ताभिसंस्थितः।
वृद्धिक्षययुतः सूक्ष्मदेह एतत्त्रयात्मकः ॥९३॥

स्थूलदेहाश्रितः सोऽयं दिव्यदेहाश्रितोऽपि वा।
अत एव च तावुक्त्वा श्रुतिस्त्रितयमब्रवीत् ॥९४॥

मन, वाक्, प्राण इन तीन आत्माओंमें मनसे चारों अन्तःकरण, वाक्से दस इन्द्रियसमूह और प्राणसे पञ्चप्राण विवक्षित हैं। ये सृष्टिके आदिमें निष्पन्न होकर प्रलयतक रहते हैं। हां, इनका वृद्धि एवं क्षय होता रहता है। इन तीनोंका मिलितरूप ही सूक्ष्मशरीर है। यह सूक्ष्मशरीर या तो स्थूलशरीराश्रित रहेगा, नहीं तो स्वर्गलोकमें अग्निष्पन्न दिव्य-शरीराश्रित रहेगा। अतएव सामान्य अन्न और हुतप्रहुत अन्नके कहनेके बाद श्रुतिने आत्मान्नका वर्णन किया ॥९२-९४॥

अत्रैवाहंममाध्यासः प्रथमं जायतेऽविदाम्।
अनेनैव च संसारस्तेनात्मान्नं तदुच्यते ॥९५॥

मनोवाक्प्राणात्मक इसी सूक्ष्मशरीरमें सर्वप्रथम अहंममाध्यास होता है। उसीसे संसारबन्धन भी होता है। अतएव इसीको आत्मान्न बताया गया ॥९५॥

पशवः पाशनिर्बद्धा अत्यन्ताज्ञानिनो मताः।
ते बालाः स्तन्यपानादेरतिरिक्तं न जानते ॥९६॥

सद्योजातशिशूनां हि नैवाहंममतादयः।
शरीरादौ विलोक्यन्ते तेषामन्नं ततः पयः ॥९७॥

स्तन्यपानप्रवृत्तिर्हि जीवनादृष्टहेतुना।
शिशूनां भवतीत्याहुर्वेदवेदान्तवेदिनः ॥९८॥

जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन चात्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्मायं लोक" इत्यादिना ।

दूसरी ओर जायादिविषयक त्रिविध एषणाओंके त्यागसे आत्मवेत्ताओंके लिये कर्मनिष्ठाके विपरीत आत्मस्वरूपनिष्ठा ही दिखायी गयी है। जैसे कि हम पुत्रसे क्या करेंगे जिन हमारे लिये यह आत्मा ही इह लोक है इत्यादि ।

पशुपदसे पाशवद्ध अत्यन्त अज्ञानी विवक्षित है। ऐसे अज्ञानी तो नवजात शिशु ही होते हैं। वे स्तन्यपानसे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते। नवजात शिशु का शरीरादिमें अहंता ममता एवं भयादि देखनेमें नहीं आते। अतएव उनके लिये शरीरादिको अन्न मानना भी बड़ा कठिन है। इसीलिये श्रुति दूधको पश्वन्न कह रही है। अन्य किसीमें प्रवृत्ति नहीं, भोग्यबुद्धि नहीं तो स्तन्यमें भोग्यबुद्धि किस प्रकार ? इसका उत्तर शास्त्रवेत्ता यही देते हैं कि जीवनादृष्ट ही उसमें कारण है ॥९६-९८॥

इत्थं ह्युपास्तिकर्मभ्यां सप्तान्नान्यसृजत् पिता ।
निजसृष्टैरेव चान्नैः संसारं प्रत्यपद्यत ॥९९॥

इस प्रकार उपासना एवं कर्मसे सप्त अन्नको यजमानने बनाया और स्वयंरचित सप्तान्नसे संसारको प्राप्त हुआ ॥९९॥

सप्तान्नसर्गहेतुत्वाद् बाह्याभ्यन्तरकर्मणोः ।
सिद्धमज्ञस्य कर्मेति श्रुतेरभिमतं मतम् ॥१००॥

बाह्य एवं आभ्यन्तर कर्म सप्तान्न सर्गका हेतु है। अत एव कर्म अज्ञानी के लिये ही है यही श्रुतिका अभिमत मत है ॥१००॥

एतस्य प्रातिकूल्येन बृहदारण्यके पुनः ।
दर्शिता ज्ञाननिष्ठैव न्यासिनामात्मवेदिनाम् ॥१०१॥

प्रजया किं करिष्यामो येषामात्मायमव्ययः ।
अयं लोको भवेदात्मविदां न इति हि श्रुतिः ॥१०२॥

यह कर्मनिष्ठाकी बात हुई। इससे विपरीत बृहदारण्यकमें आत्मवेत्ताओंके लिये ज्ञाननिष्ठा ही दिखायी है। वहां श्रुति है—हम पुत्रसे क्या करेंगे जिन हमारे लिये यह आत्मा ही इह लोक है ॥१०२॥

अयं लोक इतीदं तु द्वयोरप्युपलक्षणम् ।
प्रजासमवधानेन तन्मात्रकथनं श्रुतौ ॥१०३॥

पुत्रेणैव हि जय्योऽयं लोकः सन्तानलक्षणः ।
कर्मणा पितृलोकश्च देवलोकश्च विद्यया ॥१०४॥

श्रुतिमें "अयं लोकः" यह पद पितृलोक तथा देवलोकका भी उपलक्षण है। "किं प्रजया करिष्यामः" यह प्रजापदके आनेसे "अयं लोकः" कह दिया। पुत्रसे इह लोकको जीतो, कर्मसे पितृलोकको और विद्यासे देवलोकको ऐसी अन्य श्रुति है। अतः तीनोंका प्रतिक्षेप यहां विवक्षित है ॥१०३-१०४॥

न च वाच्यं प्रजाक्षेपमात्रं श्रुतिविवक्षितम् ।
एतमेवेत्येवकारादन्यसर्वनिराकृतेः ॥१०५॥

क्यों उपलक्षण मानना ? केवल इह लोकका ही प्रतिक्षेप क्यों न माना जाय ? उत्तर यही है कि "एतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति" इस श्रुतिमें एतमेव ऐसा एवकार जोड़ा है। अर्थात् इस आत्मलोकको हीं चाहते हुए संन्यासी संन्यस्त होते हैं। यहां स्पष्ट है कि आत्मलोकातिरिक्त समस्तलोकका प्रतिक्षेप है ॥१०५॥

पुत्रैषणा भवेद् या सा भवेद्वित्तैषणा तथा ।
सैव लोकैषणेत्येवं त्रितयैकीकृतेरपि ॥१०६॥

"या पुत्रैषणा सा वित्तैषणा" इत्यादि वाक्योंमें पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणाका एकीकरण होनेसे भी "किं प्रजया"से तोनोंका प्रतिक्षेप स्वतः सिद्ध हैं ॥१०६॥

एषणात्रयसंन्यासः स्पष्टमुक्तः स्ववाक्यतः ।
तस्माल्लोकत्रयत्यागात्कर्मत्यागश्च संमतः ॥१०७॥

"ते हास्य पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, लोकैषणायाश्च व्युत्थाय" इसप्रकार तीनों एषणाओंका त्याग वताया है। अतएव लोकत्रयत्याग भी सिद्ध होनेसे कर्मत्याग भी सिद्ध होता है ॥१०७॥

वित्तं च द्विविधं प्रोक्तं दैवं मानुषमेव च ।
तत्कार्ये कर्मविद्ये स्तां कार्यं लोकत्रयं ततः: ॥१०८॥

ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनः, तेभ्यो 'ऽसुर्या नाम त' इत्यादिनाऽविद्वन्निन्दाद्वारेणात्मनो याथात्म्यं 'स पर्यगा' दित्येतदन्तर्मन्त्रैरुपदिष्टम् । ते ह्यत्राधिकृताः, न कामिन इति । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्" इत्यादि विभज्योक्तम् ।

जो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी हैं उनके लिये "असुर्या नाम" इत्यादि मन्त्रसे अविद्वान्की निन्दा करते हुए "स पर्यगात्" इस मन्त्रतक आत्माके पारमार्थिक रूपका उपदेश किया। क्योंकि वे संन्यासी ही यहां अधिकारी हैं, कामी नहीं। ऐसे ही श्वेताश्वतरशाखावालोंकी मन्त्रोपनिषद्में भी "आश्रमातीतोंके लिये ऋषिगणसेवित परमपवित्र आत्मज्ञानका उपदेश किया" इत्यादि विभागपूर्वक कहा गया।

हेतुत्रयपरित्यागः कार्यत्रितयवर्जनम् ।
इत्येतदेषणात्याग-वचनाल्लभ्यते श्रुतेः ॥१०९॥

वित्त मानुष और दैव ऐसे दो हैं। फलतः पुत्र और वित्तकी एषणा त्यागनेके लिये कहकर पुत्र, कर्म और विद्या इन तीन कारणोंका त्याग बताया। लोकैषणात्याग कहकर इन तीनके फल इहलोक, पितृलोक एवं देवलोकरूपी फलका त्याग बताया ॥१०८-१०९॥

तथा च ज्ञानिनां नैव कर्मादिर्नापि तत्फलम् ।
इत्येवश्रुत्यभिप्रेतसिद्धान्तोऽत्राधिगम्यते ॥११०॥

फलतः ज्ञानियोंके लिये कर्मादि भी नहीं एवं उसका फल भी नहीं यही श्रुतिसंमत सिद्धान्त अवगत होता है ॥११०॥

न चात्र ज्ञाननिष्ठायां कर्मिणो ह्यधिकुर्वते ।
अधिकारस्य विरहे कुतस्तात्स्यात्समुच्चयः ॥१११॥

अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रमृषिसेवितम् ।
प्रोवाच ज्ञानमित्येवं श्रुत्यैवेदं निगद्यते ॥११२॥

ज्ञाननिष्ठामें कर्मियोंका अधिकार ही नहीं तो समुच्चय कहांसे हो? श्रुतिमें भी बताया है—उत्तमाश्रमी यतियोंके लिये ऋषिसंघसेवित परमपवित्र ज्ञानका उपदेश किया ॥१११-११२॥

ये तु कर्मिणः कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते—अन्धं तम इत्यादि। कथं पुनरेवमवगम्यते, न तु सर्वेषामिति ?

जो कर्मनिष्ठ कर्मकाण्डी हैं जो कर्म करते हुए ही जीना चाहते हैं, उनके लिए अब यह कहा जा रहा है—अन्धं तमः इत्यादि।

प्रश्न होगा केवल कर्मकाण्डीके लिये अन्धं तमः इत्यादि है, सबके लिये नहीं यह कैसे निश्चय कर सकते हैं ?

ननु युक्त्यैव विषयविभागं साध्नुयाद् भवान्।
तं तु श्रुतिविरुद्धत्वादुपादेयं न मन्महे ॥११३॥

ईशावास्यमुपक्रम्योपसंजह्रे स पर्यगात्।
एकं प्रकरणं चेत्तदित्येतत् सर्वसम्मतम् ॥११४॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्येतत्तत्रापठच्छ्रुतिः।
अङ्गाङ्गित्वं कथं तत्र वार्यतां ज्ञानकर्मणोः ॥११५॥

पूर्वपक्षः—आप यह विषयविभाग केवल युक्तिपर आधारित होकर कर रहे हैं। किन्तु श्रुतिविरुद्ध होनेसे उसे हम नहीं मान सकते। "ईशावास्यं" से उपक्रमकर "स पर्यगात्" तक एक प्रकरण है (प्रकरणभेद नहीं है) यह सर्वसम्मत है। उसीके बीचमें 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' पढ़ लिया। तब ज्ञान और कर्मका अङ्गाङ्गिभावनिराकरण कैसे आप करेंगे ? ॥११३-११५॥

अत्रोच्यत उपक्षेपो मन्त्राभ्यां निष्ठयोः कृतः।
तयोर्हि विवृतिः पश्चात् सन्दर्भाभ्यां विधीयते ॥११६॥

उत्कृष्येते तत्र मन्त्रौ विवृतेः प्राक्तनस्थले।
द्वितीय एव वा मन्त्र उत्कृष्टव्यो यथास्थलम् ॥११७॥

उत्कर्षे कर्ममन्त्रो न ज्ञानप्रकरणे भवेत्।
नाङ्गाङ्गित्वं ततः सिध्येत्कथंचिज्ज्ञानकर्मणोः ॥११८॥

समाधान—"ईशावास्यं" और "कुर्वन्नेव" ये दो मन्त्र वक्तव्यविषयोपक्षेपमात्र हैं। दोनों विषयोंका विवरण पश्चात् आता है। ऐसे स्थलोंमें विषयोपक्षेपकको वहाँसे निकालकर अपने-अपने विवरणके साथ जोड़ा

जाता है। अथवा कुर्वन्नेवका ही उत्कर्ष "अन्धं तमः"से पूर्व कर लेना चाहिये। उसके होनेपर "ईशावास्यं"का सम्बन्ध अपने आप हो "असुर्या नाम" के साथ हो जायेगा। उत्कर्ष होनेपर कर्ममन्त्र ज्ञानप्रकरणमें रहता ही नहीं तो अङ्गाङ्गिभावकी आशंका ही कहां रह जाती है ॥११६-११८॥

न च प्रमाणं नैवात्रास्त्युत्कर्ष इति सांप्रतम्।
विरोधात् फलभेदाच्च भिन्नप्रकृतिनिश्चयात् ॥११९॥

उत्कर्ष में क्या प्रमाण ? इसका उत्तर ही पूर्वोक्त परस्परविरोध और फलभेद है ॥११९॥

विरोधविरहेऽप्येव स्वप्रसङ्गानुसारतः।
उत्कर्षो दृश्यते लोके वेदे चापि यथायथम् ॥१२०॥
रामकृष्णावभूतां द्वौ रामो दशरथात्मजः।
वसुदेवसुतः कृष्णः कंसरावणहारिणौ ॥१२१॥

विरोधादि न होनेपर भी रामकृष्ण दो महापुरुष हुए। राम दशरथपुत्र हुए कृष्ण वसुदेवसुत। कंस और रावणको उन्होंने मारा इत्यादि में यथास्थान शब्दयोजनसे ही महावाक्यार्थबोध होता है ॥१२०-१२१॥

ननु चात्र विरोधेऽपि फलभेदेऽपि कर्मणाम्।
संयोगस्य पृथक्त्वेन विषमः स्यात्समुच्चयः ॥१२२॥
अकर्मलेपाच्छुद्धान्तःकरणो हि बुभुत्सया।
ईशावास्यं जगदिति युक्तः कर्मसमुच्यः ॥१२३॥

पूर्वपक्षः—भले ज्ञान और कर्मका विरोध हो और भले ही कर्मका फलभेद हो। फिर भी संयोगपृथक्त्वन्यायसे समुच्चय संभव है। कर्मसे कर्मालेप होगा, उससे अन्तःकरण शुद्ध होगा, उससे विविदिषा होगी। फलतः ईशावास्यं होगा। इसप्रकार क्रमसमुच्चय सुगम है ॥१२२-१२३॥

नैवमन्धं तम इति श्रूयतेऽत्र फलान्तरम्।
न पृथक्फलसंयोगः श्रूयते खलु कर्मणाम् ॥१२४॥
इत्थं श्रुतफलस्थाने झटित्युत्कर्षयोजनौ।
अश्रुतं फलमाकल्प्य कथं क्रमसमुच्ययः ॥२५॥

उत्तरः—"अन्धं तमः" यहां फलविशेष श्रूयमाण है। किन्तु कर्मोंका फलान्तर यहां अश्रुत है। तव जहां फल श्रुत हुआ वहां झटसे उत्कर्ष

करनेकी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थितिमें अश्रुत फलकल्पना कर संयोगपृथक्त्वन्यायसे क्रमसमुच्चय संपादन कैसे होगा ? ॥१२४-१२५॥

न च दूरस्थसंयोगपार्थक्यमुपतिष्ठते ।
यावन्नानुपपत्तिर्हि काचिदत्र प्रतीयते ॥१२६॥

लोकवेदप्रसिद्धेन ह्युत्कर्षेण कृतार्थिनः ।
दूरस्थफलपार्थक्यमनुसंधातुमक्षमम् ॥१२७॥

यद्यपि वहां "यज्ञेन विविदिषन्ति" इत्यादि फलपार्थक्य श्रुत है तथापि वह दूरस्थ होनेके कारण जवतक कोई अनुपपत्ति नहीं दीखेगी तवतक उपस्थित नहीं होगा। लोकवेद प्रसिद्ध लघुभूत उत्कर्षसे कृतार्थ होनेसे दूरस्थित फलपार्थक्यका अनुसंधान ही नहीं हो सकेगा ॥१२६-१२७॥

नन्वत्र फलपार्थक्यं कर्म नो लिप्यते नरे।
इत्युक्त्या कथितं कस्माद्दूरस्थत्वमुदीर्यते ॥१२८॥

पूर्वपक्षः—फलपार्थक्य क्यों दूरस्थ है ? "न कर्म लिप्यते नरे" यहीं पर कर्मका अलेप फलान्तर वताया है ॥१२८॥

मैवं कर्म प्रकुर्वाणे कथं कर्म न लिप्यताम्।
तत आद्यं शुभं कर्म द्वितीयं त्वशुभं मतम् ॥१२९॥

उत्तरः— कर्म करनेपर कर्मलेप क्यों नहीं होगा ? अतः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" में कर्मपदका शुभकर्म अर्थ कीजिये। और "कर्म न लिप्यते" यहां द्वितीय कर्मपदका अशुभ कर्म अर्थ कीजिये ॥१२९॥

न च तस्मिन्नसत्कर्मक्लेशोपस्थितिरित्यपि ।
वाच्यं सन्ध्यानुपास्त्यादौ प्रत्यवायप्रसिद्धितः ॥१३०॥

यह कहें कि कर्मशब्दका असत्कर्म अर्थ क्लेशोपस्थितिक है, तो उत्तर है संध्यादि न करनेसे प्रत्यवायकी प्रसिद्धि है। असत्कर्मलेप ही प्रत्यवाय है। अतः उपस्थितिविलम्व दोष नहीं है ॥१३०॥

यत्र माध्यन्दिनीयानां नास्ति प्रकरणद्वयम्।
समुच्चयस्तत्र भवेदिति वक्ष्यामहे वयम् ॥१३१॥

जहां माध्यन्दिनशाखामें पृथक् दो प्रकरण नहीं है वहां क्रमसमुच्चयकी स्वीकार्यताके बारेमें हम आगे बतायेंगे ॥१३१॥

अत्रेदं चिन्त्यते निष्ठाद्वयमेवेर्यते कुतः ।
उपास्तिनिष्ठा कस्मान्न तृतीयापि निगद्यते ॥१३१॥

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥१३३॥

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥१३४॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥१३५॥

प्रश्नः—यह विचारणीय है कि दो निष्ठाओंका वर्णन क्यों हो रहा है ? जब कि तृतीय भक्तियोगनिष्ठा भी एक है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि मनुष्यके श्रेयके लिये मैंने तीन योग बताये हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति। इनसे अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। जो विरक्त हैं, कर्मसंन्यासी हैं उनके लिये ज्ञानयोग है। जो कर्मों से विरक्त नहीं हैं, कामी हैं उनके लिये कर्मयोग है। यदृच्छया जिनकी भगवत्कथादिमें श्रद्धा उत्पन्न हुई, जो न पूरे विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त ही हैं उनके लिये भक्तियोग सिद्धिदायी है॥१३२-१३५॥

मैवं नैव विरोधोऽस्ति कर्मोपास्त्योस्ततो न ते ।
पृथक्त्वेन निरुच्येते समुच्चयविधेरपि ॥१३६॥

उत्तरः—कर्म एवं उपासनामें विरोध न होनेसे वे पृथक्-पृथक् कहे नहीं गये और उन दोनोंका समुच्चयविधान आगे होनेवाला भी है ॥१३६॥

उपास्तिर्मानसं कर्म चाग्निहोत्रादि कायिकम् ।
न विरोधस्तयोः कश्चिद् विहितश्च समुच्चयः ॥१३७॥

ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रं स्यात् पुंस्तन्त्रा स्यादुपासना ।
विरोधो दर्शितश्चेति तयोः पार्थक्यमिष्यते ॥१३८॥

उपासना मानस कर्म है। अग्निहोत्रादि कायिक कर्म है। उनका परस्पर विरोध नहीं है। समुच्चय विहित भी है। हां, ज्ञान वस्तुतन्त्र है। उपासना पुरुषतन्त्र है। अतः वे दोनों पृथक हैं ॥१३७-१३८॥

ननु प्रेमात्मिका भक्तिर्न पुंस्तन्त्रा न च क्रिया ।
न वा ज्ञानमतो भक्तिनिष्ठा किं न भवेत्पृथक् ॥१३९॥

प्रश्न :—प्रेमलक्षणा भक्ति पुरुषतन्त्र नहीं है और क्रिया भी नहीं है। साथ ही वह ज्ञान भी नहीं है तब भक्तिनिष्ठा पृथक् क्यों न हो ? ॥१३९॥

नैवमानन्दविषयं प्रेम तावन्निगद्यते ।
आत्मानन्दे परिज्ञाते स्वतस्तच्च प्रवर्तते ॥१४०॥

यस्त्वीशप्रेम तदपि पृथक् चेदीश आत्मनः ।
आत्मार्थमिति न प्रेम वास्तवं भवितुं क्षमम् ॥१४१॥

आत्मस्वरूप ईशश्चेदात्मज्ञानाविनाभवम् ।
न पृथग् वाच्यमस्तीति न निष्ठान्तरमिष्यते ॥१४२॥

उत्तरः—प्रेम हमेशा आनन्दविषय ही होता है। "प्रेमानुपाधिरसुखात्मनिनोपलब्धः" ऐसा प्रामाणिकोंका वचन है। आत्मानन्द ज्ञात होनेपर वह स्वतः एव प्रकट होता है। जो लोग ईश्वरप्रेम कहते हैं उनसे यही पूछा जायेगा कि ईश्वर आत्मासे पृथक् है या अपृथक्। यदि पृथक् है तो आत्मार्थ ही वह प्रेम हुआ। "न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति" ऐसी श्रुति है। अतएव वह प्रेम वास्तविक प्रेम है ही नहीं। यदि ईश्वर आत्मासे अपृथक् है तब आत्मज्ञानसे अविनाभावी होनेसे न वह अलग निष्ठा है और न पृथक् वक्तव्य ही है ॥१४०-१४२॥

स्वतः प्रवर्तमानस्य ह्यविनाभाविनः पृथक् ।
न सत्त्वमुपगच्छन्ति तदुक्तं कपिलादिभिः ॥१४३॥

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥१४४॥

इतिभागवते प्रोक्तं शैवे स्फुटतरं च तत् ।
भक्तिज्ञाने न भिन्ने हि शंभुना वर्णिते द्विजाः ॥१४५॥

तस्माद्भेदो न कर्तव्यस्तत्कर्तुः सर्वदा सुखम् ।
तस्मान्न भक्तिनिष्ठायाः पार्थक्यमुपगम्यते ॥१४६॥

प्रेम एक तो आत्मज्ञानके अविनाभावी है। तिसपर आत्मज्ञान हो जानेसे स्वयमेव होता है। तदर्थं पृथक् यत्न कर्तव्य नहीं है। अतएव उसका पृथक् अस्तित्व भी माना नहीं जाता। कपिलादिने यह बात कही भी है—

भगवत् निष्ठा ज्ञानयोग तथा निर्गुण भक्तियोग दोनोंका एक ही अर्थ है। दोनोंका परमात्मा ही अभिप्रेत अर्थ है। ऐसा भागवतमें कहा है। शिव-पुराणमें इसे और भी अधिक स्पष्ट किया है। भक्तिमें और ज्ञानमें कोई भेद नहीं इत्यादि शिवपुराणवचन है ॥१४३-१४६॥

ननु जीवेशपार्थक्ये मा मुख्यं प्रेम भूद्धरौ।
गौणमेवास्तु किन्त्वेषा भक्तिनिष्ठा न किं पृथक् ॥१४७॥

शंका:—जीव और ईश्वरकी पृथक्त्वबुद्धिकालमें भले ईश्वरमें गौण प्रेम हो पर उसीको हम भक्तिनिष्ठा कहेंगे। वह ज्ञान और कर्मसे पृथक् क्यों न हो ? ॥१४७॥

नैवमिच्छाविशेषस्य पूजादिव्यङ्ग्यवर्ष्मणः।
कर्तृभोक्त्रविनाभूतेः कर्मान्तर्भावनिर्णयात् ॥१४८॥

समाधान :—यह द्वैतभक्ति इच्छाविशेषरूप है। पूजा ध्यान आदि करते रहनेसे भगवद्विषयक वह इच्छा व्यक्त होती है। पूजादि आवश्यक होनेसे ही कर्तृभाव तथा इच्छा होनेसे ही भोक्तृभाव भी निश्चित है। तब वह भक्ति कर्ममें ही अन्तर्भूत होती है ॥१४८॥

दाससख्यादिभावेषु स्पष्टाहंकृतिरीक्ष्यते।
तत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रभृतिर्घटतेतराम् ॥१४९॥

मैं दास हूँ, मैं सखा हूँ इत्यादि भावभक्ति में अहंकार स्पष्ट है। उसमें फिर कर्तृत्वभोक्तृत्वादि भी नितरां सम्भव है ॥१४९॥

ननु कारयिता विष्णुरित्येषा भक्तभावना।
सत्यं प्रयोज्यकर्तृत्वं कथंकारं निवार्यताम् ॥१५०॥

यदि कहें कि भगवान् ही करानेवाले हैं। ऐसी भावना भक्तकी रहती है। ठीक है। करानेवाले भगवान् पर करनेवाला कौन ? तब प्रयोज्यकर्तृत्व क्यों नहीं होगा ॥१५०॥

करोति भगवानेवेत्येषा तावत्प्रतारणा।
विप्रं हत्वा चक्रारैतद्भगवान्निति को वदेत् ॥१५१॥

करते भी भगवान ही हैं ऐसा कहना तो वंचनामात्र है। ब्राह्मणको स्वयं मारकर भगवानने मारा ऐसा कौन भला पुरुष कहनेको तैयार होगा ? ॥१५१॥

ननु ब्रह्माहमस्मीति विद्यते तेऽप्यहंकृतिः ।
श्रवणादिषु कर्तृत्वमपि विद्यावतः समम् ॥१५२॥
नित्यं श्रुत्यादितात्पर्यं ज्ञाननिष्ठा निगद्यते ।
श्रवणादि विना नैव कर्तृत्वमुपपद्यते ॥१५३॥

पूर्वपक्षः—अहं ब्रह्मास्मि इसमें भी तो अहंकार है। और विद्वानमें भी श्रवणादि का कर्तृत्व समान है। ज्ञाननिष्ठाका अर्थ ही है नित्यश्रवणादितत्परता। क्या कर्तृत्वके बिना श्रवणादि उपपन्न है ? ॥१५२-१५३॥

तन्नाहंकारभागस्य त्यागात्तत्राहंकृतिर्वद ।
एकत्वदर्शिनः क्वैव कर्तृत्वादिः प्रसज्यते ॥१५४॥
श्रवणादिषु कर्तृत्वमप्यत्यल्पं समुदीरितम् ।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नप्यकर्तैव तत्त्ववित् ॥१५५॥

उत्तरः—अहं ब्रह्मास्मिमें अहंकारविशिष्ट चेतनरूपी अहं पदार्थसे अहंकार भागका भागत्यागलक्षणासे त्यागकर बोध होता है। तब अहंकार कहां रहा ? और एकत्वदर्शीमें कर्तृत्वादि कहांसे प्रसक्त होगा ? श्रवणादिकर्तृत्व यह कथन अत्यल्प है। ब्रह्मज्ञानी देखता है, सुनता है, छूता है, सूंघता है, दुनियाभरका काम करता है फिर भी वह अकर्ता है ॥१५४-१५५॥

भक्त्यभिव्यञ्जके त्वेवं न कर्तृत्वादिमर्दनम् ।
न हि पूजादिकारी स्यादकर्ताऽधिकृतः पुमान् ॥१५६॥
शूद्रोऽस्म्यनधिकार्यस्मि ब्राह्मणोऽस्म्यधिकारवान् ।
मन्दिरे देवपूजायामिति ते नास्ति किं भिदा ॥१५७॥

भक्तिके अभिव्यञ्जक पूजादिमें ज्ञानस्थलवत् कर्तृत्वादिका विमर्दन नहीं हो सकता। पूजादि करनेवाला अधिकारी होता है। वह अकर्ता कैसे हो ? मंदिरमें प्रतिष्ठित देवताकी पूजा करनेमें मैं शूद्र अनधिकारी हूँ, मैं विप्र अधिकारी हूँ ऐसा भेद तुम्हारे मतमें नहीं है क्या ? ॥१५६-१५७॥

यदि वा मनुषे सर्वं मिथ्यैव परमार्थतः ।
ज्ञानान्तर्भाविता तर्हि ब्रह्मणाप्येव दुर्हरा ॥१५८॥

और यदि यह मानते हो कि यह अधिकार अनधिकार आदि केवल व्यावहारिक बात है, परमार्थतः सभी मिथ्या है तब तो इस भक्तिका ज्ञानमें अन्तर्भाव ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकते ॥१५८॥

तस्मान्न भक्तिनिष्ठैषा पृथक् शक्या प्रसाधितुम् ।
कर्मान्तर्भाविनी द्वैतेऽद्वैते ज्ञाननिमज्जिनी ॥१५९॥

अतः यह भक्तिनिष्ठा कोई पृथक् निष्ठा नहीं है। द्वैतदर्शनकालमें यह कर्मान्तर्भूत है। और अद्वैतदर्शनकालमें ज्ञानान्तर्भूत है ॥१५९॥

भास्करस्तावदाचख्यावीशावास्यमिति श्रुतौ ।
प्रक्रान्ता ब्रह्मविद्यात्र विद्याशब्देन गृह्यते ॥१६०॥

तथा चाज्ञानिनामेषा कर्मनिष्ठाधुनोच्यते ।
इत्येवं यद् विभज्योक्तं तन्न संगतिमर्हति ॥१६१॥

उपस्थितं परित्यज्याऽनुपस्थितपरिग्रहे ।
औचित्यं नैव पश्यन्ति मीमांसाशास्त्रकोविदाः ॥१६२॥

यहां भास्कराचार्य कहते हैं कि "ईशावास्यं" इस श्रुतिसे ब्रह्मविद्याका उपक्रम हुआ है। वही यहां "विद्यां चाविद्यां च"में विद्यापदका अर्थ हो सकता है। अत एव अज्ञानियोंके लिये कर्मनिष्ठाका वर्णन अब प्रारंभ हो रहा है इत्यादि आपका विभागवचन भी असंगत है। उपस्थित है ब्रह्मविद्या। उसे छोड़कर अनुपस्थित उपासनाका ग्रहण करना मीमांसा-विरुद्ध है ॥१६०-१६१॥

ननूपक्रमणं तावदुपास्तेरपि नः समम् ।
कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्युपास्तेरपि संग्रहात् ॥१६३॥

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव द्विविधं कर्म मन्महे ।
आद्यं स्यादग्निहोत्रादि द्वितीयं स्यादुपासना ॥१६४॥

न च विद्यापदं रूढं ज्ञान इत्यपि सांप्रतम् ।
उपासनायामपि च तत्प्रयोगस्य दर्शनात् ॥१६५॥

खण्डनार्थ सिद्धान्तानुवाद—ब्रह्मविद्याका ही उपक्रम कैसे ? "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" यहां उपासनाका भी तो उपक्रम किया है। क्योंकि कर्म दो प्रकारका होता है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। अग्निहोत्रादि बाह्य कर्म है। उपासना आन्तर कर्म है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि विद्यापद ब्रह्मज्ञानमें रूढ है। क्योंकि उपासना अर्थमें भी विद्यापदका प्रयोग देखनेमें आता है ॥१६३-१६५॥

मैवं कर्मपदान्मुख्यमग्निहोत्रादि भण्यते ।
विद्यापदाच्च मुख्यार्थो ज्ञानमेवाभिधीयते ॥१६६॥

उच्यते, अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः इति यदात्मैकत्वविज्ञानं तन्न केनचित् कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति।

उत्तर यह है कि कामनारहित पुरुषको साध्य तथा साधनके भेद निराकरणके साथ जो आत्माकी एकताका विज्ञान "जिस कालमें ज्ञानीके लिये सभी भूत आत्मा ही हो जाते हैं उस समय एकत्वदर्शी उसको क्या मोह और क्या शोक हो" इस मन्त्रमें जो बताया गया उसका किसी कर्म या अन्य उपासनादिरूपी ज्ञानसे समुच्चय कोई भी अमूढ करना नहीं चाहेगा।

गौणमुख्यार्थयोः प्राप्तौ मुख्ये संप्रत्ययो भवेत्।
अग्निहोत्रादिकर्मैव तदुपक्रमवाक्यगम् ॥१६७॥

नोपास्तिरिति नैवेषा प्रक्रान्ता नात्र चेरिता।
यतो विद्यापदान्मुख्या ब्रह्मविद्यैव गृह्यते ॥१६८॥

सिद्धान्तका खण्डनः—उक्त सिद्धान्त असंगत है। क्योंकि कर्मपदका मुख्यार्थ अग्निहोत्रादि कर्म है। और विद्यापदका मुख्यार्थ ज्ञान ही है। गौण और मुख्य दोनोंकी प्राप्ति होनेपर मुख्यार्थका हां ग्रहण होता है। फलतः "कुर्वन्नेवेह" इस उपक्रममें अग्निहोत्रादि ही उपक्रान्त है न कि उपासना। और प्रकृतमें विद्यापदसे मुख्यार्थ एवं "ईशावास्य"से उपक्रान्त ब्रह्मविद्याका ही ग्रहण है ॥१६६-१६८॥

तदसद् ब्रह्मविद्यात्र नैव प्रक्रममात्रतः।
शक्या ग्रहीतुं सम्बन्धयोग्यताविरहत्वतः ॥१६९॥

कर्म कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्याससहितं भवेत्।
विद्या तद्वैपरीत्येन कर्तृत्वाद्युपमर्दिनी ॥१७०॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि ह्यात्मैवाभूद्विजानतः।
इति साधनसाध्यादेरुक्तं भेदोपमर्दनम् ॥१७१॥

उक्त भास्करमत असमीचीन है। उपक्रममात्रसे ही ब्रह्मविद्याका यहां ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्मविद्याके साथ सम्बन्धके योग्य ही कर्म

नहीं है। कर्म तो कर्तृत्वभोक्तृत्वादिके अध्यासके साथ होता है और ब्रह्म-विद्या उससे विपरीत कर्तृत्वादिका उपमर्दन करती है। "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्" इस मन्त्रमें स्पष्ट साधनसाध्यादिका भेदोपमर्दन किया गया है ॥१६९-१७१॥

ननु कर्माण्यदृश्यन्त विद्वत्सु जनकादिषु।
लेशाविद्याप्रयुक्तं च कर्म सर्वस्य सम्मतम् ॥१७२॥

न चास्य कर्मकर्तृत्वाद्यध्यासरहितत्वतः।
कर्माभासत्वमेवेति स्यात्तेनैव समुच्चयः ॥१७३॥

कर्मास्तु कर्माभासो वा किं तेन भवतो भवेत्।
श्रुत्युक्तत्वाद् भवेत्तेन मोक्षदायी समुच्चयः ॥१७४॥

भास्कर :—जनकादि विद्वानोंको भी कर्म करते हुए पाया गया है। लेशाविद्याप्रयुक्त कर्म सर्वसम्मत है। कर्तृत्वादिके अध्यासके न होनेसे जनकादिकृत कर्म कर्माभास ही है ऐसा यदि कहते हो तो भले हो, उस कर्माभाससे ही ज्ञानका समुच्चय होने दो। कर्म हो या कर्माभास। इससे आपको क्या मतलब? श्रुतिप्रोक्त होनेसे उसका समुच्चय मोक्षदायी होगा ॥१७२-१७४॥

मैवं यस्मिन्समुत्पन्ने व्यवधानं फलोद्भवे।
तस्यैव फलनिष्पत्तौ सहकारिसमुच्चयः ॥१७५॥

इह जन्मनि न स्वर्गो दर्शादिषु कृतेष्वपि।
अदृष्टकालेशेच्छादि सहकारि भवेत्ततः ॥१७६॥

विद्यायाः समकालं तु फलमत्र निवेदितम्।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥१७७॥

सिद्धान्त :—कर्माभाससमुच्चय हो सकता था यदि उपयोगी होता। जिस कारणके सम्पन्न होनेपर भी फलोत्पत्तिमें व्यवधान होता है वहीं सहकारीका समुच्चय माना जाता है। दर्शपूर्णमास सम्पन्न हुआ फिर इसी जन्ममें स्वर्गफल नहीं हुआ। तब वहां अदृष्ट, काल, ईश्वरेच्छा आदि सहकारी माने जाते हैं। प्रकृतमें विद्याके समकाल ही फल बताया गया है। "तत्र को मोहः" इस पूर्वश्रुतिमें कहा है कि एकत्वदर्शी ब्रह्मवेत्ताके लिये शोकमोहात्मक संसार नहीं होता ॥१७५-१७७॥

ननु न ज्ञानकाले हि फलमभ्युपगम्यते ।
शृण्वन्तोऽपि न यं विद्युः संप्राप्नुयुरिति श्रुतेः ॥१७८॥

न च विद्युर्विजानीयुरित्यर्थं इति सांप्रतम् ।
श्रवणं ज्ञानमेव स्यादन्योक्त्यनुपयोगतः ॥१७९॥

परोक्षमेव श्रवणमित्यप्युक्तिर्न युज्यते ।
अपरोक्षे परे तत्त्वे परोक्षस्याप्रसक्तितः ॥१८०॥

तस्मात्कर्मसहायं सज्ज्ञानं मोक्षफलप्रदम् ।
तत्पुण्यविरहान्नैव शृण्वन्तोऽप्याप्नुवन् परम् ॥१८१॥

भास्करः—ज्ञान होते ही फलप्राप्ति नहीं होती । अतएव "शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः" इस श्रुतिमें ज्ञान होनेपर भी आत्माकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा बताया है । "न विद्युः"का अर्थ है प्राप्त नहीं होते । यदि कहो कि "विद्युः" का प्राप्त होना अर्थ नहीं, जानना अर्थ है, सुनते हुए भी बहुतसे लोग जान नहीं पाते ऐसा अभिप्राय है तो ठीक नहीं । कारण श्रवणका अर्थ केवल कर्णसंयोग नहीं है । "श्रोतव्यः" यहांपर आत्माको श्रुतिद्वारा समझना ही अर्थ है । यह कहना भी ठीक नहीं कि श्रवणसे परोक्षज्ञान ही होता है, अपरोक्ष नहीं । क्योंकि आत्मा नित्य अपरोक्ष है, उसमें परोक्षताकी प्रसक्ति ही नहीं है । इसलिये श्रवणसे ज्ञान होनेपर भी कर्मजन्य पुण्य न होनेसे मोक्षप्राप्ति नहीं होती यही अर्थ है । अतएव कर्मसमुच्चय मोक्षहेतु है ॥१७८-१८१॥

नैवं ज्ञानेऽप्यसंप्राप्तिर्ब्रह्मणः पुरुषागसा ।
न चेवं तन्निवृत्त्यर्थं कर्मापेक्षेति सांप्रतम् ॥१८२॥

पुरुषागो निवृत्तौ हि कारणं कर्म तर्हि ते ।
सिद्धं तदान्यथासिद्धं कर्म मोक्षं प्रतीति ते ॥१८३॥

सूर्यप्रकाशने मेघो दृश्यते प्रतिबन्धकः ।
तन्निरासी मरुत् किं नु सूर्यप्रद्योतकारणम् ॥१८४॥

पुरुषागो न यस्मिन् स्यान्निर्मेघगगनोपमे ।
ब्रह्मसूर्यप्रदीप्तौ हि हेतुः कर्ममरुत् कथम् ॥१८५॥

सिद्धान्तः—ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मकी अप्राप्ति पुरुषापराधके कारण होती है । यदि कहते हो कि तब पुरुषापराधकी निवृत्तिके लिये ही कर्मकी

अपेक्षा रह जायेगी तो भले रह जाय। पुरुषापराधनिवृत्तिमें कर्म कारण हुआ। मोक्षके प्रति तो नहीं हुआ। सूर्यके प्रकाशनमें मेघ प्रतिबन्धक है। उसकी निवृत्ति वायुसे होती है। तो क्या वायु सूर्यप्रकाशनमें कारण है? और जिस निर्मेघ गगनसमान पुरुषमें मेघसदृश पुरुषापराध नहीं है वहां कर्मरूपी वायु आकर क्या करेगा? ब्रह्मसूर्यप्रकाशनमें वह अन्यथासिद्ध ही है ॥१८२-१८५॥

न वा कर्माग्निहोत्रादि पुरुषागोनिवर्तकम्।
किन्तु तन्मननं चैव निदिध्यासनमेव च ॥१८६॥

वस्तुतः पुरुषापराधनिवृत्तिमें भी कर्म कारण नहीं है। किन्तु मनन और निदिध्यासन ही पुरुषापराधनिवर्तक है ॥१८६॥

श्रुत्या विविदिषन्त्येनं यज्ञेनेति तृतीयया।
सम्बन्धः करणत्वेन जिज्ञासायां प्रदर्श्यते ॥१८७॥

वेदने कर्मसम्बन्धं करणत्वेन ये जगुः।
तेषामपि न मोक्षेऽस्ति करणत्वसमन्वयः ॥१८८॥

अश्रुतः खलु मोक्षोऽत्र कथं तत्र तथान्वयः।
पुरुषागस्यपि तथा नाश्रुते स्यात्तदन्वयः ॥१८९॥

यज्ञेन विविदिषन्ति यहांपर यज्ञका करणरूपसे जिज्ञासामें ही अन्वय है। जो लोग वेदनमें अन्वय करते हैं, उनके मतमें भी मोक्षमें करणरूपेण कर्म का अन्वय है ही नहीं। क्योंकि मोक्ष उस वाक्यमें अश्रुत है। अतएव पुरुषापराध भी अश्रुत होनेसे उसमें भी कर्मका अन्वय नहीं होता ॥१८७-१८९॥

नन्वन्तरैव जिज्ञासां नराः शृण्वन्ति ये श्रुतिम्।
तेषां ज्ञानं भवेन्नाहो आद्ये कर्म वृथा भवेत् ॥१९०॥

द्वितीयोऽपि च नो युक्तः कर्माभावेन हेतुना।
कथं पदपदार्थज्ञः शृण्वन्नैवावबुध्यतु ॥१९१॥

शंका:—विविदिषाके विना यदि श्रुति सुनी जाय तो ज्ञान होगा कि नहीं? यदि होगा तो कर्म व्यर्थ पड़ेगा। क्योंकि विविदिषार्थं कर्म है। यदि कहें कि विविदिषा न हो तो ज्ञान नहीं होगा तो वह अयुक्त है।

पदपदार्थज्ञान जिसको है, वाक्य सुननेपर उसको ज्ञान क्यों नहीं होगा ? कर्म हो या न हो क्या मतलब ? ॥१९०-१९१॥

न च वाच्यं श्रवणेऽस्य प्रवृत्तिर्न भवेदिति ।
अप्रर्थप्रलापमपि हि शृण्वन्ति बहवो जनाः ॥१९२॥

भवत्येव हि सामान्यजिज्ञासा भुवने नृणाम् ।
शब्दे कर्णमुपायाते कथं न शृणुयादिति ॥१९३॥

यदि कहें कि जिज्ञासा न होनेपर श्रवण करनेमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी । गलत है । कोई बकवास करता हो तो उसे भी कुतुहलतावश सुननेके लिये लोग खड़े रहते हैं । क्योंकि सामान्य जिज्ञासा सबमें रहती है । फिर संयोगवश कानमें शब्द पड़ गये तो क्यों नहीं सुनेंगे ॥१९२-१९३॥

अत्रोच्यतेऽविविदिषोर्यद्धि ज्ञानं विजायते ।
उपेक्षात्मकमेव स्यात्तदज्ञानसमं भवेत् ॥१९४॥

नोपेक्षाज्ञानतो वष्टि संस्कारं तार्किको ह्यपि ।
कथं स्यान्मननाद्येवं कथं ज्ञानफलं भवेत् ॥१९५॥

उत्तरः—विविदिषाके विना सुननेपर जो ज्ञान होता है वह उपेक्षात्मक ही होगा । सुननेपर कोई रस नहीं आयेगा । तो सुनना न सुनना बराबर होगा । वह ज्ञान अज्ञानसदृश ही होगा । उपेक्षात्मक ज्ञानसे तार्किकमतमें भी संस्कार नहीं होता । श्रवणसंस्कार ही न रहा तो क्या मनन करेंगे ? क्या निदिध्यासन होगा ? ज्ञानफलकी प्राप्ति कैसे होगी ? ॥१९४-१९५॥

वेदनं वस्तुतोऽनागःसाक्षात्कारो विवक्षितः ।
तदिच्छयैव तद्धेतौ प्रवृत्तिर्मननादिके ॥१९६॥

वस्तुतः विविदिषाघटकीभूत वेदन सामान्यज्ञान मात्र नहीं है । किन्तु पुरुषापराधप्रतिबन्धरहित साक्षात्कार है । उसकी इच्छा विविदिषा है । अत एव श्रवणोत्तर प्रतिबन्धापनयार्थं मननादिमें प्रवृत्ति उसी विविदिषासे होती है । अर्थात् विवक्षित वेदन तो शब्दश्रवणमात्रसे नहीं ही होगा ॥१९६॥

भवातपाभिसंतप्तो जलजिज्ञासुवन्नरः ।
ब्रह्म जिज्ञासमानोऽयं ज्ञात्वा सुखमवाप्नुयात् ॥१९७॥

ग्रीष्मातपसमान भवसंतापसेसंतप्त पुरुष जलजिज्ञासुके समान ब्रह्म-

जिज्ञासु बनकर हर प्रकारसे प्रयत्न कर उसे जानकर और पाकर परम-सुखानुभव करता है ॥१९७॥

ननु ज्ञानं न पुंस्तन्त्रं वस्तुतन्त्रं हि तत् स्थितम् ।
तत्सौन्दर्यात्तदिच्छा स्यान्नोभयोः कर्म कारणम् ॥१९८॥

तस्माद्विविदिषन्तीति प्रेप्सन्तीत्यर्थकं भवेत् ।
मोक्षोऽदृष्टतयाऽदृष्टद्वारा कर्मफलं भवेत् ॥१९९॥

पूर्वपक्षः—कर्मका अन्वय न वेदनमें और न विविदिषामें ही हो सकता है। क्योंकि ज्ञान वस्तुतन्त्र होनेसे कर्मसाध्य नहीं है। कर्मसाध्य होनेपर वह पुरुषतन्त्र होगा। और यह अपसिद्धान्त हो जाएगा। इच्छा भी वस्तुसौन्दर्यप्रयुक्त होती है। अतएव वह भी कर्मसाध्य नहीं है। फलतः विविदिषन्ति यह प्रयोग विद्ऌ लाभे इस धातु का मानना पड़ेगा। अर्थात् कर्मसे ब्रह्म प्राप्त करना चाहते हैं यह अर्थ होगा। मोक्ष अदृष्ट होनेसे कर्मजन्य अदृष्टके द्वारा मोक्षप्राप्ति संगत भी है ॥१९८-१९९॥

नैवं विविदिषा नैव वस्तुसौन्दर्यतो भवेत् ।
न ह्यशुद्धहृदो ब्रह्म जिज्ञासन्ते दुराशयाः ॥२००॥

जिज्ञासाविरहादेव वेदनं दूरतो गतम् ।
तस्माददृष्टद्वारेण जिज्ञसा कर्मणा भवेत् ॥२००१॥

सिद्धान्तः—ब्रह्मविविदिषा वस्तुसौन्दर्यसे नहीं हो सकती। अतएव अशुद्ध हृदय दुर्मतिके मनमें कभी भी ब्रह्मजिज्ञासोदय नहीं होता। जिज्ञासाके न होनेसे ज्ञान भी दूरापास्त है। अतः कर्म ही अदृष्टके द्वारा जिज्ञासोत्पादक मानना होगा ॥२००-२०१॥

नित्यप्राप्तात्मनः प्राप्तिः का स्यान्मोक्षात्मनस्तव ।
ज्ञानात्मिका यदि तु सा स्याद् गलेपादुका तव ॥१०२॥

मोक्ष आत्मस्वरूप है। वह नित्यप्राप्त है। तब उसकी प्राप्ति क्या होगी ? विस्मृतप्रत्यभिज्ञारूपी ज्ञान ही प्राप्ति है तो आखिर ज्ञानमें ही कर्मान्वय हुआ। यह तो गलेपादुकान्याय हो जायेगा ॥२०२॥

अग्नीन्धनाधिकरणेऽनपेक्षां सूत्रकृज्जगौ ।
इतिकर्तव्यविधया संप्राप्ताश्रमकर्मणाम् ॥२०३॥

इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः संभवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते यद् दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् ।

किन्तु यहां तो ज्ञानकर्मसमुच्चयार्थं अविद्वान् आदिकी निन्दा की जा रही है। तव यहां कौनसा ज्ञान कहा होगा सोच लो। यही कि जिसका जिससे समुच्चय न्यायतः या शास्त्रतः संभव है उन्हींका समुच्चय होगा। अर्थात् देवतोपासनारूपी जो ज्ञान है जिसे दैव वित्त कहते हैं उसीको यहां कर्म-सम्वन्धीके रूपमें वताया गया है, परमात्मज्ञान नहीं।

यद्वा समुच्चितत्तया प्राप्तेष्वाश्रमकर्मसु ।
अग्नीन्धनाधिकरणं प्रावर्तयत सूत्रकृत् ॥२०४॥

और 'अतएव चाग्नीवनाद्यनपेक्षा'' इस अधिकरणमें इतिकर्तव्यता-रूपसे ज्ञानके साथ मोक्षार्थं प्राप्त आश्रमकर्मोंका निराकरण सूत्रकारने किया है। मतान्तरमें समुच्चयरूपेण ज्ञानके साथ आश्रमकर्म भी मोक्ष-साधनरूपेण प्राप्त हुआ तो अग्नीन्धनाधिकरणसे सूत्रकारने उसका निरा-करण किया ॥२०३-२०४॥

भास्करोऽपि न मेनेऽत्राश्रमकर्मसमुच्चयम् ।
परिजह्रे विरोधेन प्राप्तं सूत्रार्थवर्णने ॥२०५॥

वल्कि उस सूत्रकी व्याख्यामें भास्कराचार्यने भी आश्रमकर्मसमुच्चय नहीं माना। और ज्ञानकर्मविरोधको लेकर प्राप्त आश्रमकर्मसमुच्चयका निराकरण किया ॥२०५॥

तस्मात् समुच्चयो नैव स्यात्कर्मब्रह्मविद्ययोः ।
समुच्चिचिषया चात्राऽज्ञादिनिन्दा विधीयते ॥२०६॥

प्रधानत्वात् कथंकारं विद्यानिन्दोपपद्यते ।
तस्माद्विद्यापदं स्पष्टमुपास्तिपरकं भवेत् ॥२०७॥

अतः यह निश्चित हुआ कि ब्रह्मविद्या और कर्मका समुच्चय संभव नहीं। और यहां समुच्चयार्थं ही अज्ञानी आदिकी निन्दा की जा रही है।

फिर विद्या स्वयमेव प्रधान होनेसे उसकी निन्दा भी कैसे उपपन्न होगी। अतएव विद्यापद उपासनार्थक ही है ॥२०६-२०७॥

> नन्वत्रैव प्रधानापि विद्या भवति निन्दिता।
> उपास्त्यर्थत्वपक्षेऽपि प्राधान्यं न जहाति सा ॥२०८॥
>
> न च वाच्यं प्रधाना न विद्या किन्तु समुच्चयः।
> ज्ञानपक्षेऽपि भवतु प्रधानस्तत्समुच्चयः ॥२०९॥

शंकाः—प्रधानकी निन्दा क्यों नहीं होती ? इसी जगह प्रधान विद्याकी निन्दा की गयी है। उपासनार्थपक्षमें भी आखिर प्रकृतमें प्रधान विद्या है ही। यदि कहते हो कि यहां विद्या प्रधान नहीं है। समुच्चय प्रधान है तो ज्ञानार्थपक्षमें ज्ञानकर्मसमुच्चयको प्रधान माननेमें क्या आपत्ति ? ॥२०८-२०९॥

> नैवमज्ञाननिर्णाशो ज्ञानेनेति विनिर्णयः।
> कथं समुच्चयस्यात्र प्राधन्यं शक्यवर्णनम् ॥२१०॥
>
> समुच्चयो ह्यदृष्टेन द्वारेण फलकृद् भवेत्।
> उपास्तौ तावदास्तां तन्न तु ज्ञाने तथास्थितिः ॥२११॥
>
> प्रकाशो हरति ध्वान्तं न तु काचसमुच्चयः।
> भवन् भवेत् सहायोऽयं तथा ज्ञानेऽपि निश्चितम् ॥२१२॥
>
> भास्करोऽपि च कर्माणि प्रतिबन्धापनुत्तये।
> मन्यते न तमोहत्यै नापि वस्तुप्रकाशने ॥२१३॥
>
> अविद्यया मृतिं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।
> इत्यत्राप्यमृतप्राप्तौ विद्याप्राधान्यमीक्ष्यते ॥२१४॥

अज्ञानका नाश ज्ञानसे ही होता है। तब समुच्चय प्रधान कैसे होगा ? कर्मोपासनासमुच्चय अदृष्टद्वारा फलदायी होनेसे समुच्चयकी प्रधानता हो सकती है। किन्तु ज्ञानका अज्ञाननाश दृष्टफल है। प्रकाश अंधकारको नष्ट करता है। कांचका समुच्चय प्रकाशको तेज करनेमें सहायक हो सकता है। पर वही समुच्चय अंधकारनाशक नहीं माना जा सकता। भास्करमतमें कर्मसमुच्चय प्रतिबन्धनिरोधार्थक ही हो सकता है। वह न अज्ञाननिवर्तक होगा और न वस्तु (ब्रह्म) प्रकाशक ही होगा।

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इस उत्तरमन्त्रमें भी यही अर्थ स्पष्ट दीखता है ॥२१०-२१४॥

ननुमाध्यन्दिनीयानां विद्यानिन्दा कथं शुभा।
तत्र विद्यापदं ब्रह्मविद्यापरकमिष्यते ॥२१५॥

शंकाः—माध्यन्दिनशाखामें इसी प्रकारके मन्त्रमें विद्यापदका ब्रह्मविद्या अर्थ किया है। वहां प्रधाननिन्दा कैसे शोभास्पद हुई ? ॥२१५॥

सत्यं तेषां कृता निन्दा विद्यामात्ररता हि ये।
नहि तद्व्रतयोऽकर्माणो विद्यामेवाप्यवाप्नुयुः ॥२१६॥

समाधानः—यदि वहां विद्यापदका ब्रह्मविद्या अर्थ है तो ऐसी शंका होना ठीक है। फिर भी वहाँ विद्याकी निन्दा नहीं। किन्तु विद्यामात्रमें जो लगे हुए हैं उनकी निन्दा है। विना कर्म किये, विना अंतःकरणशुद्धि-संपादन किये केवल विद्याके पीछे लगे हुए लोग विद्याको भी प्राप्त नहीं हो पायेंगे। अतः वे निन्द्य तो हैं ही ॥२१६॥

नन्वत्रापि तथैवार्थो भवेत् का नाम नः क्षतिः।
मैवं वो निन्दिता विद्या भवेत् समसमुच्चये ॥॥२१७॥

शंकाः—तो माध्यन्दिनीय जैसे यहां भी अर्थ कर लीजिये। केवल विद्यामें रतोंकी निन्दा यहां भी है ऐसा मान लीजिये।

उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता। आप यहां समसमुच्चय मानते हैं। अतः यहां विद्याकी ही साक्षात् निन्दा होगी। क्योंकि केवल विद्यासे आपके मतमें मोक्ष नहीं होता। (क्रमसमुच्चयमें कर्मके विना केवल श्रवणादिसे विद्या ही नहीं होगी अतः विद्यामार्गनिन्दा उपपन्न है। समसमुच्चयमें कर्म विद्याका कारण नहीं साक्षात् मोक्षका कारण है। उसके विना भी श्रवणादिसे विद्या तो होगी ही। अतएव मार्गनिन्दा कहनेपर भी विद्या-निन्दा अवश्यं भावी है ॥२१७॥

नन्वेमपि विद्येति रूढं ज्ञाने पदं भवेत्।
तस्य लक्षणयोपास्तिपरत्वं भवतो भवेत् ॥२१८॥

विद्यया देवलोक इति पृथक् फलश्रवणात् ।

अतएव "विद्यासे देवलोककी प्राप्ति होती है" यह पृथक् फलश्रुतिकी भी उपपत्ति है। (अन्यथा विद्याका फल मोक्ष प्रसिद्ध होनेसे इस फल श्रुतिकी असंगति स्पष्टतः होती)।

परो विधौ न शब्दार्थं इति न्यायवशादयम् ।
न सुष्ठु घटते तस्मादयुक्त इति चेन्न तत् ॥२१९॥

भास्करः—फिर भी आपको विद्यापदकी उपासनामें लक्षणा करनी ही पड़ेगी। क्योंकि विद्यापद ज्ञानमें रूढ़ है। न्याय है—न विधौ परः शब्दार्थः। अर्थात् विधिमें लाक्षणिक शब्दार्थ नहीं होता। अतः यह अर्थ अयुक्त है। इसका उत्तर सुनिये ॥२१८-२१९॥

लोके विद्यापदं ज्ञाने रूढं यद्यपि विद्यते ।
तथापि वेदे तदिदमुपास्तौ च प्रयुज्यते ॥२२०॥

यद्यपि लोकमें विद्यापद ज्ञान में रूढ़ है। तथापि वेदमें उपासनामें भी विद्यापदका प्रयोग आया है ॥२२०॥

ननु लोके यदर्थः स्याच्छब्दो वेदेऽप्यसौ तथा ।
इत्येवं भाष्यकारेण शबरस्वामिनोदितम् ॥२२१॥

पूर्वपक्षः—भाष्यकार शबरस्वामीने बताया है कि लोकमें जिस अर्थमें शब्दका प्रयोग होता है वेदमें भी उसी अर्थमें समझना चाहिये। तब लोकमें विद्यापद ज्ञानार्थक है तो वेदमें उपासनार्थक कैसे ? ॥२२१॥

सत्यं तत्रैव चाभाषि नियमः सति संभवे ।
असंभवेऽन्यपरता भाष्यकारस्य संमता ॥२२२।

उत्तरः—बात सही है। किन्तु "सति संभवे" इतना वहां जोड़ा है। असंभव हो तो अन्यार्थता भी भाष्यकारको अभीष्ट है ॥२२२॥

विद्यया देवलोकः स्यादित्यन्यत्र समीरितम् ।
तत्रोपास्तिर्हि विद्या स्याद् विशेषफलकीर्तनात् ॥२२३॥

ब्रह्मवित्परमाप्नोति सर्वान् कामांश्च सोऽश्नुते ।
कुतस्तस्य तु वक्तव्यो देवलोकः फलं पृथक् ॥२२४॥

असंभव इसलिये कि अन्यत्र श्रुतिने कहा है—विद्यासे देवलोककी प्राप्ति होती है। यहां विद्याका उपासना ही अर्थ है। अन्यथा विशेष-फलकथन अनुपयुक्त होगा। क्योंकि अन्यत्र श्रुतिमें ब्रह्मवेत्ता परब्रह्मको प्राप्त होता है। सर्व कामनाओंको प्राप्त होता है ऐसा बताया है। सर्वकामप्राप्ति होनेसे पृथक् देवलोकप्राप्तिकथन उपयुक्त नहीं हो सकता ॥२२३-२२४॥

॥ इति द्वितीयप्रकरणसम्बन्धभाष्यवार्तिकम् ॥

—:०:—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥

अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें वे प्रवेश करते हैं जो केवल अविद्या यानी कर्ममें ही लगे रहते हैं। वे उससे भी बढ़कर अंधकारमें पड़ जाते हैं जो केवल उपासनामें लगे रहते हैं ॥९॥

तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया, न निन्दापरैव। एकैकस्य पृथक् फलश्रवणात्—"विद्यया तदारोहन्ति" "विद्यया देवलोकः" "न तत्र दक्षिणा यन्ति" "कर्मणा पितृलोक" इति। न हि शास्त्रविहितं किंचिदकर्तव्यतामियात् ।

उन उपासनारूपी ज्ञान और कर्मकी केवल एक-एकके अनुष्ठानकी जो निन्दा यहां की गयी है वह समुच्चयार्थ है, न कि वस्तुतः निन्दनीयत्व-बोधनार्थ। कारण एक-एकका पृथक्-पृथक् फल श्रुतिमें कहा गया है। जैसे कि—"विद्यासे लोग देवतापदपर आरूढ़ होते हैं" "विद्यासे देवलोककी प्राप्ति होती है" "वहां दक्षिणमार्गी नहीं पहुँच पाते हैं" "कर्मसे पितृलोक प्राप्त होता है" इत्यादि। क्योंकि शास्त्रविहित कार्य कभी अकर्तव्य नहीं हो सकता।

एकैकसमनुष्ठाननिन्देयं कर्मविद्ययोः ।
समुच्चिचीषयाऽन्यार्था न तु निन्दापरैव सा ॥१॥

यहां कर्म और उपासनाकी विना समुच्चय, प्रत्येकानुष्ठानकी निन्दा अन्यार्थक है अर्थात् समुच्चयविधानार्थ है। निन्दामें ही उसका तात्पर्य नहीं है ॥१॥

ननु स्तुत्या विधिरिव प्रतिषेधोऽपि निन्दया ।
कथं न गम्यतां मैवं पृथक्फलसमीरणात् ॥२॥

कर्मणा पितृलोकः स्याद्देवलोकश्च विद्यया ।
इत्येवमुभयोरेव सत्फलं श्रूयते पृथक् ॥३॥

'यः स्तूयते स विधीयते' के अनुसार जिसकी स्तुति की जाती है उसकी विधि मानी जाती है। ठीक उसी प्रकार 'यो निन्द्यते स निषिध्यते' यह नियम भी उचित है अर्थात् जिसकी निन्दा होती है उसका निषेध होता है। अतः यहां केवल कर्म तथा केवल उपासनाके निषेधमें तात्पर्य क्यों नहीं ? इस शंकाका समाधान यह है कि कर्मसे पितृलोककी प्राप्ति होती है उपासनासे देवलोककी प्राप्ति होती है इस प्रकार अलग फल बताया गया है। अतः वह निषेधविषय नहीं हो सकता ॥२-३॥

नन्वेषा प्रतिषेधस्य कल्पनैव निरास्पदा।
अकर्तव्यत्वशङ्केय कथं भाष्कृता कृता ॥४॥

अस्त्यग्निहोत्रं जुहुयादिति प्रात्यक्षिको विधिः।
निषेधकल्पनामेष धुनुयान्नैव संशयः ॥५॥

शंका—निन्दावाक्यसे प्रतिषेधकल्पना कर "अकर्तव्मतामियात्" ऐसी शंका जो भाष्यमें ध्वनित हुई। वह शंका ही निराधार है। क्योंकि "अग्निहोत्रं जुहुयात्" यह प्रत्यक्षविधि है। प्रत्यक्षविधिको अनुमेयनिषेध बाधित नहीं कर सकता। क्योंकि जबतक निन्दासे निषेधानुमान होगा उससे पहले ही प्रत्यक्षविधि अर्थास्तित्व बोधनकर अभावबाध करेगी ॥४-५॥

मैवं निन्दापरत्वं स्यात् प्रकृतायाः श्रुतेर्यदि।
प्रत्यक्षविधिरप्युक्तो विध्याभासो भवेत्तदा ॥६॥

स्याज्जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयादिति वेदगीः।
विध्याभासोऽनाहुतयो जर्तिला इति निन्दया ॥७॥

जुहोति पयसेत्येवं विध्यर्था यदि सोच्यते।
समुच्चयविधानार्थमिहापीति समं तदा ॥८॥

उत्तरः—यदि "अन्धं तमः" इत्यादि श्रुति सचमुच निन्दापरक होगी तो "अग्निहोत्रं जुहोति" यह प्रत्यक्षविधि भी विध्याभास हो जायेगा। जैसे "अनाहुतयो वै जर्तिलाः" इस निन्दासे कारण "जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्" यह प्रत्यक्षविधि भी विध्याभास हो गया। यदि कहें कि "पयसा जुहोति" इस विधिके लिये "अनाहुतयो वै" यह निन्दा है तो प्रकृतमें भी अन्धं तमः" यह निन्दा समुच्चयविधानार्थ है यह तुल्य है ॥६-८॥

कथं तर्ह्यत्र वार्या स्यात्तद्विध्याभासतेति चेत् ।
पृथक् फलश्रुतेरेव न तु सा र्जतिलश्रुतौ ॥९॥

यदि दोनोंकी समानता है तो र्जतिलविधिके समान ही अग्निहोत्र-विधि भी विध्याभास क्यों नहीं होता इस शंकाका समाधान यही है कि अग्निहोत्र श्रुतिमें पृथक् फलश्रुति है। र्जतिलविधिस्थलमें पृथक् फलश्रुति नहीं है ॥९॥

नन्वग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति स्फुटम् ।
अधिकारविधावेव श्रूयते कर्मणः फलम् ॥१०॥

तत्राऽकर्तव्यताशङ्का कथंकारं समुत्थिता ।
न र्जतिलाधिकारेऽस्ति फलं प्रत्यक्षतः श्रुतम् ॥११॥

शंकाः—"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस अधिकारविधिमें ही स्वर्गफलकथन किया है। तब उसमें अकर्तव्यताकी शंका कैसे उठी? "र्जतिलयवाग्वा वा जुहुयात्" इसमें फलकथन नहीं है। विधि होनेसे फल केवल कल्प्य होगा अतः वह उदाहरण संगत नहीं है ॥१०-११॥

नैवं नित्याग्निहोत्रादिकर्मैवात्राभिधीयते ।
जीवनैकर्मिनिमित्तत्वात्तथा चोक्तं जिजीविषेत् ॥१२॥

उत्तरः—यहां समुच्चयविचारमें काम्याग्निहोत्रादिको लेकर विचार नहीं है। किन्तु नित्य अग्निहोत्रादिको लेकर ही विचार है। जीवनादि-मात्र जिसमें निमित्त हो वह नित्य है। यही बात "जिजीविषेत्"से द्वितीयमन्त्रमें बताया ॥१२॥

ननु चाज्ञत्वकामित्वे कर्मनिष्ठस्य निश्चिते ।
महताडम्बरेणैतत्संप्रत्येव निरूपितम् ॥१३॥

शंकाः—लेकिन अभी-अभी बड़े आडम्बरके साथ भाष्यकारने कर्म-निष्ठको अज्ञ तथा कामी (सप्तान्नसर्गादिकथन द्वारा) सिद्ध किया। तब विचार काम्यकर्मका हुआ। नित्यकर्मका कहां विचार सिद्ध होता है ॥१३॥

सत्यं निरूपितं किन्तु स्वर्गकामश्रुतौ श्रुतम् ।
कुतो हि युक्तिनिवहैर्निरूपणमपेक्षते ॥१४॥

नित्यादिष्वश्रुतत्वेन कामनाया निरूपणम् ।
अपेक्षितमतोऽप्येव नित्यकर्मैव लभ्यते ॥१५॥

कर्मनिष्ठको अज्ञ तथा कामी सिद्ध किया भाष्यकारने, सही है, किन्तु "स्वर्गकामो यजेत" यहां श्रुतिमें कामना बतायी है तो उसे युक्तियों-से सिद्ध करनेकी जरूरत क्या थी ? बल्कि यह आपका पूर्वपक्ष ही सिद्धान्त को सिद्ध करता है। नित्यकर्मोंमें फलकामना अश्रुत है। अतः अश्रुत कामनाको सिद्ध करना हो तो प्रयत्न करना ही पड़ेगा। उस प्रयत्नसे ही सिद्ध होता है कि अश्रुत कामनावाले नित्यकर्मादिका ही यहां विचार है ॥१४-१५॥

नन्वत्र नित्यकर्मैव यदि वक्षि विवक्षितम् ।
कथं तस्य फलं तावत् पितृलोकोऽभिधीयते ॥१६॥

अत्र ब्रूमः फलं नित्यकर्मणामपि मन्महे ।
नित्यत्वं तु यतः कामो नाधिकारिविशेषणम् ॥१७॥

परन्तु यदि यहां नित्यकर्म ही विवक्षित हो तो पितृलोकफलकथन कैसे हो ? नित्यका फल नहीं होता इस शंकाका समाधान यह है कि हम नित्यकर्मोंका भी फल मानते हैं। तब नित्यकर्म कैसे ? यह प्रश्न होगा। उत्तर है—"स्वर्गकामः" इत्यादि रीति यहां अधिकारिविशेषण नहीं है। अतः नित्य कहते हैं ॥१६-१७॥

ननु कामोऽपि मन्तव्यमधिकारिविशेषणम् ।
यतोऽन्यस्य हि संन्यासनिष्ठाधिकृतिमब्रवीत् ॥१८॥

शंकाः—अधिकारिविशेषणके रूपमें कामना तो आपके मतमें होना चाहिये। कामना न हो तो संन्यासनिष्ठामें अधिकार है ऐसा पहले सिद्ध किया है ॥१८॥

सत्यं जायादिविषयामेषणां मन्महे तथा ।
न पुनः स्वर्गकामादिमधिकारश्रुतिश्रुतम् ॥१९॥

उत्तरः—यह भी बात सत्य है। किन्तु कौनसा काम विशेषण है ? वित्तैषणा जायैषणा आदि कर्माधिकारिविशेषण है जो युक्तितः प्राप्त है। न कि स्वर्गकामना आदि श्रुतिकथित कामना नित्यकर्मके लिये अधिकारि विशेषण है ॥१९॥

स्वर्गेच्छादिः श्रुतः काम्ये ह्यधिकारिविशेषणम् ।
नित्यादिकर्मसामान्ये काममात्रं विशेषणम् ॥२०॥

काम्यकर्ममें स्वर्गकामनादि विशेषरूपेण अधिकारी का विशेषण है। नित्यादि कर्मसामान्यमें कामनामात्र अधिकारिविशेषण है ॥२०॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रायश्चित्तं च दर्शितम्।
प्राक् संप्रति तु नित्यादिमात्रं कस्मान्निगद्यते ॥२१॥

युक्तं च तद् यतो द्वौ हि धर्मौ वेदोदितौ मतौ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तयोरेवात्र वर्णनम् ॥२२॥

तत्र काम्यं कथंकारं व्याख्यायां परिवर्ज्यते।
तद्धि संसारफलकं कुतस्त्यक्तव्यमेव च ॥२३॥

पूर्वपक्षः—पहले "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" में चार प्रकारके कर्म बताये—नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त। परन्तु यहाँपर व्याख्या करते समय "कथमकर्तव्यतामियात्" इस भाष्यपंक्तिकी रक्षा के लिये नित्यादि-मात्र कैसे ले रहे हैं? उचित भी है चारोंका ग्रहण। क्योंकि वेदोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो धर्मोंका वर्णन है। उन्हीं दो वेदार्थोंका यहाँपर निरूपण है। काम्यकर्म भी प्रवृत्तिके अन्तर्गत ही है। कर्मका फल संसार और ज्ञानका उससे विरुद्ध मोक्षफल आदि कहनेसे काम्यकर्मका ग्रहण नितरां होना चाहिये था। उसका वर्णन यहाँ क्यों छोड़ देते हैं?

अत्र ब्रूमः सर्वमेव यद्यप्याम्नायचोदितम्।
गृह्यतेऽत्र तथाप्येतन्न समुच्चयमध्यगम् ॥२४॥

स्वर्गादिविनियुक्तस्य न पृथक् चोदनां विना।
अन्यत्र विनियोगो हि कल्प्यते कर्मणोऽञ्जसा ॥२५॥

काम्यानां कथमानन्त्यात्स्याच्चाशेषसमुच्चयः।
किंचित्समुच्चयार्थत्वेऽनियमश्च प्रसज्यते ॥२६॥

उत्तरः—यद्यपि वेदोक्त सभी कर्म प्रवृत्तिरूपमें यहाँ ग्राह्य हैं। तथापि समुच्चयविधिमें काम्यकर्म प्रविष्ट नहीं होता। स्वर्गादिविशेषफलार्थविनियुक्त ज्योतिष्टोमादिका विशेषविधिके विना अन्यत्र विनियोग सरलतासे संभव नहीं है। निराकांक्ष ज्योतिष्टोमादिके लिये विशेषविधि आवश्यक होगी। क्योंकि विशेषविनियोगरहित नित्यादि कर्मसे समुच्चयविधिकी गतार्थता होनेसे अन्यत्र अवरुद्ध काम्यकर्मतक उसकी गति ही नहीं रहेगी। दूसरी बात—काम्यकर्म अनन्त हैं उन सबका समुच्चय असम्भव है। किंचित्काम्य

कर्मसमुच्चय हो तो कौन-कौन काम्यकर्म समुच्चेय है इसमें विनिगमना नहीं होगी। उस संशयपतित कर्मनिर्णय होनेसे पूर्व ही अनवरुद्ध नित्यादि कर्मों से आकाङ्क्षापूर्ति होगी ॥२४-२६

निषेकादिश्मशानान्तं कुर्वन्नेव जीजीविषेत्।
एवकरेण नियतकर्तव्यं कर्म लभ्यते ॥२७॥

काम्यं कुर्यान्न वा कुर्यात्तद्धि कामनिमित्तकम्।
ततश्चानियतं नेव पूर्वमप्याप्यतेऽञ्जसा ॥२८॥

बल्कि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" में भी काम्यकर्मका ग्रहण बराबर नहीं हो पाता। क्योंकि कुर्वन्नेव इस एवकारसे नियत कर्तव्यकर्मकी प्रतीति होती है। काम्यकर्म कामनानिमित्तक है, करे या न करे तो भी चलेगा। उसमें "कुर्वन्नेव" यह नियम जोड़ा नहीं जा सकता ॥२७-२८॥

ननु चात्र श्रुतिर्देवी सर्वलोकहितैषिणी।
वेदोक्तकर्मसांतत्यं विधत्ते श्रेयसे नृणाम् ॥२९॥

नित्यं वा काम्यमेवाहो यत्किंचित्कर्म सन्ततम्।
कर्तव्यमेव मनुजैरित्याहाशून्यताकृते ॥३०॥

न च नित्यविकल्पः स्यादेवं चेदिति सांप्रतम्।
पृथङ्नित्यविधानेन तद्विकल्पाप्रसक्तितः ॥३१॥

नित्यादिशेषकालो मा शून्यो भूदिति हि श्रुतिः।
विकल्प्य काम्यकर्माणि विधत्त इति चेन्न तत् ॥३२॥

पूर्वपक्षः—"कुर्वन्नेव" यह सकललोकहितैषिणी श्रुति वेदोक्त कर्मसांतत्यका विधान करती है। नित्य काम्य कोई भी कर्म निरन्तर करते रहो जिससे तुम्हारा समय शून्य न निकले। यह शंका करें कि फिर इस प्रकार नित्यकर्मका भी विकल्प होने लनेगा तो जवाब है—"अहरहः संध्यामुपासीत" इत्यादिसे ही उनकी नित्यकर्तव्यता प्राप्त है। हां नित्यादि कर्मसे बचे हुए समयको अशून्य करनेके लिये विकल्पेन काम्यकर्मोंको करो यही श्रुतिका तात्पर्यार्थ है। इसका उत्तर सुनिये ॥२९-३२॥

सांतत्यं न विधेयं स्यात्कालो ह्यविधिगोचरः।
कर्म तद्युक् तत्फलं वाऽजामिवद् दुःशकं नृभिः ॥३३॥

तदाऽऽहारविहारादि परित्याज्यं भविष्यति।
नैव निद्रा न विश्रामः कर्मसांतत्यहानितः ॥३४॥

उत्तरः—कर्मसांतत्य एक तो विधेय नहीं होता। क्योंकि सांतत्य काल है। और काल विधिविषय नहीं होता। काल को विधिविषय माना भी जाय, या संतत कर्म विधेय हो या अजामिताके समान सांतत्यके प्रयोजक कर्म विधेय माने जायं तो भी सम्भव नहीं। कारण मनुष्यके लिये यह शक्य नहीं है। ऐसे फिर निरन्तर कर्म ही हो एतदर्थं आहारविहार भी छोड़ना पड़ेगा। नींद त्यागना होगा और विश्राम कभी भी लेना नहीं होगा ॥३३-३४॥

तस्मादज्ञं पुरस्कृत्य कुर्वन्नेवेति वेदगीः।
नित्यादीनि न कर्माणि संन्यस्येदिति भाष्यते ॥३५॥

अतः "कुर्वन्नेव" यह श्रुति अज्ञानीको लक्ष्यकर नित्यादिकर्मसंन्यास न करो यही कहती है ॥३५॥

नन्वेषां नित्यकार्यत्वात् स्वत एव समुच्चयः।
भवेत् कस्माद्विधीयेत प्राप्त एव समुच्चयः ॥३६॥

पूर्वपक्षः—नित्यादि कर्म तो यूं भी अवश्यकर्तव्य है अतएव स्वतः समुच्चय होगा। समुच्चयविधानकी क्या आवश्यकता ? ॥३६॥

न चोपास्तिनं नित्येति दुर्लभस्तत्समुच्चयः।
न नित्यं तद्विधिर्युक्तोऽनित्यत्वादिति सांप्रतम् ॥३७॥

यदि कहें कि संध्यादि नित्य है, किन्तु उपासना नित्य नहीं है, अतः स्वतः समुच्चय कैसे हो ? उपासनाको भी नित्यविधि कर दी जाय, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उपासना नित्य है ही नहीं, वह नित्यकर्मके बराबर नहीं कही जा सकती ॥३७॥

उपास्तेरेव तर्ह्यस्तु समुच्चयविधिस्तथा।
तथैव सिद्धेरुभयसमुच्चयविधिः कुतः ॥३८॥

तो भी उपासनासमुच्चयका ही विधान किया जाय। उभयसमुच्चय-विधान किस लिये ? ॥३८॥

नैवं दध्नेन्द्रियेच्छोर्हि जुहुयादिति यत् पृथक्।
अपेक्षितो विधिरिह विशेषफलहेतवे ॥३९॥

उत्तरः—"दध्ना जुहोति" ऐसी विधि होनेपर इन्द्रियकामके लिए पृथक विधि जैसे अपेक्षित है, अतएव "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्" इस वाक्यकी भी सार्थकता है, वैसे विशेष फलके लिये उभयसमुच्चयविधान भी आवश्यक है ॥३९॥

यत्त्वत्र भेदिभिः प्रोक्तमीशवास्यमितीरिता ।
योपासना यच्च कर्म कुर्वन्नेवेति दर्शितम् ॥४०॥

तयोः समुच्चयं संप्रत्यन्धं तम इति श्रुतिः ।
विधत्त इति तन्नैव युक्तमर्थविपर्ययात् ॥४१॥

यहांपर द्वैतवादियोंकी व्याख्या ऐसी है कि "इशावास्यं" में बतायी हुई उपासना और "कुर्वन्नेवेह" में बताये हुए कर्मके समुच्चयका "अन्धं तमः" इत्यादिसे विधान है। यह व्याख्या असमीचीन है। कारण "ईशा-वास्यं" में उपासनाविधान है ही नहीं यह हमने बताया है ॥४०-४१॥

उपास्तिकर्मणोरत्र स्वरूपानभिधानतः ।
अन्यत्रोक्ते परिग्राह्ये वृथारम्भे तदीरणम् ॥४२॥

यहां उपासना और कर्मका स्वरूप तो बताया नहीं है। अतः अन्यत्र कथित उपासना और कर्मका ग्रहण करना पड़ेगा। तब प्रारम्भमें "ईशा-वास्यं" इसप्रकार अनुवाद किसलिये है ? पृथक् अनुवाद व्यर्थ होगा ॥४२॥

एकप्रकरणस्थत्वात् समुच्चयविधिर्भवेत् ।
आरम्भे तत्फलविधिरुदितो ह्यधुनेति चेत् ॥४३॥

पूर्वपक्षः—"इशावास्यं" "कुर्वन्नेव" यह अनुवाद नहीं किन्तु समुच्चय-विधि है। एक प्रकरणस्थ होनेसे समुच्चय सिद्ध होता है। यह उत्पत्तिविधि है। "अन्धं तमः" इत्यादि में फलविधि है। अतः उक्त दोष नहीं ॥४३॥

एकप्रकरणस्थानामङ्गाङ्गित्वं विलोकितम् ।
कथं समुच्चयो लभ्यस्तद्विधिश्रुतिमन्तरा ॥४४॥

समाधानः—एकप्रकारणस्थोंका अङ्गाङ्गिभाव देखने में आया है। तब समुच्चयविधि श्रुतिके विना कैसे हो ? समुच्चयश्रुति चकारादि वहां है नहीं ॥४४॥

अन्यदेवाहुरित्यादि पृथक् फलसमीरणात् ।
नाङ्गाङ्गिभाव इति चेन्नैवं नोपक्रमे हि तत् ॥४५॥

"अन्यदेवाहुर्विद्यया" इत्यादिसे पृथक् पृथक फलकथन होनेसे अंगांगिभाव नहीं होगा ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि यह उपक्रममें नहीं है ॥४५॥

फलं स्यान्ननु भुञ्जीथा कः शोक इति चोदितम्।
उपास्तेः कर्मणश्चैव कर्माऽलेपस्तथेति चेत् ॥४६॥

पूर्वपक्षः—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" से या "को मोहः कः शोकः" से कथित उपासना का फल होगा। कर्मका फल "न कर्म लिप्यते" यही होगा ॥४६॥

न कर्म लिप्यत इति फलाभाव उदीर्यते।
कथं तस्य फलत्वं स्यान्निष्कामं तत्त्वयेष्यते ॥४७॥

सत्कर्मभिरसत्कर्मलेपाभावः स्वयं भवेत्।
कुतस्तदपि वक्तव्यं प्रत्यक्षत्वात्फलस्य च ॥४८॥

दुःखध्वंसफले वाच्ये नान्यथेतोऽस्ति योजयन्।
अलेपं यज्जगौ मन्त्रस्तेन द्वारं हि सूच्यते ॥४९॥

दुष्कर्मलेपरहिता विद्या शोकादिहारिणी।
इत्यङ्गत्वं बलादेव कर्मणः स्यात्तदा तव ॥५०॥

दूसरी बात "न कर्म लिप्यते" का अर्थ 'कर्मफल नहीं होगा', यही होगा। क्योंकि कर्म क्षणध्वंसी है। तब फलाभाव फल कैसा ? आपके मतमें निष्कामकर्म कथित होनेसे नितरां फल सिद्ध नहीं होगा और "अन्धं तमः" इत्यादि में तो सकामता एवं फलवत्ता कही जा रही है। यदि यह अर्थ मानते हैं कि सत्कर्मोंसे अशुभकर्मलेप नहीं होगा, तो वह स्वतः सिद्ध है। वह कोई फल नहीं है। तीसरी बात—दुःखनाश कर्मफल कहना चाहिए था। सत्कर्मका वही फल है। तिसपर "एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति" जो व्यक्ति कर्मलेपध्वंसको ही किसी कारणवश ढूंढ रहा है उसके लिए कहा जा रहा है—अन्य मार्ग नहीं है। अर्थात् वह दुःखनाशकी ओर नहीं झांक रहा है। किसी अन्य कार्यमें कर्मलेप प्रतिबन्ध हो रहा है उस प्रतिबन्धका नाश चाह रहा है। उसके प्रति कहा जा रहा है कर्म करो अन्य उपाय नहीं है। सांनिध्यात् उपासनाफलमें हो दुष्कर्मलेप प्रतिबन्ध होगा। यह लोकप्रसिद्ध भी है कि पापीको उपासनाफल नहीं मिलता तब बलात् ईशावास्यं इस उपासनाका ही अङ्ग कर्म सिद्ध होगा ॥४७-५०॥

तत्रः—अन्धं तमः—अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति । के ?

कर्म एवं उपासनाके अनुष्ठाताओंमें वे अन्ध अर्थात् अज्ञानरूप तममें प्रवेश करते हैं। कौन ?

भिद्येतातः प्रकरणं बलादेव नः संशयः ।
प्रत्यभिज्ञापि नात्रास्ति संभूतेः पृथगीरणात् ॥५१॥

तब "ईशावास्यं" इत्यादि और "अन्धं तमः" इत्यादि दो प्रकरण स्पष्ट भिन्न सिद्ध होंगे। पूर्वमें कर्म शब्द है। यहां अविद्या शब्द है कोई प्रत्यभिज्ञा भी नहीं है। प्रत्युत "सम्भूतिं च विनाशं च" इसे आप पृथक् प्रकरण मान ही रहे हैं। उसके अत्यन्त सदृश होनेसे यह भी प्रकरणान्तर ही है ॥५१॥

माध्यन्दिनीयैः संभूतिः प्रागेव परिपठ्यते ।
तदेकार्थ्यैषिणिश्चैकं कथं प्रकरणं तव ॥५२॥

दूसरी बात—माध्यन्दिनीय शाखामें संभूत्युपासनाको पहले पढ़ लिया और बादमें विद्याविद्योपासनाको। उसके साथ एकर्थकता माननेवाले तुम्हारे मतमें प्रकरणान्तरसे विच्छिन्न होनेसे "ईशावास्यं" और "विद्यां चाविद्यां च" की एकप्रकरणता किस प्रकार ? ॥५२॥

तस्माद्भिन्नं प्रकरणं पूर्वं ज्ञानमुदीरितम् ।
इह विद्येत्युपास्तिः स्यादिति सर्वं समञ्जसम् ॥५३॥

इसलिये "ईशावास्यं"से "अन्धं तमः" इत्यादि प्रकरण भिन्न ही है। प्रथम ज्ञान बताया। यहां विद्यापदसे उपासना। इस प्रकार सभी उपपन्न हुआ ॥५३॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति

प्रविशन्ति तमोऽन्धं ते यत्किलाऽदर्शनात्मकम् ।
आत्माऽस्फुरणमज्ञानं तम इत्यभिधीयते ॥५४॥

वे अन्धतममें प्रवेश करते हैं (कौन ? यह आगे कहेंगे) अन्ध अर्थात् अदर्शनात्मक। आत्माका स्फुरण जिससे न हो उस अज्ञानको तम कहते हैं ॥५४॥

या त्वात्माकारिणी वृत्तिस्तत्त्वमस्यादिवाक्यजा ।
साक्षात्त्वाद्विषयस्यैषा दर्शनं प्रोच्यते बुधैः ॥५५॥

तदापि विद्यतेऽज्ञानं पुरुषागोनिबन्धनम् ।
दर्शनात्मकमेतत्स्यादन्धं तद्भिन्नमुच्यते ॥५६॥

भाष्यमें अदर्शनात्मकं तमः ऐसी व्याख्या की है। तो क्या कोई दर्शनात्मक भी तम है ? अवश्य है। तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे जो वृत्ति होती है वह दर्शन है। क्योंकि विषय ब्रह्म अपरोक्षरूप है। हाँ, पुरुषापराधके कारण वह परोक्षवत् होता है। अर्थात् अज्ञान भी उस समय रहता है। उस अज्ञानको दर्शनात्मक अज्ञान कह सकते हैं। तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य वृत्ति न हो तो अदर्शनात्मक अन्ध तम=अज्ञान है ॥५५-५६॥

नन्वग्रेऽन्धं तम इति वक्ष्यते प्रकृतौ लयः ।
स एव कस्मान्नात्रोक्तो नैवमन्यफलोक्तितः ॥५७॥

पितृलोकपरिप्राप्तिः कर्मणो वक्ष्यते फलम् ।
न प्रधानलयार्थत्वं व्याख्यातुं शक्यते ततः ॥५८॥

यद्यपि संभूतिकी व्याख्यामें "अन्धंतमः"का प्रकृतिलय अर्थ कहना है। तथापि यहां वही अर्थ नहीं है। क्योंकि "कर्मणा पितृलोकः" ऐसा बृहदारण्यकमें पितृलोकप्राप्ति फल बताना है ॥५७-५८॥

नन्वदर्शनरूपं तु समुच्चयकृतामपि ।
तमोऽस्ति तेन निन्दाऽत्र कथमेवागम्यते ॥५९॥

पूर्वपक्षः—प्रत्येक निन्दाके बाद समुच्चयविधान करेंगे। किन्तु समुच्चयकारीको तत्त्वज्ञान नहीं होता। तब अदर्शनात्मक तम उसका भी रह गया तो "अन्धं तमः" यह असमुच्चयकारीकी निन्दा कैसे ? ॥५९॥

मेवं, देवात्मभावोऽस्या उपास्तेर्वक्ष्यते फलम् ।
सोऽहमस्मीति तत्रास्ति भावना बोध एव च ॥६०॥

उत्तरः—कर्मसमुच्चित उपासनाका देवात्मभाव फल बतायेंगे । वहां "सोऽहमस्मि" ऐसी भावना भी है, बोध भी है ॥६०॥

न चैवं तस्य संसारगतित्वं वक्ष्यते कथम् ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानविरहादिति गृह्यताम् ॥६१॥

पूर्वपक्षः —यदि समुच्चयसे सोऽहं ऐसा ज्ञान होता है तो उसे संसार-गति क्यों कहा ? उत्तरः—देवात्मभाव होनेपर भी ब्रह्मात्मभाव नहीं हुआ इसलिये, ऐसा समझिये ॥६१॥

तर्ह्यदर्शनरूपं न समुच्चेतुः कथं तमः ।
पशुत्वविरहादेव पशुत्वमितरस्य तु ॥६२॥

अन्योऽसावन्य एवाहमिति यो वेद कर्मकृत् ।
पशुरेव स देवानामन्धं तस्य तमो मतम् ॥६३॥

देवोऽहमिति यो वेत्ति स किंचिद्व्यापकात्मधीः ।
अतो नान्धं तमस्तस्य किंचिद्दर्शनसत्त्वतः ॥६४॥

पूर्णब्रह्मात्मभावोऽस्य नैवास्तीत्यत एव हि ।
भाष्यादौ तस्य संसारगतित्वमुपवर्णितम् ॥६५॥

यदि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान नहीं है तो समुच्चयकारीका भी अंध तम क्यों नहीं ? इस पूर्वपक्षका समाधान यही है कि देवात्मभाव होनेपर पशु-भाव नहीं रहता । अतः अन्ध तम माना नहीं । केवल कर्म करनेवाले में पशुभाव रहता है । देव अन्य है, मैं अन्य हूँ ऐसा जाननेवाला कर्मी देवों-का पशु होता है ऐसा बृहदारण्यकमें कहा है । अतः यहां इसप्रकार विवे-चना समझिये कि "देवोऽहं" "आदित्यपुरुषोऽहं" इत्यादि भावमें कुछ व्यापकात्मभाव आ जाता है अतः वहां अन्ध तम नहीं है । पूर्णात्मभाव न होनेसे उसे भाष्यादिमें संसारगति भी बताया ॥६२-६५॥

केवलायां तु विद्यायां नैव देवात्मभावना ।
ततस्तस्याप्यन्धमेव तमस्तच्च प्रवक्ष्यते ॥६६॥

हां, केवल उपासना (असमुच्चित उपासना) में भी देवात्मभावना नहीं है अतः अन्ध तम है यह आगे कहेंगे ॥६६॥

येऽविद्यां—विद्याया अन्या तां कर्मेत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, तामविद्याम् अग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते—तत्परास्सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः ।

जो अविद्याकी उपासना करते हैं। अविद्या माने कर्म, वह विद्यासे अन्य एवं विद्याविरोधी होनेसे अविद्या कहलाया। उप अग्निहोत्रादिरूप केवल अविद्याका ही तत्परतासे जो अनुष्ठान करते हैं ऐसा यहां अर्थ है।

येऽविद्यामुपासते

के ते तमःप्रवेष्टारः येऽविद्यां समुपासते ।
अग्निहोत्रादि कर्माऽत्राऽविद्याशब्देन भाष्यते ॥६७॥

अन्ध तममें कौन प्रवेश करते हैं ? जो केवल अविद्याके उपासक हैं। अग्निहोत्रादि कर्म ही यहाँ अविद्याशब्दका अर्थ है ॥६७॥

नन्वज्ञानमविद्या स्यात् कर्माविद्या कथं भवेत् ।
मैवं समुच्चयविधिर्नैवाज्ञानस्य संभवेत् ॥६८॥

अविद्याका अर्थ अज्ञान होता है। कर्म उसका अर्थ कैसे ? सुनिये। अज्ञानका समुच्चयविधान असम्भव है ॥६८॥

व्याख्यातारोऽत्र सर्वेऽपि कर्मार्थत्वमतोऽब्रुवन् ।

इसीलिये सभी व्याख्याकारोंने अविद्याका कर्म ही अर्थ माना ॥

तत्र कर्मपदं त्यक्त्वाऽविद्यां कस्माज्जगौ श्रुतिः ॥६९॥
न ह्यविद्यापदं रूढं लोके वेदे च कर्मणि ।
उच्यते कर्मसम्बद्धं सर्वमाविद्यिकं मतम् ॥७०॥

पूर्वपक्षः—तब कर्मपदको छोड़कर श्रुतिने अविद्या क्यों कहा ? लोकमें या वेदमें कहीं भी अविद्यापद कर्मार्थमें रूढ़रूपसे प्रयुक्त नहीं हुआ है ॥६९॥

कर्तृत्वं कर्म भोक्तृत्वं फलमित्यादि सर्वशः ।
अविद्यामयमेवेति स्पष्टं श्रुत्याऽत्र सूच्यते ॥७१॥

समाधानः—कर्मसे सम्बन्धित कर्तृत्व, कर्म, भोक्तृत्व, फल आदि सभी अविद्यामय है। यही सूचित करनेके लिये श्रुतिने !अविद्यापदसे कर्मको कहा ॥७०-७१॥

विद्याविरोधिताहेतोरविद्या कर्म भण्यते ।
तथा सति कथं विद्योद्भाव्यमोक्षोऽस्तु कर्मजः ॥७२॥

ज्ञाने सति न कर्मास्ति ज्ञानं न सति कर्मणि ।
तथा चोभयजन्यत्वं मुक्तेः संभाव्यतां कथम् ॥७३॥

विद्याविरोधि होनेसे कर्म अविद्या कहलाया। तव विद्यासे प्राप्य मोक्ष कर्मजन्य कैसे होगा ? ज्ञान होनेपर कर्तृत्वादियुक्त कर्म नहीं। वैसे कर्मके रहनेपर ज्ञान नहीं। तव ज्ञानकर्म उभयजन्य मोक्ष है ऐसा कहना कहांतक उचित है ? ॥७२-७३॥

ज्ञानकर्मयुतां भक्तिं व्याचख्युर्मोक्षकारणम् ।
विशिष्टाद्वैतिनस्तत्तु श्रुत्यभिप्रायदूरगम् ॥७४॥

भास्कराद्युदितं चात्मविद्याकर्मसमुच्चयम् ।
अत्राविद्यापदेनैव श्रुतिर्मथ्नाति निर्भया ॥७५॥

विशिष्टाद्वैती ज्ञानकर्मसहित भक्तिको मोक्षकारण मानते हैं। वे तो श्रुतिके अभिप्रायसे कोसों दूर हैं। भास्करादिने ज्ञानकर्मसमुच्चयको मोक्षकारण वताया। सवको यहां अविद्यापदसे ही निर्भय श्रुतिने पीस डाला है ॥७४-७५॥

अविद्येतिपदेनैव ह्यप्रशस्तत्वशंसनात् ।
कर्मश्रद्धां विधूनाति स्वानुगानां श्रुतिः स्वयम् ॥७६॥

कर्म शव्द छोड़कर अविद्याशव्द वोलनेसे कर्म अप्रशस्त है यह भी सूचित है। इस प्रकार श्रुति अपने अनुयायियोंमें जो कर्मश्रद्धा है उसे भी चकनाचूर कर रही है ॥७६॥

मोक्षदं यदि कर्म स्यात्तदतिश्रेष्ठं भवेद् भुवि ।
तदविद्येतिशव्देन निकृष्टेनोच्यते कुतः ॥७७॥

न हि सर्वर्द्धिदो राजा मूर्खशब्देन भण्यते ।
नूनमृद्धिग्रहीताऽसौ कृतघ्नस्तं तथा भणन् ॥७८॥

वानरः खलु हुंकुर्यात् पिण्डदं मोक्षदं तथा।
किन्ववि‍द्यां समाख्याप्य शिष्यान् वानरयेच्छ्रुतिः ॥७९॥

यदि कर्म मोक्षदायी हो तो संसारमें अतिश्रेष्ठ माना जाता। तब उसके लिये अविद्या जैसे निकृष्ट शब्दका प्रयोग क्यों होता? सर्वसमृद्धि देनेवाले किसी राजाको क्या मूर्खशब्दसे पुकारा जायेगा? समृद्धि ग्रहणकर फिर राजाको मूर्ख कहनेवाला कृतघ्न नहीं माना जायेगा? बन्दरका स्वभाव है कि जो खाना दे उसीको घुड़की दिखावे। क्या इसीप्रकार मोक्षदायी कर्मको अविद्या कहलवाकर श्रुति शिष्योंको बन्दर बना रही है?॥७७-७९॥

अस्या स्वारस्यतः श्रुत्या भगवत्पादबोधितम्।
द्वैताऽसत्यत्वमेवेष्टमिति निश्चीयते श्रुतेः ॥८०॥

इसी श्रुतिके स्वारस्यसे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यप्रतिपादित द्वैतमिथ्यात्व ही श्रुतिको अभीष्ट है यह निश्चित होता है॥८०॥

तथा ह्ययविद्याकार्यत्वादविद्या कर्म गद्यते।
विद्याविरोधिताप्यस्य ह्यविद्याकार्यतावशात् ॥८१॥

विद्यया नाशितायां चाऽविद्यायां नैव कर्तृता।
न भोक्तृता नापि कर्म तस्माद्विद्याविरोधि तत् ॥८२॥

कर्मजन्यश्च सकलः संसार इति निश्चितम्।
विद्याविरोधी सोऽप्येत्र विद्यानाश्योऽनृतः स्फुटम् ॥८३॥

इसी बातको कुछ स्पष्टताके साथ देखिये—अविद्याका कार्य होनेसे कर्म अविद्या कहलाता है। विद्याविरोधी भी अविद्याकार्य होने ही से बताया गया है। विद्यासे अविद्या नष्ट होती है तो न कर्तृत्व रह जाता है और न भोक्तृत्व। तथा न कर्म ही रह जाता है। यही तो विद्याविरोधी है। अतः कर्म अविद्याजन्य सिद्ध हुआ। तब कर्मजन्य संसार भी तो विद्याविरोधी सिद्ध होगा। अर्थात् विद्यानाश्य होगा। तब मिथ्यात्व भी संसारका स्पष्ट होता है। विद्याबाध्यत्व ही मिथ्यात्वका स्वरूप है॥८१-८३॥

ननूपास्तिः कथं विद्या सापि विद्याविरोधिनी।
मानसं कर्म तत् कर्तृभोक्तृभावादिसंयुतम् ॥८४॥

सत्यं विद्येति तूपास्तिप्रशस्त्यर्थमुदीरितम् ।
राजा संवृत्त इत्याह संपदाढ्यं पुरोहितं ॥८५॥

पूर्वपक्षः—विद्याविरोधी होनेसे कर्मको अविद्या कहा तो उपासना भी तो विद्याविरोधी है। वह भी मानस कर्म है, कर्तृभोक्तृभावादिसे युक्त है। समाधानः—बात ठीक है। किन्तु उपासनाकी प्रशंसाके लिये विद्या-शब्दका प्रयोग है। जैसे अधिक सम्पत्ति होनेपर पुरोहितको यह राजा बन गया ऐसा कहा जाता है ॥८४-८५॥

निर्गुणोपासना साक्षात्कारिधीजननी भवेत् ।
विद्यासामीप्यतस्तां च विद्येति विनिगद्यते॥८६॥

उपासनात्वसामान्यादन्याश्चैवमुपास्तयः ।
विद्येति विनिगद्यन्ते न पुनर्वस्तुतस्तथा ॥८७॥

निर्गुणोपासना साक्षात्कारात्मक ब्रह्मज्ञानकी जननी होनेसे उसे विद्या कह देते हैं। फिर उपासना-सामान्यको ही विद्या कहने लगते हैं। वस्तुतः उपासना विद्या नहीं है ॥८६-८७॥

ननु कर्मापि निष्कामं साक्षात्कारप्रयोजकम् ।
विद्यासामीप्यतस्तच्च विद्येति विनिगद्यताम् ॥८८॥

तथा कर्मत्वसामान्यात्कर्माण्यन्यानि यानि च ।
विद्येति विनिगद्यन्तां तान्यप्येव तथेति चेत् ॥८९॥

पूर्वपक्षः—निष्कामकर्म भी साक्षात्कारप्रयोजक होनेसे विद्यासमीप है उसे भी विद्या क्यों न कहा जाय। फिर कर्मत्वसामान्यको लेकर सभी कर्मोंको भी विद्या क्यों न कहा जाय ? ॥८८-८९॥

कर्मभक्तेन कर्माणि निगद्यन्तां त्वया सुखम् ।
विद्येति न पुनः श्रुत्या गदितानि तथा खलु ॥९०॥

कर्मभक्त आप कर्मोंको विद्या कहिये। पर श्रुतिने ऐसा नहीं कहा है। यहां श्रुत्यर्थविचार चल रहा है। और स्थितगतिचिन्तनमात्र करना है ॥९०॥

ननु यद्वत्प्रशंसार्थो विद्येत्यन्वर्थको न सः ।
तथाऽविद्येति निन्दार्थः शब्दो नान्वर्थको भवेत् ॥९१॥

पूर्वपक्षः—मेरे कहनेका मतलब यह है कि जिस प्रकार विद्याशब्द प्रशंसार्थं प्रयुक्त हुआ यथार्थार्थक नहीं वैसे अविद्याशब्द भी निन्दार्थं प्रयुक्त हुआ, यथार्थार्थक नहीं ॥९१॥

मैवं प्रशंसा क्रियतां यस्य कस्याप्यहैतुकम् ।
विनैव कारणं निन्दा कुतस्तावद्विधीयताम् ॥९२॥

अकारणविनिन्दा तु द्वेषादेव विधीयते ।
कः श्रुतेः कर्मणि द्वेषो विद्याकारिण्युपासना ॥९३॥

उत्तरः—बिना कारण भी किसीकी प्रशंसा आप कर लें, पर विना कारण निन्दा करना तो अच्छा नहीं है। विना कारण निन्दा तब करते हैं जब सामनेवालेसे कोई द्वेष हो। श्रुतिको कर्मसे क्या द्वेष है कि उसकी निन्दा करनेमें लग गयी। फिर उपासनाप्रशंसा सकारण है। उसका अनुष्ठान इष्ट है। इसप्रकार कर्मका सर्वथा त्याग अभीष्ट है क्योंकि उसका नाम ही अविद्या रख छोड़ा ॥९३॥

ननु चान्धं तमो मर्त्याः प्रविशन्तीति निन्द्यते ।
समुच्चयार्थमिति चेदुपास्तिरपि निन्द्यते ॥९४॥

भूयस्तमो विशन्तीति निन्दा विद्येति च स्तुतिः ।
स्तुतिनिन्दे च युगपदुपास्तेः कथमुच्यते ॥९५॥

समुच्चयविधौ विद्यां चाविद्यां चेति गद्यते ।
विधौ कथमविद्येति निन्दा हन्त विधीयताम् ॥९६॥

तस्मादन्वर्थकः शब्दोऽविद्येत्येष हि कर्मणि ।
न तु निन्दापरोऽन्यथार्थः सिद्धं तस्माद्द्वयोर्हितम् ॥९७॥

शंकाः—"अन्धं तमः प्रविशन्ति" यह निन्दाप्रकरण है ही, उसमें अविद्या कहकर भी निन्दा की तो क्या हानि? समुच्चयविधानार्थ यह निन्दा सार्थक है, सकारण है। उत्तरः—इसप्रकार फिर उपासनाकी भी तो निन्दा है। "ततो भूय इव ते तमः" यह उपासनाकी निन्दा है। उसमें "भूय इव ते तमः" यह तो निन्दा हो गयी और "य उ विद्यायां" यह विद्याशब्द प्रशंसार्थक हो गया। तब निन्दा और स्तुति एक साथ होनेसे विप्रतिषेध क्यो नहीं होगा? अच्छा, यथाकथंचित् यहां जोड़िये। आगे विधि-वाक्य आता है—विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" वहां विधिमें विधेय

कर्मकी अविद्या पद से निन्दा कैसे उपपन्न होगी ? विधेयकी सर्वत्र स्तुति होती है, न कि निन्दा। इसलिये अविद्याशब्द निन्दार्थक नहीं अन्वर्थक है यही बलात् मानना पड़ेगा। तब पहले जो हमने बताया कि श्रुतिको कर्म तथा तज्जन्य जगतका विद्याबाध्य होनेसे मिथ्यात्व अभिमत है यही बात सिद्ध होती है ॥९४-९७॥

विद्या तु ब्रह्मणो ज्ञानं किन्त्वन्यस्यापि सोच्यते।
ब्रह्मोपास्तिस्तथा विद्या चान्योपास्तिश्च सोच्यते ॥९८॥

देद्यप्रत्यक्षसामीप्यात्तद्धेतुत्वाच्च सा तथा।
न नो विप्रतिषेधोऽतः शङ्क्यतां स्तुतिनिन्दयोः ॥९९॥

वस्तुतः ब्रह्मज्ञान ही विद्या है किन्तु कर्मज्ञानादिको भी विद्या कह देते हैं, वैसे ब्रह्मोपासना ही विद्या है। फिर भी अन्योपासनाको भी विद्या कह देते हैं। अथवा ऐसा समझिये कि उपास्यसाक्षात्कारके समीप होनेसे और हेतु होनेसे उपासनामें विद्या शब्दका प्रयोग है। सर्वथापि उपासनामें विद्या-शब्दका सामान्य प्रयोग है। वह स्तुत्याद्यर्थ नहीं है। अतएव हमारे मतमें "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां" में स्तुति और निन्दाकी विप्रतिषे-धापत्ति नहीं है ॥९८-९९

अग्रे समुच्चयविधेर्दर्शनादत्र केवलाम्।
येऽविद्यामेव सेवन्त इत्यर्थः श्रुतिसंमतः ॥१००॥

आगे विद्या और अविद्याकी समुच्चयविधि है। अतः यहांपर निन्दा केवल एक-एकके अनुष्ठानकी है। केवल अविद्याका ही जो सेवन करता है ऐसा श्रुत्यर्थ है ॥१००॥

अनुतिष्ठन्ति तात्पर्याद् यत्त्वुक्तमुपासते।
संभूत्यादौ यथावाच्यमुपास्त्यर्थोऽवगम्यताम् ॥१०१॥

इस मन्त्रमें कर्मकी उपासना और विद्याकी उपासना ऐसा कहनेका अभिप्राय है—तत्परतासे अनुष्ठान करना। अन्यथा उपासनाकी क्या उपासना और कर्मकी भी कैसी उपासना है। हाँ, आगे 'ये संभूतिमुपासते" इत्यादिमें उपासना शब्दका वाच्यार्थ ही लिया जायेगा ॥१०१॥

ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव—बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति। के? कर्म हित्वा ये उ—ये तु विद्यायामेव—देवताज्ञाने एव रताः—अभिरताः ॥९॥

उससे भी बढकर तममें वे प्रवेश करते हैं। कौन? जो कर्म छोड़कर केवल विद्यामें अर्थात् देवतोपासनामें ही तत्पर हैं ॥९॥

ततो भूय इव..........विद्यायां रताः

ततो भूयो बहुतरमिव तेऽन्धं तमो नराः।
विशन्ति कर्म हित्वा ये विद्यायामेव संरताः ॥१०२॥

उससे भी बढ़कर मानों तममें वे प्रवेश करते हैं जो मनुष्य कर्म छोड़कर केवल विद्यामें ही संलग्न हैं ॥१०२॥

देवतोपासनैवात्र विद्याशब्देन बोध्यते।
न पुनर्ब्रह्मविद्येति पूर्वमेव निरूपितम् ॥१०३॥

यहां विद्यापदका देवतोपासना अर्थ है, ब्रह्मविद्या नहीं यह हम पहले ही कह आये हैं ॥१०३॥

ननूपास्तौ कथं तावद् भूयोऽन्धं तम ईर्यते।
सोऽहंभावयुता सैषा नात्यन्तादर्शनाऽन्विता ॥१०४॥

न च सोऽहं भावना न ह्युपास्ताविति सांप्रतम्।
कथं देवात्मभावः स्यात्फलं तर्हि समुच्चये ॥१०५॥

समुच्चये पृथङ् नैवोपासनाऽभ्युपगम्यते।
ततश्चाप्यन्ध..मसप्रवेशो दुर्हरो भवेत् ॥१०६॥

पूर्वपक्ष :—उपासनासे अन्ध तममें प्रवेश कैसे कह रहे हैं? जब कि उपासना सोऽहं भावसे युक्त है, अत्यन्त अदर्शनसे समन्वित नहीं है। यदि कहते हैं कि उपासनामें सोऽहं भावना नहीं है तो ठीक नहीं है। क्योंकि तब समुच्चयकारी देवात्मभावको कैसे प्राप्त होगा? समुच्चयमें असमुच्चितोपासनासे भिन्न उपासना नहीं कह सकते हैं। तब समुच्चयकी बात ही कहाँ रह जाती है। समुच्चयमें भी यदि सोऽहं भावना न हो तो उसका भी फल अन्धतमसप्रवेश ही होगा, अमृतभाव नहीं ॥१०४-१०६॥

अत्रोच्यत उपास्तौ स्यादारोपः सोऽहमित्यसौ ।
नोपास्तिकाले तत्साक्षात्कारः केनचिदिष्यते ॥१०७॥

ततोऽसमुच्चयो देवोपास्तिपुण्यवशान्नरः ।
देवलोकं मृतो याति न तु देवात्मतामसौ ॥१०८॥

सोऽहमारोप एवास्ति समुच्चेतुश्च यद्यपि ।
देवात्मतां व्रजेत्किंतु स समुच्चयपुण्यतः ॥१०९॥

तदा देवात्मभावस्य साक्षात्कारोऽस्य जायते ।
ततो नान्धं तमस्तस्य समुच्चेतुः फलं भवेत् ॥११०॥

समाधान :—उपासनामें "देवोऽहं" ऐसा आरोपमात्र रहता है। "देवोऽहं" का साक्षात्कार नहीं होता है। बिना समुच्चय उपासना करनेवाला उपासनाके सामान्य पुण्यसे देवलोक जरूर जायेगा। लेकिन न तो उसका देवात्मभाव ही होता है और न देवात्मसाक्षात्कार ही। समुच्चयकारीका भी यद्यपि उपासनाकालमें "सोऽहं" ऐसा आरोप ही रहता है। तथापि समुच्चयका पुण्य असाधारण होता है इसलिये वह मरनेपर देवात्मभावको प्राप्त होता है और देवात्मभावका साक्षात्कार भी कर लेता है। फलतः समुच्चयकारी अन्ध तममें प्रविष्ट नहीं होता ॥१०७-११०॥

यद्यप्यन्धं तमस्तुल्यं स्याद्देवपितृलोकयोः ।
तथापि भोगाधिक्येन देवलोकेऽधिकं तमः ॥१११॥

किं च दीर्घतरं कालं देवलोके वसत्यसौ ।
अतो भूय इति प्रोक्तमिवकारश्च योजितः ॥११२॥

यद्यपि अदर्शनरूपी तम देवलोक और पितृलोकमें तुल्य है। अतएव "भूयः" कहनेका विशेष अर्थ नहीं निकलता। तथापि देवलोकमें पितृलोककी अपेक्षा भोग अधिक है। भोग जहाँ अधिक है वहाँ तमका भी अधिक होना स्वाभाविक है। दूसरी बात यह है कि पितृलोककी अपेक्षा अधिक काल देवलोक का होता है। तब अधिक समयतक अदर्शनमें रहना अधिक तम ही माना जायेगा। इसलिये "भूयः" कहा। तममें कोई फरक नहीं है, दीर्घकालीनता और न्यूनकालीनता आदिको लेकर ही फरक

करना पड़ेगा। अतएव सीधे "भूयः" न कहकर "भूय इव" ऐसा कहा ॥१११-११२॥

अत्र माध्यंदिनीयानां मन्त्राणामर्थचिन्तने।
विद्येति ब्रह्मविद्यैव भाष्यकारादिभिर्धृता ॥११३॥

समः समुच्चयो ना भूद् भवेत् क्रमसमुच्चयः।
इत्यादिकं यथास्थानमस्माभिश्चिन्तयिष्यते ॥११४॥

इशावास्यके ही प्रसंगमें माध्यन्दिन शाखाके "अन्धं तम" इत्यादि मन्त्रोंके अर्थचिन्तनमें भाष्यकारने तथा गौडपादाचार्यप्रभृतिने विद्याका ब्रह्मविद्या अर्थ ही लिया है। कर्म और ब्रह्मविद्याका समसमुच्चय भले न हो, क्रमसमुच्चय तो हो सकता है इत्यादि विचार हम यथास्थान आगे करेंगे ॥११३-११४॥

॥ इति नवममन्त्रभाष्यवार्तिकम् ॥

तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह, अन्यथा फलवदफलवतोः संनिहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादिति, अन्यदेवेत्यादि।

विद्या और कर्मके समुच्चय का कारणभूत अवान्तर भिन्न फलों को आगे कह रहे हैं। यन्यथा परस्पर समीपमें वर्तमान फलवान और फलरहित का अंगांगिभाव ही होगा, समुच्चय नहीं।

समुच्चयोऽग्रे वक्तव्यः श्रुत्या यः कर्मविद्ययोः।
अवान्तरफलं तत्र वक्तव्यमुभयोः पृथक् ॥१॥

आगे उपासना एवं कर्मका जो समुच्चयविधान करना है तदर्थ दोनों-का अलग-अलग फल वताना जरूरी है ॥१॥

कथं फलं खलु भवेत् फलहीनसमुच्चयात्।
न ह्यन्धद्वयसांनिध्यात् रूपं स्फुरति कुत्रचित् ॥२॥

बुद्धिमद्द्वयसंयोगे बुद्ध्यादानप्रदानतः।
विशिष्टबुद्धिसंयोगो दृष्टः सब्रह्मचारिषु ॥३॥

दो अन्धोंके समुच्चयसे रूपस्फुरण कहीं देखनेमें नहीं आया। हाँ, दो वुद्धिमानोंका समुच्चय होनेपर वुद्धिके आदानप्रदानसे विशिष्ट वुद्धि संपन्न होती है जैसे अनेक सब्रह्मचारी (सहपाठी) समुच्चयस्थलमें देखा जाता है ॥२-३॥

ननु निष्फलयोरेव फलं प्रोक्तं समुच्चये।
यद्दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेदिति ॥४॥

शंकाः—"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस श्रुतिमें जो फल वताया है वह निष्फल दो कर्मोका (दर्श और पूर्णमास कर्मोंका) ही तो फल है ॥४॥

मैवं तत्रैकमेवास्ति कर्म नास्ति समुच्चयः।
न च द्विवचनासिद्धिर्द्वित्वेऽप्येकत्वसंभवात् ॥५॥

अश्विनौ यद्यपि द्वौ स्तस्तथाप्येकैव देवता।
तथैवैकं कर्म दर्शपूर्णमासाभिधं मतम् ॥६॥

अन्यथा तु त्रयो दर्शे पूर्णमासे त्रयस्तथा ।
इति षड्यागवृन्दे न द्वित्वमप्युपपद्यते ॥७॥

किं चैकैकाः क्रिया नानेत्यानन्त्यं च प्रसज्यते ।
तद्दर्शपूर्णमासौ स्तामेकं कर्मेति निश्चयः ॥८॥

समाधानः—"दर्शपूर्णमासाभ्यां" में दो कर्म नहीं है अतः समुच्चय भी नहीं है। द्विवचनान्त शब्दसे दो कर्मोंकी शंका करना ठीक नहीं है। कारण दो मिलकर भी कहीं एक बनता है। जैसे अश्विनीकुमार दो हैं। किन्तु देवतारूपमें एक ही हैं। वैसे यहां भी है। ऐसा नहीं मानेंगे तो द्विवचन भी संगत नहीं होगा। क्योंकि दर्शमें तीन याग हैं पूर्णमासमें भी तीन याग हैं। मिलानेपर छः हो जाते हैं। फिर आग्नेयादि एक-एक याग भी एक क्रिया नहीं है, क्रियाओंका समुदाय है। तब अनन्त कर्म होने लगेंगे। इसलिये दर्श और पूर्णमास मिलकर एक ही याग माना जाता है। वहां दो यागोंका समुच्चय मान्य नहीं है (वहाँ परमापूर्व एक ही है) ॥५-८॥

नन्वेकस्य फलं वाच्यं द्वयोः किमिति भण्यते ।
अन्धन्यायो द्वयोरेव निष्फलत्वे प्रसज्यते ॥९॥

नैवमङ्गाङ्गिभावः स्यात्सफलाफलयोस्तदा ।
फलवत्संनिधौ यायादफलं ही तदङ्गताम् ॥१०॥

अच्छा, उक्त अन्धन्याय की प्रसक्तिका वारण करनेके लिये विद्या और अविद्यामें किसी एकका ही फल क्यों नहीं कहते ? उत्तर है—एक सफल और दूसरा अफल होगा तो वह अफल सफलका अंग बन जायेगा। "फलवत्संनिधावफलं तदङ्गं" ऐसा न्याय है ॥९-१०॥

ननु केन प्रकारेण ह्यन्धन्यायः प्रसज्यताम् ।
वस्तुतः फलमस्त्येव द्वयोः शास्त्रेषु वर्णितम् ॥११॥

अत्राकथनमात्रेणाऽफलमन्धसमं कथम् ।
अतश्च फलभेदोक्तेः साफल्यं नेति चेन्न तत् ॥१२॥

पूर्वपक्षः—यहां अन्धन्याय लगता ही नहीं है। क्योंकि वस्तुतः विद्या और कर्मका शास्त्रोक्त फल है ही। यहां अकथन हुआ इतनेसे न निष्फल बनेंगे और न अन्धोपम होंगे। तब फलभेदकथनका क्या प्रयोजन ? ॥११-१२॥

मैवमत्र फलानुक्तावन्यत्राभिहितं फलम् ।
आदायाङ्गाङ्गिभावो हि द्वयोर्दुर्वारतामियात् ॥१३॥

उत्तरः—यदि यहां फल नहीं कहते हैं तो अन्यत्र कथित फलको लेकर अंगांगिभाव ही होने लगेगा ॥१३॥

ननु द्वयोः फलं प्रोक्तमन्यत्रेति कथं न्विदम् ।
कतरोऽङ्गी तथाऽङ्गं च कतरत् कोऽत्र निर्णयः ॥१४॥

पूर्वपक्षः—अन्यत्र कर्म उपासना दोनोंका फल बताया है, एकका नहीं । तब कौन अंगी और कौन अंग ? यहां क्या निर्णय ? ॥१४॥

मैव कर्मफलं तावत् प्रसिद्धं लोकवेदयोः ।
स्वर्गकामो यजेतेति ह्यधिकारविधिः स्फुटः ॥१५॥

यत्रापि न श्रुतं कर्मफलं स्वर्गस्तु कल्प्यते ।
न्यायात् स्वर्गः स सर्वान् प्रत्यविशेषादिति स्थितात् ॥१६॥

न चोपास्तेरपि फलं तत्र तत्रोपदर्शितम् ।
अफलत्वं ततस्तस्या असिद्धमिति सांप्रतम् ॥१७॥

विद्यया यत्करोत्येतज्जायते वीर्यवत्तरम् ।
इत्यङ्गत्वश्रुतेरर्थवादः स्यात्फलकीर्तनम् ॥१८॥

उत्तरः—निर्णय यही है कि लोकमें और वेदमें कर्मका फल प्रसिद्ध है । "स्वर्गकामो यजेत" ऐसी अधिकारविधि है । "विश्वजिता यजेत" आदिमें जहां फल नहीं बताया है वहां भी स्वर्गफलकी कल्पना सूत्रकारने बतायी है । अतः सकल कर्मका अंग उपासना होगी । यदि कहें कि उपासनाका भी तो फल अन्यत्र बताया है । तो कहा जायेगा कि विद्याके सहित जो कर्म किया जाता है वह वीर्यवत्तर होता है इस श्रुतिके अनुसार उत्कृष्ट फल-कारण कर्ममें विद्या अंग सिद्ध होती है । अतः फलकथन अर्थवाद होगा ॥१५-१७॥

श्रुत्या वानुपपत्त्या वा यस्य निश्चीयतेऽङ्गता ।
अर्थवादो भवेत्तत्र सामान्योक्तफलश्रुतिः ॥१९॥

इषे त्वेत्याह वृष्ट्यै हि ऊर्जे त्वेति रसाय च ।
यजमाने दधानीति ह्यर्थवादो यथा वचः ॥२०॥

जुह्वा अङ्गत्वसिद्धौ च तत्फलं यदुदीरितम् ।
पापश्लोका श्रु तिस्तत्त्वाप्यर्थवाद इति स्थितम् ॥२१॥

श्रुतिसे या अन्याथानुपपत्तिसे जिसमें अंगत्व निश्चित होता है वहां सामान्यरूपसे आयी हुई फलश्रुति अर्थवाद होती है। "इषे त्वोर्जे त्वा" इस मन्त्रकी ब्राह्मणव्याख्यामें बताया है "वृष्ट्यैतदाह यदाहेषे त्वा" "यो वृष्टा-दूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह" "ईषे त्वोर्जे त्वेत्याहेषमेवोर्जं यजमाने दधाति" "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" इत्यादि श्रुतिसे शाखाच्छेदनके अङ्गरूपमें विनियुक्त होनेसे उक्त सभी फल अर्थवादमात्र है। "यस्यपर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति" यहां जुहू अंग होनेसे पापाश्रवणफल अर्थवाद-मात्र है ॥१९-२१॥

कामादिपदसांनिध्ये त्वङ्गेऽपि स्यात् पुमर्थता ।
सा दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादत्र दृश्यते ॥२२॥

पूर्वपक्षः—कामादि पदकी संनिधि होनेपर तो अंगसे भी पुरुषार्थता आ जाती है। जैसे "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयाद्" यहां दधि होमका अंग होनेपर भी पुरुषार्थ हो गया ॥२२॥

कामादिपदसांनिध्यमुपास्तौ नास्ति कुत्रचित् ।
अतः कर्माङ्गतैवास्या अफलायाः प्रसिध्यति ॥२३॥

उत्तरः—उपासनामें कामादिपदसांनिध्य न होनेसे अफल ही वह होगी अतएव कर्माङ्ग ही सिद्ध होगी ॥२३॥

नन्वन्यत्र फलं प्रोक्तं किमर्थमिह भण्यताम् ।
कर्मणा पितृलोकः स्याद्देवलोकश्च विद्यया ॥२४॥

अफल होनेपर उपासना अंग होगी अतः फल कहना चाहिये किन्तु "कर्मणा पितृलोकः" "विद्यया देवलोकः" यहां फल बता दिया है। तब यहां कहनेकी क्या आवश्यकता ? ॥२४॥

न ह्यत्रैव प्रवक्तव्यं फलं निष्फलतान्यथा ।
इति काचन राजाज्ञा ततस्तत्किमिहेर्यते ॥२५॥

मैवं तत्र हि न स्पष्टं यथोक्तं फलवर्णनम् ।
यथार्थफलतात्पर्यं किं वान्यपरमेव तत् ॥२६॥

पुत्रेणैव हि जय्योऽयं लोक इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ।
पिता हि पुत्ररूपेण स्थितस्त्वात्र प्रतितिष्ठति ॥२७॥

किन्त्वज्ञानां भ्रान्तिरेषा मत्पुत्रोऽहमितीदृशी ।
तत्साहचर्यतो देवलोकोऽप्येवं भविष्यति ॥२८॥

मा भूदेवंविधाशङ्केत्येवं निर्णयकारणात् ।
विस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं फलभेदो निगद्यते ॥२९॥

किं च स्वर्गविशेषोऽयं पितृलोक इतीर्यते ।
सोत्कर्षः स्वर्ग एवोक्तो देवलोकपदादपि ॥३०॥

अतोऽत्यन्ताभिदाऽभावादङ्गाङ्गित्वं हि युज्यते ।
कर्मोपासनयोरित्याऽऽशङ्काप्यत्र विधूयते ॥३१॥

ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है कि यहीं फल कहें तो ही सफल मानी जायेगी अन्यथा नहीं ॥२५॥

उक्त पूर्वपक्षका समाधान यह है कि "कर्मणा पितृलोकः" "विद्यया देवलोकः यहां यथार्थ फलका वर्णन है या अन्यार्थक है यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि इन दो वाक्योंसे पहले "पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः" यह बात कही गयी है। किन्तु पुत्रसे इहलोकजय कैसे ? इसपर कहा कि पिता पुत्ररूपसे आकर इस लोक में प्रतिष्ठित होता है। परन्तु पितापुत्र ये दो व्यक्ति हैं। दोनों की एकता-मेरा पुत्र मैं ही हूँ यह नितान्त भ्रान्तजनबुद्धि है। इसी प्रकार पितृलोक भी तो नहीं हैं ? ऐसी शंका न हो एतदर्थ यहांपर फलभेद-वर्णन सार्थक है। दुसरी बात-पितृलोक तथा देवलोक दोनों ही स्वर्ग ही है। उत्कृष्ट स्वर्ग देवलोक है। अतः स्वर्गमें उत्कर्षार्थ उपासना अङ्गरूप ही होगी। इस आशंकाका भी यहां निराकरण है ॥२६-३१॥

वेदोभयं सहेत्येवं सहशब्दात् समुच्चयः ।
प्रत्यक्षविहितस्तत्र शङ्क्यतेऽङ्गाङ्गिता कथम् ॥३२॥

न चागतः कर्म कर्तुं पुत्रेण सह पण्डितः
इत्यादौ न समुच्चित्यर्थता दृष्टेति सांप्रतम् ॥३३॥

अप्रधाने तृतीयात्र समो नातः समुच्चयः ।
प्रथमान्तप्रयोगे हि तथार्थं इति चेन्न तत् ॥३४॥

पूर्वपक्षः—"यस्तद्वेदोभयं सह" यहां सह शब्दसे प्रत्यक्ष समुच्चयविधान हो रहा है। वहां अङ्गाङ्गिभावकी शंका कैसी ? यह कहे कि पुत्रेण सह पण्डित आगतः यहां सह शब्द होनेपर भी समुच्चय अर्थ नहीं है तो उसका उत्तर है वहां अप्रधानमें तृतीया है। प्रथमान्तस्थलमें समुच्चय अर्थ होता है। (प्रथमान्त माने एकविभक्त्यन्त) ॥३२-=४।

क्रियेते अङ्गमङ्गी च सहेत्यत्र समुच्चयः।
सहशब्दान्न कस्यापि प्रतीतिविषयो भवेत् ॥३५॥

उत्तरः—अङ्ग और अङ्गीको साथमें करते हैं यहां समुच्चय अर्थ कहां है ? जब कि एकविभक्त्यन्त है ॥३५॥

ननु भा भास्करमते न कर्मब्रह्मविद्ययोः।
पृथक् फलं तथाप्येव समुच्चय उपेयते ॥३६॥

न च स्वर्गः कर्मणा स्याद्देवलोकश्च विद्यया।
इति वाच्यं यतः प्राह निष्कामं कर्म भास्करः ॥३७॥

उपासनाफलं चैव देवलोक उदीरितः।
न पुनर्ब्रह्मविद्यायास्तत्फलं क्वापि दर्शितम् ॥३८॥

पूर्वपक्षः—भास्करमतमें कर्म और ब्रह्मविद्याका समुच्चय माना गया है। जब कि दोनोंका पृथक् फल नहीं है। कर्मसे पितृलोक और विद्यासे देवलोक यह फलभेद भास्करमतानुसार नहीं है। क्योंकि भास्करके मतमें निष्कामकर्म और ब्रह्मविद्याका समुच्चय है। निष्काम उपासनाका फल देवलोक कहा है ॥३६-३८॥

अत्रोच्यते विविदिषा फलं निष्कामकर्मणः।
ब्रह्मविद्याफलं ब्रह्मलोकश्च स्वीकृतः श्रुतौ ॥३९॥

द्वयोः समुच्चये मोक्षफलमत्रैव लभ्यते।
न तस्य ब्रह्मलोकादिगमनं मोक्षभाविनः ॥४०॥

उत्तरः—निष्काम कर्मका भी संयोगपृथक्त्वेन जिज्ञासा फल और ब्रह्मविद्याका ब्रह्मलोक फल है। दोनोंका समुच्चय होनेपर मोक्षफल यहीं बताया जा रहा है। जिसको मुक्त होना है वह ब्रह्मलोकादि नहीं जाता ॥३९-४०॥

तस्मादत्रापि वक्तव्यमुभयोश्च पृथक् फलम् ।
एवं समुच्चयः सिध्येदित्यतस्तदुदीर्यते ॥४१॥

अतः यहांपर भी कर्म और उपासनाका पृथक् फल कहना आवश्यक है, जिससे समुच्चयसिद्धि होती है । अतः यहां फलकथन है ॥४१॥

ननु चाङ्गाङ्गिभावोऽस्तु कर्मोपासनयोरिह ।
अनुष्ठाने द्वयोः सिद्धे किमाधिक्यं समुच्चयात् ॥४२॥

अग्नितण्डुलयोस्तावदङ्गाङ्गित्वे समुच्चये ।
को विशेषो भक्तफले शब्दवैशेष्यतः पृथक् ॥४३॥

पूर्वपक्षः—अंगांगिभावसे ही सही, उपासना और कर्म दोनोंका अनुष्ठान हो गया तो समुच्चय करनेमें क्या विशेषता है ? अग्नि और चावलका अङ्गाङ्गिभाव मानिये चाहे समुच्चय मानिये । आखिर बनेगा भात ही । केवल शब्दका जंजाल है ॥४२-४३॥

मैवं लोके नामभेदमात्रान्मा भूद्विशेषता ।
वेदे तु भाववैशेष्यात्फलवैशेष्यमिष्यते ॥४४॥

उत्तरः—अग्निदण्डुलादि लौकिक स्थलमें अङ्ग अङ्गी ऐसे नामके भेदसे या भावनाके भेदसे विलक्षणता न हो, पर वेदमें भावकी विशेषता आती ही है ॥४४॥

दधिहोमे सकामेन पुरुषार्थतया कृते ।
इन्द्रियं सिध्यति फलं वाह्यसाम्येऽपि नान्यथा ॥४५॥

जैसे दधिहोम है, यदि इन्द्रियकामना रखकर पुरुषार्थ रूपमें किया जाता है तो इन्द्रिय फल होता है और यदि क्रत्वर्थरूपमें किया जाय तो उसी होम का नया फल नहीं होता ॥४५॥

अन्योन्यापेक्षया यत्र पुमर्थत्वं द्वयोर्भवेत् ।
तयोः समुच्चयस्तत्र यथैवोपास्तिकर्मणोः ॥४६॥

एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए दोनों जहां पुरुषार्थरूपेण किये जाते हैं वहां उन दोनोंका समुच्चय माना जाता है । जैसे उपासना और कर्म दोनों ही परस्पर सापेक्ष होकर पुरुषार्थ होते हैं । अतः यहां समुच्चय है ॥४६॥

एकं पुमर्थमन्यत्तु क्रत्वर्थं यत्र दृश्यते ।
तयोरङ्गाङ्गिभावो हि स्याद्यज्ञपयसोर्यथा ॥४७॥

जहां एक तो पुरुषार्थ है और दूसरा क्रत्वर्थ है वहां अङ्गाङ्गिभाव होगा। जैसे होम और दुग्ध। होम पुरुषार्थभावनासे किया जाता है। दूध क्रत्वर्थभावनासे होमा जाता है ॥४७॥

दध्ना विनापि पयसा होमः सम्पद्यते ततः।
नित्यापेक्षणराहित्यान्न तत्रास्ति समुच्चयः ॥४८॥

यदि कहें कि दधि भी इन्द्रियकामके लिये पुरुषार्थ और अग्निहोत्रादि होम भी पुरुषार्थ है अतः दोंनोंका समुच्चय हो, तो ठीक नहीं, क्योंकि होम में दधिकी नित्यापेक्षा नहीं है। क्योंकि दहीके विना भी दूधसे होम संपन्न होता है ॥४८॥

वीर्यवत्तरता यत्र श्रूयते कर्मणः फले।
तदेवेत्येवकारेण नास्ति तत्र फलान्तरम् ॥४९॥

यह कहें कि "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं" यहां फलविशेषमें विद्याकर्म समुच्चय होना चाहिये। क्योंकि दोनों स्वतंत्र पुरुषार्थ हैं और यहां विशिष्ट फल कारण है तो समीचीन नहीं है। क्योंकि "तदेव वीर्यवत्तरं" इस एवकारसे फलान्तर की व्यावृत्ति है। उसी फलमें उत्कर्षार्थ उपासनाको अङ्ग बनानेके लिये बताया जा रहा है ॥४९॥

वीर्यवत्तरता चापि कर्मण्येवात्र शाब्दिकी।
आर्थिकी तु फले तस्मात् कर्माङ्गं स्यादुपासना ॥५०॥

दूसरी वात—शब्दतः कर्ममें वीर्यवत्तरता श्रुत है। फलमें उत्कृष्टता कर्मवीर्यवत्तरताप्रयुक्त होनेसे आर्थिक है, अतः कर्मका ही अङ्ग वहां उपासना है ॥५०॥

ननु क्वचित्पृथङ् नास्ति समुच्चयफलं यथा।
मृत्युं तीर्त्वा विनाशेनाऽसंभूत्यामृतमश्नुते ॥५१॥

प्रत्येकफलमेवात्र भाष्ये संदर्शयिष्यते।
सत्यं तथापि फलयोरुत्कर्षस्तत्र विद्यते ॥५२॥

क्वचित्फलद्वयोत्कर्षः क्वचिदेकं पृथक् फलम्।
समुच्चये तावता तु हानिर्नैवास्ति काचन ॥५३॥

आपने पहले वताया कि अन्योन्यसापेक्ष होकर दो पुरुषार्थ फलप्रदान करें वहाँ समुच्चय है यह संगत नहीं है। "विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्याऽ-

मृतमश्नुते" यहाँ हिरण्यगर्भोपासनाका जो अकेलेमें फल है वही समुच्चयमें भाष्यकार दिखाते हैं। इसका समाधान यह है कि समुच्चयस्थलमें कहीं दोनों फलोंमें समुच्चयप्रयुक्त उत्कर्ष होगा और कहीं दोनों मिलकर एक अतिरिक्त फल उत्पन्न करेंगे ऐसा माननेमें कोई हानि नहीं है ॥५१-५३॥

भवेद् ग्लौनिशयोः स्व स्वसौन्दर्यर्द्धिः समुच्चयात् ।
हरिद्राचूर्णयोर्वर्णः पृथग्रक्तः समुच्चयात् ॥५४॥

"शशिना च निशा निशया च शशी"के अनुसार चन्द्र और रात्रिके समुच्चयमें अपने-अपने सौन्दर्यमें उत्कर्ष होता है। हल्दी और चूनेके समुच्चयसे पृथग् लाल रंग प्रकट होता है ॥५४॥

ननु चात्र पृथङ् नैव श्रुत्या फलमुदीरितम् ।
अन्यत्रोक्तफलं श्रुत्या केवलं समनूदितम् ॥५५॥

तथा च फलमन्यत्र प्रोक्तमेवेति निश्चये ।
कथं स्यादङ्गतापत्तिशङ्कोपास्तेरिहेति चेत् ॥५६॥

पूर्वपक्षः-"अन्यदेवाहुः" इस मन्त्रमें अन्यत्र कथित फलका अनुवादमात्र है। अतएवं अन्यत्र फलभेदका निश्चय ही मानना पड़ेगा। तब उपासनाकी अंगत्वापत्तिकी शंका कैसे उठ सकती है ॥५५-५६॥

उच्यतेऽनुवदन्त्येव निश्चयं कारयेच्छ्रुतिः ।
अत्रानुवादबलतस्तत्राप्यस्तु विनिश्चयः ॥५७॥

समाधानः--यहाँपर अनुवाद करती हुई श्रुति फलभेदनिश्चय भी करा देगी इसमें क्या हानि? बल्कि यहाँपर अनुवादके व्याजसे जो निश्चय कराया उसीसे "कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकः" यहाँ भी फलभेद निश्चय है ॥५७॥

अपि चान्यत्र विस्पष्टं फलभेदे श्रुतेऽपि हि ।
अङ्गाङ्गिभावो भवति वीर्यवत्तरतास्थले ॥५८॥

तस्मादत्रैव वक्तव्यः फलभेदो द्वयोरपि ।
संभाविताङ्गताकत्वविनिवृत्तिप्रयोजनः ॥५९॥

दूसरी बातः—कर्म और उपासनाका फलभेद अन्यत्र स्पष्ट कहा फिर भी "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति"में उपासना अंग

बन गयी। अतः समुच्चिचीषा हो तो उसी स्थानमें फलभेद कहना उपयुक्त है ॥५८-५९॥

नन्वन्यैव पुमर्था स्यात् क्रत्वर्थान्यैव सा तथा।
नित्याग्निहोत्रान्मासाग्निहोत्रं यद्वत्पृथङ्मतः ॥६०॥

मैवं तत्र न मासस्य विधेयत्वं हि संभवेत्।
प्राप्तेऽनेकविधानाच्च वाक्यभेदः प्रसज्यते ॥६१॥

अन्यथा दधिहोमोऽपि पृथक् किं न भवेत्तव।
अन्यत्रोक्तफलस्यापि तस्मादङ्गत्वमापतेत् ॥६२॥

पूर्वपक्ष :—पुरुषार्थरूप उपासना अन्य है क्रत्वर्थ (कर्मवीर्यवत्तरताप्रयोजक) उपासना अन्य है। जैसे नित्याग्निहोत्र अन्य है और मासाग्निहोत्र अन्य होता है। समाधान :—नित्याग्निहोत्रमें मासरूपी कालका विधान सम्भव न होनेसे और "उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति" यहां प्राप्त अग्निहोत्रानुवादसे अनेक गुणविधान माननेपर वाक्यभेदप्रसक्ति होनेसे मासाग्निहोत्र पृथक् माना गया है, न कि पुरुषार्थत्व और क्रत्वर्थत्वको लेकर। अन्यथा इन्द्रियार्थ दधिहोम और अग्निहोत्रार्थ दधिहोम भी पृथक् होने लगेगा ॥६०-६२॥

नन्वेवं कर्मणोऽप्यत्र फलं नैव समीरितम्।
फलवत्संनिधिः कस्मादुपास्तेः शङ्क्यते तदा ॥६३॥

अन्यत्रोक्तफलस्यापि स्यादङ्गत्वं हि कर्मणः।
यथोपास्तेरनुपदं वर्णितं भवतैव हि ॥६४॥

द्वयोरपि समानत्वे चाङ्गाङ्गित्वं न शङ्क्यते।
परिशेषाद् द्वयोरत्र संप्राप्नोति समुच्चयः ॥६५॥

पूर्वपक्ष :—यदि अन्यत्र पुरुषार्थरूपसे कहा हुआ भी अन्यत्र क्रत्वर्थ हो सकता है तो कर्म भी क्रत्वर्थ हो सकता है। प्रकृतमें "अन्यदेवाहुः" से पूर्व न तो कर्मका फल बताया और न उपासनाका। तब दोनों समान हो गये। तब कौन अंग कौन अंगी ? फलतः समान होनेसे अपने आप समुच्चय ही होगा ॥६३-६५॥

सत्यं गृहस्थैः सकलैः कर्माणि फलहेतवे।
क्रियन्ते विहितत्वेन नित्यं नैवमुपास्तयः ॥६६॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अविद्या (कर्म)से कुछ और ही फल उत्पादनीय बताया है और विद्या (उपासना) से कुछ और ही फल जननीय बताया है इस प्रकार हम वेदवेत्ताओंके वचन परम्परया सुनते आ रहे हैं जिन्होंने हमें इस विषयमें स्पष्ट व्याख्या करके सुनाया है ॥१०॥

तेषां समु तिष्ठन्ते कर्माणि सफलात्मना ।
उपासनाङ्गरूपेण तेषामेवापतिष्ठते ॥६७॥

उत्तर :—बात यथार्थ है। किन्तु सभी गृहस्थ नित्यादि कर्म फलके लिये अवश्य करते हैं। अतः कर्म सफलरूपसे ही उनके सामने उपस्थित होते हैं। उपासना नित्य न होनेसे सफलरूपसे उपस्थित होती ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः उपासना अंगरूपेण उपस्थित होगी ॥६६-६७॥

विद्यायां ये खलु रता इत्येतज्ज्ञापनाद्यदि ।
अकर्मिण उपासीनाः स्वीक्रियेरन् गृहस्थिताः ॥६८॥

तदा विभज्य व्याख्येयं भाष्यमत्र भविष्यति ।
ये कर्मिकुलसंभूतास्तेषामङ्गमुपासना ॥६९॥

ये चोपास्तिकुलोद्भूतास्तेषां कर्माऽयतेऽङ्गताम् ।
स्व स्व दृष्ट्यैव दृश्यत्वात्सफलत्वाफलत्वयोः ॥७०॥

"य उ विद्यायां रताः" इस श्रुतिवचनके ज्ञापनसे यह प्रतीति होती है कि केवल उपासना करनेवाले भी होते हैं अर्थात् कर्म नहीं करते उपासनामात्र करते हैं। यदि ऐसी बात है तो कर्म सफल और उपासना अफल यह सार्वदेशिक नियम नहीं हुआ। तब भाष्यको विभाग कर लगाना पड़ेगा। जो कर्मिकुलोत्पन्न है उसकी दृष्टिमें कर्म सफल और उपासना अफल है तो कर्म अंगी और उपासना अंग होगी। जो उपासककुलोत्पन्न है उसके लिये उपासना सफल होनेसे वह अंगी और कर्म अफल होनेसे वह अंग होगा। क्योंकि सफलता और अफलता अपनी-अपनी दृष्टिसे देखना है ॥६८-७०॥

समुच्चयिकुलोत्पन्नो विद्यात्सफलतां द्वयोः ।
तथापि सर्वबोधार्थं वाच्यमत्र पृथक् फलम् ॥७१॥

अन्यत्–पृथगेव विद्यया क्रियते फलमिति आहुः–वदन्ति। "विद्यया देवलोको" "विद्यया तदारोहन्ति इति श्रुतेः। अन्यदाहुः अविद्यया–कर्मणा क्रियते "कर्मणा पितृलोकः" इति श्रुतेः।

"विद्या से देवलोक प्राप्त होता है" विद्यासे देवलोकमें आरूढ़ होते हैं" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार विद्या अलग ही फल उत्पन्न करती है, और "कर्मसे पितृलोक" इस श्रुतिके अनुसार कर्म अलग ही फल उत्पन्न करता है ऐसा कहते हैं।

यद्यपि समुच्चयानुष्ठान करनेवाले कुलमें जो उत्पन्न होगा वह दोनोंकी सफलता देखेगा। तथापि सर्वहितैषिणी श्रुतिको तो दोनोंका पृथक्-पृथक् फल कहना ही चाहिये, जिससे किसीको भी सन्देह न रह जाय ॥७१॥

यत्त्वत्र कर्मसाफल्यं कर्मालेपनलक्षणम्।
द्वितीयमन्त्रे कथितमिति तन्नैव युज्यते ॥७२॥

द्वितीयः खलु वेदार्थो द्वितीये मन्त्र ईरितः।
उपासनात्मकं कर्माप्यतोऽत्रान्तर्भवेन्मनौ ॥३०॥

जो यह कहते हैं कि द्वितीय मन्त्रमें कर्मालेपफल कर्मका बताकर सफलता दिखाई है, अतः उपासना ही अफल होगी, सो ठीक नहीं। कारण द्वितीय मन्त्रमें प्रवृत्तिलक्षण द्वितीय वेदार्थ संक्षिप्त किया है। अतः उपासना-रूपी कर्मका भी वहाँ अन्तर्भाव है ॥७२-७३॥

तस्माद्यथोक्तरीत्यैव सफलत्वाफलत्वयोः।
प्राप्तावङ्गाङ्गितायाश्च श्रुतिः फलमिदं जगौ ॥७४॥

अतः जैसा हमने दिखाया उसीप्रकार सफलत्व एवं अफलत्व और तत्प्रयुक्त अङ्गाङ्गिभाव प्राप्त हुआ तो श्रुति यह पृथक् फलकथन कर रही हैं :—॥७४॥

अन्यदेव फल विद्भिः क्रियते विद्ययेति हि।
विद्यया देवलोकोऽसावित्याद्याः श्रुतयो जगुः ॥७५॥

उपासक विद्या यानी उपासनासे अन्य ही फल उत्पन्न करते हैं ऐसा "विद्यया देवलोकः" इत्यादि श्रुतियां कहती हैं ॥७५॥

अन्यच्च कर्मणा दक्षैः क्रियते फलमित्यपि।
कर्मणा पितृलोकोऽसावित्याद्याः श्रुतयो जगुः ॥७६॥

कर्मदक्ष कर्मसे अन्य ही फल सम्पन्न करते हैं ऐसा "कर्मणा पितृलोकः" इत्यादि श्रुतियां कहती हैं ॥७६॥

जय्य इत्यनुषङ्गोऽस्ति देवलोकादिना श्रुतौ।
करणेऽतस्तृतीयाऽत्र तच्छ्रुतेरनुरोधतः ॥७७॥

"पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः" "कर्मणा पितृलोकः" इत्यादि श्रुतिका आकार है, उसमें जय्यःकी अनुवृत्ति देवलोकादिके साथ भी है। तदनुरोधात् कर्मणा विद्यया इत्यादिमें करणमें तृतीया है ॥७७॥

केचिदत्र तृतीयां तु पञ्चम्यर्थपरां जगुः।
संभवादन्यदेवाहुरित्युत्तरतथाश्रुतेः ॥७८॥

विद्यादिभ्योऽन्यदेवाहुः श्रुतयो मोक्षसाधनम्।
किं तद् स्यादिति चेद् विद्याऽविद्याद्येव समुच्चितम् ॥७९॥

अन्यादिपदमाकाङ्क्षेत् प्रथमं प्रतियोगिनम्।
प्रतियोगितया तस्माद् विद्यादेर्युज्यतेऽन्वयः ॥८०॥

माध्यन्दिनीये विद्याया इत्येवं पञ्चमीश्रुतेः।
स्पष्टः स्यादयमेवार्थः फलानाकाङ्क्षणादपि ॥८१॥

उत्तरस्मिन् मनौ तस्याः फलं संदर्शयिष्यते।
समुच्चयस्तु निन्दातः पूर्वमन्त्रेण सिध्यति ॥८२॥

तस्मात्फलं भवेदित्याद्यध्याहरपुरःसरम्।
व्याख्यानं गौरवग्रस्तं न्यायदुष्टं न युज्यते ॥८३॥

कुछ विशिष्टाद्वैती व्याख्याता यहाँ ऐसी व्याख्या करते हैं कि विद्यया यह तृतीया पञ्चमीके अर्थमें प्रयुक्त हुई है। "अन्यदेवाहुः संभवात्" इसप्रकार उत्तरश्रुतिमें पञ्चमी ही पढ़ी गयी है। अतः अर्थ यह होगा कि विद्या एवं अविद्यासे अन्य ही मोक्षसाधन है। क्या है वह अन्य ? समुच्चित विद्या-अविद्या ही। ऐसी व्याख्या क्यों करनी चाहिये ? इसलिये कि अन्य इतर आदि पद, प्रथम किससे अन्य ? ऐसे प्रतियोगीकी ही आकांक्षा रखते हैं। और माध्यन्दिनीय शाखामें तो "अन्यदेवाहुर्विद्यायाः" इसप्रकार पञ्चम्यन्त पाठ ही है। अतएव पूर्वोक्तार्थ वहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है। और विद्यासे क्या फल इसकी आकांक्षा भी यहाँ नहीं है। उत्तरमन्त्रमें विद्या

आदिका फल बताना है। उत्तरमन्त्रमें समुच्चयविधि नहीं है। क्योंकि पूर्वमन्त्रमें असमुच्चित निन्दासे ही समुच्चयविधि सिद्ध होती है। आपको विद्यासे अन्य ही फल होता है ऐसा अध्याहार करके व्याख्या करनी पड़ेगी। वह गौरवदोषसे ग्रस्त है और न्यायविपरीत भी है ॥७८-८३॥

तदसत् करणादीनां निरूप्यत्वात्फलादिना ।
प्रतिपत्त्यविलम्बान्न फलाध्याहारगौरवम् ॥८४॥

विशिष्टाद्वैतियोंका उक्तकथन मूर्खताका ही परिचायक है। क्योंकि उनको यह भी मालूम नहीं है कि अध्याहार गौरवदोष सर्वत्र नहीं माना जाता है। प्रतिपत्तिमें विलम्ब ही अध्याहारमें दोष है। किन्तु "विद्यया" इत्यादिमें करण आदि अर्थमें जो विभक्ति है वह फलनियत होती है अर्थात् करणत्वादि फलादिनिरूपित होनेके कारण फलोपस्थितिमें बिलम्ब न होनेसे अध्याहारमें गौरवदोष नहीं है ॥८४॥

प्रश्नाख्यानप्रभृतिषु पञ्चम्यादिविधायिनः ।
प्रत्याख्यानं वार्तिकस्य महाभाष्यकृता कृतम् ॥८५॥

कुतो भवान् गृहान्नाध्याहारो वार्तिककृन्मते ।
आगताध्याहृतिर्भाष्यमते तद्युज्यतां कथम् ॥८६॥

"कुतो भवान्" (आप कहाँसे) गृहात् (घरसे) यहाँ प्रश्न और उत्तरमें पञ्चमीका प्रयोग सिद्ध करनेके लिये वार्तिककारने "प्रश्नाख्यान-योश्च" ऐसा वार्तिक लिखा। भाष्यकारने कुतो भवानागतः इसप्रकार आगतपदके अध्याहारसे पञ्चमीकी सिद्धि मानकर वार्तिकका प्रत्याख्यान किया। अध्याहारमात्र गौरवपादक हो और अन्याय्य हो तो वार्तिककार-मतमें कुतो भवान् यह प्रयोग निर्दोष है। भाष्यमतमें सदोष होगा। अतः प्रतिपत्तिविलम्ब होनेपर ही गौरवदोष मान्य होगा यह सिद्ध होता है ॥८५-८६॥

क्वचिदध्याहृतावेव लाघवं मन्यते बुधैः ।
देवदत्तस्तिष्ठतीह न यातीत्यादिके यथा ॥८७॥

कहीं तो अध्याहार करनेमें ही लाघव माना गया है। जैसे—'देवदत्त बैठा है, जा नहीं रहा' इस प्रयोगमें जा नहीं रहाके कर्ताके रूपमें देवदत्तका

आध्याहार ही मान्य है। ऐसा कोई नहीं बोलता देवदत्त वैठा है देवदत्त जा नहीं रहा। सुननेवाला अध्याहार करता रहेगा किन्तु बोलनेवाला द्वितीय वाक्य कर्तृपदके बिना बोलना ही अच्छा समझेगा ॥८७॥

त्वन्मते स्पष्टमेवात्र गौरवं परिलक्ष्यते।
विद्यान्यत्वनिरूप्या न मोक्षसाधनता यतः ॥८८॥

आपके मतमें विद्याया अन्यत्के बाद मोक्षसाधनं इस अध्याहारमें गौरव है। क्योंकि मोक्षसाधनता विद्यान्यत्वसे निरूप्य नहीं है ॥८८॥

मोक्षसाधनमुद्देश्यं विधेयं वा भवन्मते ।
सर्वथापि न नैयत्यं तदर्थस्योपस्थितौ ॥८९॥

विद्यान्यन्मोक्षकार्याहो सूपशाकादिकारि वा।
घटबुद्ध्यादिकं वा स्यात् स्यान्नियतोपस्थितिः कथम् ॥९०॥

विद्यासे अन्य मोक्षसाधन है या मोक्षसाधन विद्यासे अन्य है जैसा भी आप अन्वय लगा लो सर्वथा मोक्षसाधनोपस्थिति नियत नहीं है। विद्यासे अन्यतो मोक्षसाधन भी है, दालसागका साधन भी है, घटपटादि भी है। मोक्षसाधनकी नियत उपस्थिति कैसे हो ॥८९-९०॥

उपस्थितिविलम्बाच्च गौरवं भवतो ध्रुवम्।
अध्याहारक्लेशजन्यं नैव वारयितुं क्षमम् ॥९१॥

उपस्थितिविलम्ब होनेसे निश्चित गौरव जो अध्याहारक्लेशोद्भूत है उसका आप वारण नहीं कर सकते ॥९१॥

करणत्वनिरूप्यं हि कार्यत्वमिति मन्मते।
क्व गौरवं तथा चोक्तं क्रियते विद्ययेति हि ॥९२॥

हमारे मतमें विद्यया इस तृतीयाका करणत्व अर्थ है। कार्यत्व करणत्वनिरूप्य होनेसे नियतोपस्थितिक है, तब कहाँ गौरव है बताइये। अतएव भाष्यमें "अन्यत् पृथगेव विद्यया क्रियते" ऐसे कार्यत्वबोधक क्रियते पदका प्रगोग किया ॥९२॥

प्रतियोगिवदाकाङ्क्षा नियतैवानुयोगिनः ।
न तूद्देश्यविधेयादेरन्यादेरिति हि स्थितिः ॥९३॥

और भी दोष सुनिये। अन्यादिपदकी जैसे प्रतियोगी-आकांक्षा नियत है वैसे अनुयोगि आकांक्षा भो नियत है। न कि उद्देश्यविधेयादिकी। अन्य कहनेपर किससे अन्य ? कौन अन्य ? यही जिज्ञासा होती है। वह अन्य कैसा ? ऐसी विधेयाकांक्षा नहीं होती ॥९३॥

समुच्चिता ते भवति विद्या चेन्मोक्षसाधनम्।
विद्यासामान्यभिन्ना सा कथं समुपगम्यताम् ॥९४॥

न हि नीलघटस्तावद् घटादन्यो भवेदिति।
असमुच्चितविद्यार्थे दुर्वारा लक्षणापि ते ॥९५॥

तीसरा दोष सुनिये। "विद्यया अन्यत् मोक्षसाधनं" यहाँपर विद्यासे अन्य कौन ? अविद्यासमुच्चितविद्या। परन्तु समुच्चितविद्या भी तो विद्या है वह विद्यासे अन्य कैसे ? नीलघट घट ही नहीं होता ऐसा व्यवहार संसारमें नहीं होता। अतः विद्यासे अन्यका असमुच्चितविद्यासे अन्य इस अर्थमें लक्षणा माननी पड़ेगी। यह दोष दुर्वार है ॥९४-९५॥

असमुच्चितविद्यान्यो घटादिरपि विद्यते।
मोक्षसाधनता तस्य केनोपायेन वार्यताम् ॥९६॥

असमुच्चितविद्यान्या विद्या या तु समुच्चिता।
इत्यध्याहारकथने व्यर्थः स्यादुत्तरो मनुः ॥९७॥

असमुच्चितविद्या न मोक्षहेतुरितीरणे।
विद्यायाः प्रतियोगित्वं क्व ते शीर्षासने कृते ॥९८॥

यद्यूत्तरेणान्वयोऽस्य मनुनेति निगद्यते।
शुश्रुमेत्याद्यसार्थक्यं मन्त्रवैयर्थ्यमेव च ॥९९॥

असमुच्चितविद्यासे अन्य मोक्षसाधन है ऐसा अर्थ करनेपर और भी दोष सुनिये। असमुच्चितविद्यासे अन्य घटादि भी है, वह भी मोक्षसाधन होगा। असमुच्चितविद्यासे अन्य जो समुच्चितविद्या है वह मोक्षसाधन है कहनेपर अगला मन्त्र व्यर्थ पड़ेगा। क्योंकि उत्तर मन्त्रमें समुच्चितविद्या मोक्षसाधन है यही तो बताना है। और मन्त्रमें असमुच्चितविद्यासे अन्य यह विशेषण किसलिये होगा ? असमुच्चितविद्या मोक्षसाधनसे अन्य है—मोक्षसाधन नहीं है ऐसा अन्वय लगायेंगे तो अन्यपदार्थप्रतियोगी विद्या है इसे सिद्ध करनेका जो शीर्षासन चल रहा था वह कहाँ रह गया ? यदि

कहें कि इस मन्त्रका उत्तरमन्त्रके साथ अन्वय करके असमुच्चितविद्यासे अन्य विद्या-अविद्या समुच्चय मोक्षकारण है ऐसा अर्थ करेंगे तो "आहुः" "शुश्रुम" इत्यादिका क्या मतलब रहेगा ? यहींपर समुच्चितविद्यामें मोक्षसाधनताविधान है। "आहुः" "शुश्रुम" यह सब क्या है ? फिर इस मन्त्रकी ही क्या जरूरत है ? समुच्चित विद्या मोक्षसाधन है यह उत्तरमन्त्र-में कहा तो वह असमुच्चितविद्यासे अन्य है ही। ऐसा कौन बोलेगा-घटान्य पट लाओ ॥९६-९९॥

प्रतियोगिनमाकाङ्क्षदन्यादिर्नियमेन हि।
प्रतियोगिन्यतो विद्येत्यकिंचित्करमेव ते ॥१००॥

स्यात्तीर्थयात्रयाऽन्यद्धि स्याच्चान्यद् गुरुसेवया।
इत्यादौ फलापर्थक्यं विस्पष्टं लौकिकोक्तिषु ॥१०१॥

अन्यच्छ्रेय उतैवान्यत्प्रेय इत्यादिर्वैदिके।
नानार्थत्वेन पार्थक्यं प्रयोगेऽर्थः प्रतीयते ॥१०२॥

जो यह बताया था कि अन्यादिपद प्रतियोगीकी नियमतः आकाङ्क्षा रखते हैं, अतः विद्या ही प्रतियोगीके रूपमें उपस्थित होती है इत्यादि, वह भी कोई महत्व नहीं रखता। तीर्थयात्रासे कुछ और ही होता है, गुरु-सेवासे कुछ और ही होता है इत्यादि लौकिक प्रयोगोंमें फलका पार्थक्य ही अर्थ होता है, न कि तीर्थयात्रासे भिन्न कोई पुण्यसाधन और गुरुसेवासे भिन्न तीसरा कोई श्रेयसाधन। "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते नानार्थे पुरुषं सिनीतः" इस वैदिक प्रयोगमें भिन्न-भिन्न प्रयोजन होनेसे श्रेय और प्रेयका पार्थक्य ही अर्थ होता है, न कि श्रेय और प्रेयसे भिन्न तृतीय किसी तत्त्वका बोध ॥१००-१०२॥

व्यत्ययश्च तृतीयाया वक्तव्यो व्यर्थ एव ते।
हेत्वर्थे पञ्चमीसत्त्वाद् व्यत्ययो नास्ति मन्मते ॥१०३॥

और भी दोष है। विद्याया अन्यत् ऐसा यहां "अन्यारादितरर्त्ते" इस सूत्रसे पञ्चमी प्राप्त है। वहां व्यत्ययसे तृतीया माननी पड़ेगी। हमारे मतमें करणतृतीया है। मध्यन्दिनशाखामें और "अन्यदेवाहुः संभावत्" में भले पञ्चमी रहे। हमें व्यत्यय नहीं करना होगा। क्योंकि हेतु अर्थमें भी पञ्चमी होती है ॥१०३॥

निन्दया च विधिर्गम्यो विधेयस्यानुपस्थितेः ।
विधेये सति तत्स्तोतुं निषेद्धुं स्रोत निन्दितम् ॥१०४॥

निन्दासे ही विधेयकी विधि होती है यह बड़ी विचित्र बात है। जब विधेय ही उपस्थित नहीं तो विधि किसकी? विधेय उपस्थित हो तो उसकी स्तुतिके लिये अन्यकी निन्दा मानी जाती है। अधिक हो तो निन्दित का निषेधानुमान हो सकता है ॥१०४॥

क्रूरः सर्प इति प्रोक्ते माला धार्येति किं विधिः ।
सर्पो न गम्य इति तु निषेधः स्यात्कथंचन ॥१०५॥

सर्प क्रूर है इस निन्दासे गलेमें माला धारण करो यह विधि कैसे संपन्न होगी? हाँ, सर्पके पास मत जाओ ऐसा निषेध कथंचित् बोधित हो सकता है ॥१०५॥

जुहोति पयसेत्येवं विधेयोपस्थितौ ततः ।
निन्दात्मिका स्यात्तत्स्तोतुं जर्तिलानाहुतिश्रुतिः ॥१०६॥

"पयसा जुहोति" इस विधिके उपस्थित होनेपर "अनाहुतयो वै जर्तिलाः" यह निन्दात्मक श्रुति पयोहोमस्तुत्यर्थ होगी ॥१०६॥

श्येनोद्भिद्वाजपेयादौ तत्तत्फलसमीरणात् ।
फलकर्मोभविधिर्दृश्यते बहुधा श्रुतौ ॥१०७॥

तत्र तत्रार्थवादेन विधिर्नोन्नीयते क्वचित् ।
प्रत्यक्षं विधिमुत्सृज्य को मनीषी तमुन्नयेत् ॥१०८॥

प्राशस्त्यमपि विध्यर्थस्त्र्यंशा यच्छाब्दभावना ।
तेन यागविधौ चोक्ते वाक्यभेदः कथं न ते ॥१०९॥

विधिश्च तेऽनुमेयः स्याद् स्यान्महागौरवं ततः ।
फलयागोभयविधिः प्रत्यक्षस्तु ततो वरम् ॥११०॥

व्याख्येयं पूर्वकाण्डे यन्नात्र तद् विस्तृणीमहे ।
अमीमांसितशास्त्रार्थैः किं नु स्याच्छास्त्रचर्चया ॥१११॥

तस्मादग्निममन्त्रे हि फलोपास्त्योर्द्वयोर्विधिः ।
अविधेयं फलं ज्ञाप्यं तावता विधिरुच्यते । ११२॥

इति—एवं शुश्रुम—श्रुतवन्तो वयं धीराणां—धीमतां वचनम्,
इसप्रकार हम उन आचार्योंका वचन सुनते आ रहे हैं जिन्होंने हमें उस

श्येनेनाभिचरन् यजेत इत्यादि वाक्यमें श्येनादि याग और फल दोनोंका विधान है। इसीप्रकार अग्रिममन्त्रमें भी दोनोंकी विधि माननेमें क्या आपत्ति है ? ऐसे वहुत स्थानोंमें फल एवं कर्म दोनोंकी विधि मानी गयी है। उन सब स्थानोंमें प्रायः अर्थवाद भी मिलता है। आपके मतानुसार अर्थवादसे यागविधिकी कल्पना और प्रत्यक्षश्रुतिमें केवल फलविधि होनी चाहिये। परंतु प्रत्यक्ष यागविधि छोड़कर केवल वाक्यभेदभयसे कौन कर्मविधिका अनुमान करेगा ? फिर अर्थवादसे प्राशस्त्य प्रतीत होता है। वह भी तो विधेय है। शब्दीभावनारूपी विधिमें किं भावयेत् केन भावयेत्, कथं भावयेत् इन तीन अंशोंकी अपेक्षा मानी गयी है। किं भावयेत्—यह फलभावना है। केन भावयेत् यह यागादिकरण भावना है। कथं भावयेत् यह प्राशस्त्यादि अर्थवादभावना है। तब यदि यागभावना और फलभावनाको लेकर वाक्यभेदकी प्रसक्ति है तो प्रशस्त्यभावना और यागभावनाको लेकर वाक्यभेद क्यों नहीं होगा ? कर्मविधिका तब अनुमान करना पड़ेगा। यह महागौरव होगा। इसकी अपेक्षा "वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत" इस प्रत्यक्ष विधिको ही फलयागोभयविषयक माननेमें लाघव होगा। अतएव विधिश्रवणरहित स्थलमें ही अर्थवादसे विध्यनुमान माना गया। इसका विस्तार तो पूर्वकाण्डमें व्याख्यानयोग्य है। हम यहांपर उसका विस्तार नहीं ही करना चाहेंगे। इन मीमांसाज्ञानशून्य व्यक्तियोंके साथ शास्त्रचर्चा करना भी अपनी फजीयती कराना है। अतः "विद्यां चाविद्यां च" इस अग्रिम मन्त्रमें ही फलविधि तथा उपास्तिविधि दोनों हैं। फल यद्यपि अविधेय होता है। तथापि फलत्वेन ज्ञाप्य होनेसे उसकी विधि कही जाती है। वैसे प्राशस्त्य भी अविधेय होनेपर भी ज्ञाप्य होनेसे उसकी भी विधि मानी जाती है यह द्रष्टव्य है ॥१०७-११२॥

॥ इति शुश्रुम ॥

इति शुश्रुम धीराणां धीमतां वचनं सताम्।
ये नस्तत्कर्म च ज्ञानमाचार्या व्याचचक्षिरे ॥११३॥

पारम्पर्यार्थबोधाय प्रायुङ्क्तात्र लिटं श्रुतिः।
बहूनां तत्र पारोक्ष्याल्लिट्प्रयोगः स्वयं स्वके ॥११४॥

ये आचार्या नः—अस्मभ्यं तत्—कर्म (च) ज्ञानं च विचचक्षिरे—व्याख्यातवन्तः, तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥१०॥

कर्म और उपासना के वारेमें व्याख्यान किया। उनका यह परम्परागत आगम है यह यहां अर्थ है ॥१०॥

इस प्रकार हम विद्वानोंका वचन सुनते आ रहे हैं जिन आचार्योंने व्याख्या कर उस ज्ञान और कर्मको हमें बताया। "शुश्रुम" में परोक्षमें लिट् है। श्रोताओंमें बहुत सारे परोक्ष हैं। क्योंकि लम्वी परंपरासे हम सुनते आ रहे हैं। अतः अधिक परोक्ष होनेसे स्वयंमें भी लिट्का प्रयोग हो गया ॥११३-११४॥

भिन्नभिन्नफलं श्रुत्या साक्षात्प्रावोचि यद्यपि।
तथापि बह्वचः श्रुतयः प्राहुरेतत्तथा न हि ॥११५॥

बह्वचो हि श्रुतयः प्राहुरिति धीराः प्रचक्षते।
इत्येतच्छुश्रुम वयं श्रुत्यानन्त्यं तदीर्यते ॥११६॥

"कर्मणा पितृलोकः" "विद्यया देवलोकः" इस प्रकार श्रुति साक्षात् ही कह रही है ? तव आहुः ऐसे धीरोंके वचनको सुनते हैं कहनेका क्या मतलब ? यही कि यह एक श्रुति हुई। इस प्रकार अनेक श्रुतियां कहती हैं। सो वात धीरोंके मुखसे ही सुननेको मिली इससे सूचित होता है कि श्रुतियां अनन्त हैं। सभी सबके लिये उपलभ्य नहीं है ॥११५-११६॥

इति दशममन्त्रभाष्यवार्तिकम्

❀

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँसह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

कर्म तथा उपासनाको एक साथमें समुच्चयरूपसे जो करता है वह कर्मसे मृत्युको पारकर उपासनासे अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥११॥

यत एवमतः—विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः । यस्तदेतदुभयं सह एकेन पुरुषेणानुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एवैकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते-अविद्यया=कर्मणा-अग्निहोत्रादिना मृत्युं=स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा=अतिक्रम्य

चूंकी केवल कर्म या उपासनाका अनुष्ठान अज्ञानान्धकारमें प्रवेशका कारण है अतः प्रत्येकतत्परताको छोड़कर उपासना और कर्म एक पुरुषसे एक ही साथ अनुष्ठानयोग्य जो समझता है फिर समुच्चितरूपसे अनुष्ठान करता है उसका एक पुरुषार्थके साथ क्रमशः सम्बन्ध होता है । वही आगे कहते हैं–अग्निहोत्रादि कर्मसे स्वाभाविक ज्ञान और कर्मरूपी मृत्युको पारकर

प्रत्येकानुष्ठितेर्निन्दा समुच्चयविधित्सया ।
पृथक् फलं च कथितमधुना स विधीयते ॥१॥

समुच्चयविधानार्थं प्रथम प्रत्येकानुष्ठाननिन्दा तथा प्रत्येकानुष्ठानफल दोनों दिखाये । अब समुच्चयविधान करते हैं ॥१॥

नन्वेवं कर्मफलयोर्विधेयत्वाद् द्वयोरिह ।
वाक्यं भिद्येत चेत् सत्यं नास्ति गत्यन्तरं परम् ॥२॥

इस वाक्यसे यदि कर्मविधान मानेंगे तो फलविधान भी इसीसे मानना होगा और इस प्रकार वाक्यभेद होगा ठीक है यहां गत्यन्तर नहीं है । ॥२॥

यत्तु निन्दा पूर्वंकृता विधेयस्तुतितत्परा ।
स्तुत्या कल्प्यो विधिर्यो हि स्तूयते स विधीयते ॥३॥

तदसत् श्रौतमुत्सृज्य विधिं यो ह्यनुमित्सति ।
पिण्डमुत्सृज्य स करं लेढि मौढ्यादतत्त्ववित् ॥४॥

जो कहते हैं कि पहले असमुच्चयनिन्दा समुच्चयस्तुत्यर्थ है। स्तूयमानकी विधि भी मानी जाती है। अतः विधि अनुमेय है। वे हाथमें आये हुए मालपुआ फेंककर फिर हाथ चाटनेके बराबर काम करते हैं ॥३-४॥

अपाम सोमममृता अभूमेति श्रुतेर्विधिः ।
यागस्य कल्प्यतां सोमगुणो वाक्येन चोद्यताम् ॥५॥

और ऐसा भी मान लीजिये तो क्या हर्जा, कि "सोमेन यजेत" यह सोमगुणविधान है "अपाम सोमममृता अभूम" इस अर्थवादसे सोमयागकी विधि की कल्पना है ॥५॥

परपूक्ष्येषु ये दोषाः पूर्वमन्त्रे प्रदर्शिताः ।
तथैव ते प्रसज्यन्ते स्तुतिकल्प्यविधीप्सिनाम् ॥६॥

पूर्वमन्त्रकी व्याख्यामें ही मतान्तर निराकरणमें बताये गये दोष इनके मतमें भी प्रसक्त होते हैं ॥६॥

उपास्तिमपि कर्माणि समुच्चित्य करोति यः ।
क्रमेणैकपुमर्थस्य सम्बन्धस्तस्य जायते ॥७॥

उपासना और कर्मको समुच्चय करके जो करता है उसका क्रमिक एक फलके साथ अपना सम्बन्ध हो जाता है ॥७॥

स्वाभाविकतया नृणां भवन्ती ज्ञानकर्मणी ।
मृत्युशब्देन बोध्येते आद्यं तत्तरणं भवेत् ॥८॥

मनुष्यके जो स्वाभाविक ज्ञान और कर्म हैं ये ही मृत्युशब्दका यहां अर्थ है। प्रथम उसका तरण होगा ॥८॥

ननु कर्मोपास्तिकाले न स्तां स्वाभाविके उभे ।
तदा तत्तरणं नैव वक्तव्यं फलरूपतः ॥९॥

छिद्रेष्वतत्काले वा प्रसक्तिश्चेत्तयोर्मता ।
न ते वारयितुं शक्ये वचनेन कथंचन ॥१०॥

उत्तिष्ठतोरपि तयोः फलं नेत्यप्यसांप्रतम् ।
स्वाभाविकानां यन्नैव विद्यते कर्मणां फलम् ॥११॥

अनङ्गीकरणान्नृणामपुण्यापापकर्मणाम् ।
फलं भवेच्चेत्किं तर्हि प्रायश्चित्तं समुच्चयः ॥१२॥

जन्मान्तरसहस्रेषु कृतयोश्च कथं तयोः ।
समुच्चयो भवेद् हन्त विना ज्ञानं श्रुतीरितम् ॥१३॥

पूर्वपक्षः—उपासना और यागादि कर्मके कालमें स्वाभाविक चिंतन और कर्म प्राप्त ही नहीं है। अतः उस समय उसका तरण फलरूप नहीं हो सकता। यदि कहें कि उपासनादिके छिद्रमें (बीचमें) या अन्यकालमें स्वाभाविक ज्ञान-कर्म प्राप्त हैं तो उसका तरण समुच्चयसे संभव ही नहीं है। प्रत्यक्षसिद्धका वारण वचन नहीं कर सकता। यदि कहते हैं कि उपासनादिके बीचमें या आगे-पीछे जो स्वाभाविक ज्ञानकर्म होते हैं, समुच्चयके बलसे उनका फल नहीं होता, तो यह भी संगत नहीं। क्योंकि स्वाभाविक चलने-फिरने आदि कर्मोंका स्वर्गनरकादि कोई फल ही नहीं होता। समुच्चयका क्या उपयोग? उसपर यदि कहें कि अपुण्य और अपापरूप कोई कर्म ही नहीं है। अतः मनुष्यकृत स्वाभाविक कर्मका भी फल होता है तो आप यह बताईए कि इस समुच्चयको आप उसका प्रायश्चित्त मान रहे हैं? कुछ देरके लिये मान लीजिये तो इससे जन्मजन्मान्तरसहस्रकृत स्वाभाविक ज्ञानकर्मोंका वारण कैसे होगा? वह तो केवल औपनिषद तत्त्वज्ञानसे ही माना गया है ॥९-१३॥

अत्र केचिद् बुधाः प्राहुः पितृलोकादिकेऽपि च ।
स्वाभाविकं भवेज्ज्ञानं कर्म चाविदुषो दिवि ॥१४॥

परसम्पत्प्रकर्षादिजन्यदाहोऽतिदुःखदः ।
भवत्येवान्यथा तत्र न्यूनाधिक्यं कथं सुखे ॥१५॥

ज्ञानं चिन्तनरूपं तत् स्वाभाविकमुदीरितम् ।
देवदानवयुद्धादि कर्म स्वाभाविकं भवेत् ॥१६॥

न चाजानजदेवानामेव दैत्यैर्भवेद्रणम् ।
तत्पशूनां कुतस्तत्र न भवेत् सहभागिता ॥१७॥

ततश्च दुःखं स्यात्कर्मदेवानामपि दुर्धरम् ।
तरेत्तदुभयं दुःखं ज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥१८॥

यहां कुछ गुरुजन जवाब यही देते हैं कि पितृलोक देवलोकादिमें भी स्वाभाविक ज्ञानकर्म होते हैं। परसम्पदुत्कर्ष देखकर उन्हें दाह होती है। यह स्वाभाविक ज्ञान है। इसीसे स्वर्गमें सुखकी न्यूनाधिकता है। तथा स्वर्गमें देवदानव युद्धसे बड़ा क्लेश होता है यह स्वाभाविक कर्म है। यह शंका करे कि देवदानव युद्ध आजानज देवोंका होता है कर्मदेवोंका नहीं, तो समाधान है कि देवात्मभावरहित मनुष्य आजानज देवोंके पशु बनते हैं। जहां मालिक युद्धमें उलझते हैं वहां उनके पशु नहीं उलझेंगे क्या ? अतः कर्मजदेवोंको भी दुःख भयंकर होता ही है। समुच्चयकारी इस स्वाभाविक ज्ञान और स्वाभाविक कर्म दोनोंको पार करते हैं ॥१४-१८॥

अन्ये पुनरिदं प्राहुः स्वाभाविकमशास्त्रजम् ।
ज्ञानं कर्माखिलं नश्येत्समुच्चयविधायिनाम् ॥१९॥

न चैवं पुनरावृत्तिस्तेषां स्यान्नेति सांप्रतम् ।
शास्त्रोक्तानामपि शुभकर्मणां पापमिश्रणात् ॥२०॥

न च यज्ञीयहिंसादि विहितत्वान्न पातकम् ।
तथा च पापमिश्रत्वं पुण्यानां नेति सांप्रतम् ॥२१॥

क्रत्वर्थमपि हिंसादि संभवेद् दुःखकारणम् ।
पाकार्थोऽप्यनलः किं न हस्तदाहप्रयोजकः ॥२२॥

अत एवाब्रवीत्पार्थं भगवान् देवकीसुतः ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥२३॥

दूसरे गुरुजन ऐसी व्याख्या करते हैं कि समुच्चयानुष्ठानसे अनादि-कालप्रवृत्त सभी स्वाभाविक ज्ञान कर्म नष्ट होंगे। क्या तब उसकी पुनरा-वृत्ति नहीं होगी ? होगी। क्योंकि शास्त्रोक्त शुभकर्म पापमिश्रित होते हैं। मीमांसक कहेंगे कि यज्ञीय हिंसा आदि विहित होनेसे पाप नहीं है। अतः पुण्य पापमिश्र नहीं होता। परंतु क्रतूपकारक भी दुःखकारण हो तो इसमें बाधा क्या है ? क्या पाकार्थ अग्नि हस्तादि दाहकारण नहीं होती ? गीतामें भगवानका स्पष्ट कथन है कि सभी कर्म दोषोंसे वैसे आवृत है जैसे धुंएसे अग्नि ॥१९-२३॥

किं च क्रतौ नहि वदेदनृतं श्रुतिरब्रवीत् ।
यदि ब्रूयात्तदा तस्य नाशस्तेनैव नो भवेत् ॥२४॥

तथा सति निषेधस्य वैयर्थ्यं स्पष्टमीक्ष्यते ।
अङ्गवैगुण्यसत्त्वेऽपि नैष्फल्यं नैव कर्मणाम् ॥२५॥

किन्तु तत्र फलन्यौन्यं मिश्रितं फलमेव वा ।
अन्यथा कस्यचिदपि प्रवृत्तिः स्यान्न कर्मणि ॥२६॥

न हि सर्वाङ्गसाद्गुण्यसंपन्नं कर्म केनचित् ।
शक्यं कर्त्तुं मानवेन नैष्फल्यं किं नु तत्तदा ॥२७॥

अन्यथापानि नश्येयुर्विद्याऽविद्यासमुच्चितेः ।
न तु स्वगतपापानीत्यतो जन्मान्तरं भवेत् ॥२८॥

यत्तु नित्यादिभिः पूर्वपापानां विनिराकृतेः ।
संप्रत्यंहोऽकरणतो नैष्कर्म्यं लभते नरः ॥२९॥
तन्न पापविचारेण को न्वस्मिन् पापकर्मणा ।
विना जीवति संसारे मनुजो हतदूषणः ॥३०॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु निष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥३१॥
गच्छतः पुरुषस्य स्यात्पादाधोजन्तुहिंसनम् ।
अज्ञातं ज्ञातमेवाहो पापमेव तथाविधम् ॥३२॥
तस्मात्स्वाभाविकं सर्वं कर्म तर्त्तुं क ईश्वरः ।
समुचयेऽप्यपि नैवातः कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥३३॥

विहित हिंसादिको मीमांसामतानुसार कदाचित् पाप न भी माना जाय तो भी सर्वथा पापनिवृत्ति नहीं होगी। क्रतुमें असत्य न बोलों, प्राणिवध न करो इत्यादि बताया है। यदि यह सब हो जाय तो ? क्या उसी क्रतुसे उस पापका नाश होगा ? नहीं। वैसा होता तो निषेध करना बेकार हो जाता। यदि कहें कि वहां अंगवैगुण्य होनेसे क्रतुका फल ही नहीं होगा, सो बात नहीं, फलमें न्यूनता या मिश्रित फल हो सकता है। फल ही न हो तो वेदोक्त कर्मोंमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। क्योंकि सर्वांगसम्पन्न सर्वसद्गुणसम्पन्न कर्म सम्पादन करनेका कोई दावा नहीं कर सकता। वैसी स्थितिमें सभी कर्म निष्फल होने लगेंगे। अतः किंचित् अंगवैगुण्य होनेपर विगुण फल मिलता ही है यह मानना ही होगा। विद्याअविद्यासमु-

विद्यया—देवताज्ञानेन अमृतं—देवतात्मभावम् अश्नुते—प्राप्नोति तद्ध्यमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ॥११॥

देवतोपासनासे अमृत अर्थात् देवात्मभावको प्राप्त होता है। वही यहां अमृत पदसे कहा गया है जिसको देवात्मभावप्राप्ति कहते हैं ॥११॥

च्चयसे अन्य पाप भले नष्ट हो, पर स्वगत पाप नष्ट नहीं होंगे। अतः जन्मान्तर उसका होगा ही। कुछ कर्मकाण्डी मानते हैं कि नित्यादि कर्मसे पूर्वपाप नाश होगा। इस जन्ममें कोई पाप ही नहीं करना। तव कर्मसे ही मोक्ष होगा। किन्तु यह उनकी भूल है। क्योंकि सर्वथा पापविचार एवं पापकर्मके विना कोई जीवित नहीं रह सकता है। भगवान् गीतामें कहते हैं कि क्षणभर भी कोई कर्म किये विना नहीं रह पाता। प्रकृतिजगुणोंसे बलात् वह कर्ममें परवश हो प्रवर्तित होता है। स्वभावतः कोई चलने लगा। पांवके नीचे कई छोटे जंतु आ गये और मर गये। तो क्या पाप नहीं लगेगा ? अज्ञात हो या ज्ञात पाप तो पाप ही है। अतः स्वाभाविक पाप-चिन्तन और पापकर्मसे मुक्त कोई पुरुष हो ही नहीं सकता। अतः समु-च्चयी भी जन्म लेगा ही ॥२४-३३॥

परे पुनरिदं ज्ञानं कर्म चैव फलोन्मुखम्।
स्वाभाविकं प्रतरति ज्ञानकर्मसमुच्चयी ॥३४॥
अतथाभूतकर्मादि ज्ञानेनैव विनश्यति।
अतः समुच्चयी नैव कैवल्यं पदमश्नुते ॥३५॥
समुच्चयफलप्राप्तौ भोगेष्ववसितेष्वसौ।
पुनरुद्बुद्धसंस्कारप्राक्कर्मा लभते जनिम् ॥३६॥

सिद्धान्त यह है कि फलोन्मुख जो स्वाभाविक ज्ञान और स्वाभाविक कर्म है उसीको समुच्चयकारी नष्ट करता है। न कि अनादिकालसिद्ध ज्ञान और कर्मको। वह तो ज्ञानसे ही नष्ट होगा। अतएव समुच्चयानुष्ठा-नमात्रसे कैवल्यप्राप्ति नहीं होती। समुच्चयफल प्राप्त होनेके बाद जव भोग समाप्त हो जाता है तव पूर्वकालके संस्कार तथा अतिप्राचीन कर्म उद्बुद्ध होंगे और उससे उसका पुनर्जन्म होगा ॥३४-३६॥

विद्ययाऽमृतमश्नुते

यो हि देवात्मभावस्तदमृतत्वं निगद्यते।
न तु मोक्षो विना ज्ञानं मोक्षसंपत्त्यसंभवात् ॥३७॥

"विद्ययाऽमृतमश्नुते" यहां अमृतपदका देवात्मभाव अर्थ है, न कि मोक्ष। क्योंकि मोक्ष बिना ज्ञानके संभव नहीं है ॥३७॥

स्यात्समुच्चयवैयर्थ्यं कर्मणैवास्य संभवात्।
अपाम सोमममृता अभूमेति श्रुतत्वतः ॥३८॥

मैवं तत्रामृतत्वं तु कर्मणान्यादृशं भवेत्।
आभूतसंप्लवस्थानं तत्र विद्याऽसमुच्चयात् ॥३९॥

अत्र यद्दैवतोपास्तिस्तदात्मत्वेन संस्थितिः।
पशुभावेन वर्तन्ते देवानां कर्मिणो जनाः ॥४०॥

यदि यहां अमृतका मोक्ष अर्थ नहीं है तो समुच्चय व्यर्थ होगा। क्योंकि "अपाम सोमममृता अभूम" यहां सोमयागी भी अमृत प्राप्त करता है ऐसा बताया है। इस पूर्वपक्षका समाधान है कि आपेक्षिक अमृत भी नानाविध है। सोमयागसे जो अमृत होता है वह प्रलयपर्यन्त स्थित है। और समुच्चयफल अमृत तो जिस देवताकी उपासनाकी जाती है उस देवताके स्वरूपमें स्थित होना है। केवल कर्मी देवात्मभावसे नहीं किन्तु देवोंके पशु भावसे रहते हैं ॥३८-४०॥

ननूपास्तिकृतोऽप्येव पुंसस्तद्भेदधीजुषः।
पशुत्वमेव निर्भेदधियः कर्माऽफलं भवेत् ॥४१॥

उच्यते सोऽहमस्मीति वक्ष्यतेऽत्र उपासना।
समुच्चयविधिस्पृष्टा संमताऽभेदगोचरा ॥४२॥

न चैवं कर्मवैयर्थ्यं यतस्तेन विना नृणाम्।
सारूप्यादिकमेव स्यान्न तु देवात्मरूपता ॥४३॥

तदानीं च परोत्कर्षाद्युत्थक्लेशोऽपि दुर्हरः।
भूयस्तमःप्रवेशोक्तिरत एवोपपद्यते ॥४४॥

पूर्वपक्षः—उपासना भी यदि "अन्योऽसावन्योऽहं" भावनासे करेंगे तो पशुभाव ही प्राप्त होगा। यदि कहें कि सोऽहं भावसे उपासना यहां विवक्षित है तो कर्मसमुच्चय व्यर्थ है। क्योंकि उस उपासनाका फल देवात्मभाव ही है। चाहे कर्म करो या न करो। तत्क्रतुन्याय प्रसिद्ध है। इसका उत्तर यह

है कि भेदभावयुक्त उपासना यहां नहीं है "सोहमस्मि" ऐसा जो आगे बतायेंगे वही समुच्चयविधिविषयीभूत उपासना है। रही कर्मवैयर्थ्यकी बात। उसमें बात यह है कि विना कर्म उपासना करनेपर देवसारूप्यादि ही होगा। देवात्मभाव नहीं। वहां फिर परोत्कर्षदर्शननिमित्त क्लेशादि भी होंगे। अतएव "ततो भूय इव ते तमः" इस उक्तिकी उपपत्ति है ॥४१-४४॥

सारूप्याद्युपपत्त्यैव यत्क्रतुन्यायसंगतिः।
न हि यद्धरिणो ध्यातः स एव भरतोऽभवत् ॥४५॥

सारूप्यादिकी प्राप्तिसे ही यत्क्रतुन्याय गतार्थ होगा। भरतने जिस हरिणका ध्यान किया वही हरिण थोड़े ही वे बने? वे तो अन्य हरिण बने ॥४५॥

ननु सोऽहमिति ध्याने तदभेदोऽपि चिन्त्यते।
हरिणः सोऽहमित्येवं नाध्यायद्भरतो मुनिः ॥४६॥

मैवं सोऽहमिति ध्याने केवलं चिन्त्यतेऽभिदा।
न पुनर्दृश्यते तस्य प्रत्यक्षागोचरत्वतः ॥४७॥

अध्यक्षो हरिणादिस्तु ततस्तच्चिन्तनं नृणाम्।
अध्यक्षवद्भवेत्तेन तद्भाव उपपद्यते ॥४८॥

समुच्चयकृतोऽभेदप्रत्यक्षं जायते मृतौ।
तथा च वक्ष्यते तत्ते पश्यामीति श्रुतिः स्वयम् ॥४९॥

पूर्वपक्षः—उपासनामें सोऽहं ऐसा अभेदचिन्तन भी होता है। तब देवात्मभाव क्यों नहीं होगा? भरतने यह हरिण मैं हूं ऐसी अभेदभावना नहीं की। अतः वही हरिण नहीं बने। दूसरा हरिण हुए। इसका उत्तर यह है कि सोऽहं ऐसा चिन्तनमात्र उपासनामें हुआ। प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि देवाऽभेद प्रत्यक्ष नहीं है। हरिण प्रत्यक्ष था। अतः उसका चिन्तन प्रत्यक्ष-वत् हुआ। अतः हरिणभाव हुआ। समुच्चयकारीको मरणसमयमें अभेद-प्रत्यक्ष होता है। "सत्यधर्माय दृष्टये" "तत्ते पश्यामि" इत्यादि अग्रिम श्रुतिमें यह बात स्पष्ट है ॥४६-४९॥

ननु सूत्रात्मभावे हि पुनर्जन्म कथं भवेत् ।
सूत्रात्मा नैव लभते जन्म मुच्यत एव सः ॥५०॥

मैवं सूत्रात्मतादात्म्यमात्रमिष्टमुपासितुः ।
भागत्यागं विनाऽत्यन्तभेदो नास्त्यावबोधिकम् ॥५१॥

शंकाः—यदि सूत्रात्मभाव प्राप्त होता है तो वह मुक्त ही होगा। उसका पुनर्जन्म कैसे होगा ? क्योंकि सूत्रात्मा ब्रह्म ही है। वह कल्पान्तमें मुक्त होगा। तो तद्रूपापन्न समुच्चयकारी भी मुक्त होगा। नहीं। सूत्रात्माके साथ केवल तादात्म्य होता है। अत्यन्त अभेद नहीं। अत्यन्त अभेद तो ज्ञानप्रयोजक भागत्यागसे ही होगा। अतः समुच्चयी कृतार्थ नहीं होता ॥५०-५१॥

इत्येकादशमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳरताः ॥१२॥

वे अतिगहन तममें प्रवेश करते हैं जो केवल असंभूतिकी उपासना करते हैं और उससे भी गहनतम तममें वे पड़ जाते हैं जो केवल संभूतिकी उपासनामें लगे रहते हैं ॥१॥

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिम् । संभवनं संभूतिः । सा यस्य कार्यस्य सा संभूतिस्तस्या अन्याऽसंभूतिः प्रकृतिः कारणमविद्याऽव्याकृताख्या तामसंभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारण

अब व्याकृत (हिरण्यगर्भ) की और अव्याकृत (प्रकृति)की उपासनाओंके समुच्चयकी इच्छासे प्रत्येककी निन्दा करते हैं—

वे अज्ञानात्मक तममें प्रवेश करते हैं जो असंभूतिकी उपासना करते हैं। संभूति उत्पत्तिको कहते हैं। उत्पत्तिवाला भी संभूति कहलाता है। उससे अन्य प्रकृति ही असंभूति है। जिसको कारण, अविद्या, अव्याकृत आदि कहते हैं। उस काम और कर्मके बीजस्वरूप कारण अविद्या

व्याकृताव्याकृतोपास्ति समुच्चयविधित्सया ।
प्रत्येकोपास्तिनिन्देयं वेदेन क्रियतेऽधुना ॥१॥

व्याकृतोपासना और अव्याकृतोपासनाके समुच्चयविधानार्थ अब वेद प्रत्येक उपासनाकी निन्दा करता है ॥१॥

हिरण्यगर्भ इत्युक्तो व्याकृतो नामरूपतः ।
ताभ्यामव्याकृतं बीजमव्यक्तं प्रकृतिस्तथा ॥२॥

नामरूपसे व्याकृत हिरण्यगर्भ कहलाता है। नामरूपसे अव्याकृत बीजरूप अव्यक्त है जिसे प्रकृति कहते हैं ॥२॥

संभूतिः संभववती सोत्पत्तिः कार्यलक्षणा ।
असंभूतिस्तदन्या च प्रकृतिर्या चिदाश्रिता ॥३॥

यस्या नैवास्ति संभूतिरिति नात्र विगृह्यते ।
चतुर्थपादे संभूतेस्तद्वदर्थत्वनिश्चयात् ॥४॥

अविद्याऽसंभवादौ च नञस्तत्पुरुषो मतः ।
तस्मादत्रापि युक्तः स न बहुव्रीहिरिष्यते ॥५॥

यथैव विकृतिः शब्दो विकारवति वर्तते ।
महत्तत्त्वादिकं यस्मात् सांख्यैर्विकृतिरुच्यते ॥६॥

संभूतिका संभववाली ऐसा अर्थ है। उत्पत्तियुक्त कार्य यहां अर्थ है। और उससे अन्य चिदाश्रित प्रकृति असंभूति पदार्थ है। न विद्यते संभूतिर्यस्या ऐसा यहां विग्रह नहीं है। क्योंकि "संभूत्यां रताः" इस चतुर्थपादमें संभूतिका लक्षणया संभूतियुक्त अर्थ करना ही पड़ेगा। अविद्या असंभव आदिमें भी नञ्तत्पुरुष समास होनेसे यहांपर भी बहुव्रीहि अभिप्रेत नहीं है। जैसे विकृति शब्दका विकारयुक्त अर्थ होता है। अतएव सांख्यवाले महत्तत्त्वादिको विकृति कहते हैं वैसे यहां भी है॥३-६॥

ननु संभूतिरहितं ब्रह्म कस्मान्न गृह्यते ।
मैवं नोपासकस्तस्य विशेदन्धं तमो यतः ॥७॥

प्रकृतिस्तु तमोरूपा यो भवेत्तदुपासकः ।
सोऽन्धं तमः प्रविशति तद्युक्तं तत्क्रतुत्वतः ॥८॥

पूर्वपक्षः—संभूति (उत्पत्ति) रहित तो ब्रह्म भी है। अतः असंभूत्युपासनाका ब्रह्मोपासना अर्थ क्यों नहीं ? उत्तरः—ब्रह्मोपासक अन्ध तममें प्रविष्ट नहीं हो सकता। प्रकृति स्वयं तमोरूप होनेसे उसका उपासक तत्क्रतुन्यायसे तममें पड़ेगा यह युक्त ही है॥७-८॥

ननु ब्रह्मातिरिक्ता न काचित् प्रकृतिरिष्यते ।
ब्रह्मणः परिणामित्वं सुवर्णवदुपेयते ॥९॥

जातेऽपि कुण्डले हेम न नश्यति न जीर्यति ।
जातेऽपि जगति ब्रह्म न नश्यति न जीर्यते ॥१०॥

तन्न कृत्स्नप्रसक्तिः स्यात्तत्सावयवतोत वा ।
विरुद्धधर्माश्चेत्तत्र ते सिध्यन्ति मृषैव हि ॥११॥

भास्करादिका कहना है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त जगत्कारण कोई प्रकृति नहीं है। ब्रह्म सुवर्णके समान परिणामी है। कुण्डल उत्पन्न होनेपर भी सुवर्ण न नष्ट होता है और न जीर्ण ही होता है (अर्थात् निर्विकार

रहता है) वैसे जगत् पैदा होनेपर भी ब्रह्म न नष्ट होता है और न जीर्ण ही होता है। वह निर्विकार ही रहेगा। परन्तु उनका मत अयुक्त है। ब्रह्म यदि निरवयव हो तो पूरा ही ब्रह्म जगतरूपेण परिणत होगा तो शुद्ध ब्रह्म जगत्कालमें रहेगा ही नहीं। यदि कहें कि ब्रह्मका एकदेश जगतरूपेण परिणत होगा, शेष शुद्ध रहेगा तो ब्रह्मको निरवयव बताने वाली श्रुतिका व्याकोप होगा। यदि कहें कि ब्रह्ममें विरुद्ध धर्मसमावेश अंगीकार्य है, जगत भी रहेगा अतः परिणाम भी रहेगा और जगतका अभाव भी रहेगा अतएव शुद्ध भी होगा तो वे विरुद्ध धर्म मिथ्या ही सिद्ध होंगे ॥९-११॥

स्वाधारवृत्त्यभावीयप्रतियोगी मृषोच्यते ।
तद्धेतुश्चोच्यतेऽविद्या शुक्तिरूप्यादिहेतुवत् ॥१२॥

सा माया प्रकृतिश्चेति चिन्निष्ठेति श्रुतिर्जगौ ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥१३॥

अपने आश्रयमें अपना ही वस्तुतः अभाव हो तो वह मिथ्या कहलाता है। जगत ब्रह्ममें, उसीमें जगतका अभाव भी, तो जगत मिथ्या होगा। मिथ्या वस्तुका कारण अविद्या होती है। जैसे शुक्तिरूप्यका कारण शुक्ति-विषयक अविद्या है। वही अविद्या माया और प्रकृति कहलाती है। श्रुतिमें बताया है—माया प्रकृति है। मायाश्रय ईश्वर है ॥१२-१३॥

अनादृत्य श्रुतिमिमामाश्रित्यान्यार्थिकामुत ।
किं साधितं भवेद् विश्वसत्यत्वाभिनिवेशिना ॥१४॥

व्यावहारिकसत्यत्वं जगतो मन्महे वयम् ।
तावतैवोपपत्तौ किं साध्नोषीशसमं जगत् ॥१५॥

ईशवज्जगतोऽप्येव पारमार्थिकसत्यताम् ।
साधयन्नीशमुत्कर्षाच्च्यावयस्येव मोहतः ॥१६॥

"मायां तु प्रकृतिं" इस श्रुतिका अनादर कर या अन्यार्थ कर विश्व-सत्यत्वाभिनिवेशीने आखिर साधा क्या ? व्यावहारिक सत्यता हम मानते हैं। उतनेसे उपपन्न है। फिर ईश्वरतुल्य पारमार्थिकसत्तायुक्त माननेसे क्या लाभ ? ईश्वरके समान जगत भी पारमार्थिक सत्य है इसका मतलब यदि ईश्वरमें कोई अधिक सत्ता नहीं है तो यह फिर ईश्वरको उत्कर्षसे नीचे गिराना हुआ ॥१४-१६॥

न चेशसृष्टेर्मिथ्यात्वे निकर्षः स्यान्महेशितुः ।
व्यावहारिकसत्यत्वादुत्कर्षस्योपपत्तितः ॥१७॥

शुक्तिरूप्यादिकं जीवसृष्टं स्यात्प्रातिभासिकम् ।
उत्कृष्टमोशसृष्टं तु हट्टस्थं व्यावहारिकम् ॥१८॥

शंकाः—ईश्वरसृष्टि यदि मिथ्या हो तो ईश्वर में अपकर्ष होगा। उत्तरः—नहीं। व्यावहारिक होने मात्रसे उत्कर्ष उपपन्न है। जीवसृष्ट शुक्तिरूप्य प्रातिभासिक होता है। ईश्वरसृष्ट आपणस्थ रजत उससे उत्कृष्ट व्यावहारिक होता है ॥१७-१८॥

यादृशीं सत्यतां ब्रूषे तादृशीं मन्महे वयम् ।
यत् सत्यशब्दवाच्यार्थसत्यता व्यावहारिकी ॥१९॥

घटादि सत्यशब्दस्य वाच्यार्थं मनुते भवान् ।
लक्ष्यार्थं मन्महे ब्रह्म क्वासूया तत्र ते वद ॥२०॥

जगतकी जैसी सत्यता आप मानते हैं वही हम भी मानते हैं। सत्य-शब्दका वाच्यार्थ व्यावहारिक सत्यता है। घटादिको आप सत्यशब्दका वाच्यार्थ ही तो मानते हैं। हमने ब्रह्मको उसका लक्ष्यार्थ पारमार्थिक सत्य माना इसमें आपको क्यों असूया-ईर्ष्या है ? ॥१९-२०॥

कुतश्च परिणामित्वं वृथैवेशस्य मन्यसे ।
विनैव परिणामेन जगत्तत्र प्रजायताम् ॥२१॥

दृष्टान्तश्च सुवर्णादिर्व्यर्थमेव प्रदर्श्यते ।
ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्यादन्यथा भवसंभवात् ॥२२॥

और व्यर्थमें आप ईश्वरका परिणाम क्यों मानते हैं ? परिणामके विना ही जगत उसमें पैदा होने दो। सुवर्णकुण्डलादि दृष्टान्त भी निरर्थक है। ब्रह्म सर्वसमर्थ है। परिणामके विना प्रकारान्तरसे जगत् वहां उत्पन्न हो सकता है ॥२१-२२॥

संकल्पमात्रतः सर्वं योगीव जनयेद्ध्रुवम् ।
श्रुत्यादेरनुकूलत्वान्मृषा पूर्वोक्तलक्षणात् ॥२३॥

ज्ञानेन मृत्युमत्येति कैवल्यं ज्ञनमात्रतः ।
इत्यादिश्रुतिसांगत्यं भवेदज्ञानजे भवे ॥२४॥

मविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति ।

अव्याकृत नामवाली असंभूतिकी जो उपासना करते हैं वे तदनुरूप अदर्शनात्मक तममें प्रवेश करते हैं उससे भी बढ़कर तममें वे प्रवेश करते हैं

कर्मणा ध्वंसते सत्यं घटादिर्दण्डकर्मणा ।
ज्ञानेनापैति मिथ्यैव रज्जुज्ञानाद्यथोरगः ॥२५॥

ब्रह्मणः परिणामोऽतो नेदं जगदिति स्थितम् ।
तदाश्रिता जनयति तामसी प्रकृतिर्भ्रमम् ॥२६॥

प्रकारान्तर क्या ? ब्रह्म संकल्पमात्रसे योगीके समान जगतको उत्पन्न करेगा । "तदैक्षत" इत्यादि श्रुति भी इसमें अनुकूल है । सर्वथापि "स्वाधारगतात्यन्ताभावप्रतियोगी मिथ्या" यह लक्षण होनेसे जगत मिथ्या ही है । "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इत्यादि श्रुति भी जगत अज्ञानजन्य हो तो ही संगत होती है । सत्य घटादिकी निवृत्ति दण्डप्रहार रूपी कर्मसे होती है । मिथ्या रज्जुसर्पादिको निवृत्ति ज्ञानसे होती है । ज्ञानसे कैवल्य केवलभाव अद्वैतभाव होता है, इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाननिवर्त्य द्वैत मिथ्या है । फलतः जगत ब्रह्मका परिणाम तो नहीं ही । ब्रह्माश्रित प्रकृति ही जो तमोरूप है, जगतको उत्पन्न करती है ॥२३-२६॥

तमस्यन्धे प्रवेशोक्तेरत्रासंभूतिशब्दतः ।
न ब्रह्म गृह्यते किन्तु ग्राह्या प्रकृतिरेव सा ॥२७॥

प्रकृतमें अन्धतममें प्रवेशकथनसे असंभुतिशब्दसे ब्रह्म ग्राह्य नहीं किन्तु प्रकृति ही ग्राह्य है ॥२७॥

अन्धं....तिमुपासते

प्रविशन्ति तमोऽन्धं ते प्रकृतिं य उपासते ।
अविद्योपासकस्यान्धतमसं युज्यते फलम् ॥२८॥

अदर्शनात्मिका कामकर्मबीजात्मिका हि सा ।
अदर्शनात्मकं चैव तमोऽन्धं फललक्षणम् ॥२९॥

ततः—तस्मादपि भूयः—बहुतरमिव ते तमः प्रविशन्ति य उ संभूत्यां—कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥१२॥

जो संभूति अर्थात् कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं ॥१२॥

वे अन्धतमसमें प्रवेश करते हैं जो प्रकृतिकी उपासना करते हैं। अविद्योपासकका अन्धतमप्रवेश फल युक्त ही है। क्योंकि अविद्या अदर्शनरूपिणी है, कामकर्मबीज है। फल भी उसीके अनुरूप अदर्शनरूप अन्धतम है ॥२८-२९॥

ननु वस्तुस्थितिमिमां जानन्तः प्रकृतिं कथम्।
उपासीरन् फलं तद्धि यत्क्रतुन्यायतः स्थितम् ॥३०॥

सत्यमन्धं तमो नैव विदन्ति तदुपासकाः।
परमानन्दमेवेमं पुमर्थं येऽनुशुश्रुवुः ॥३१॥

मद्यपो मद्यजोन्मादं नोन्मादं गणयत्यसौ।
किन्तु तं परमानन्दं वेद दुःखावरोधनम् ॥३२॥

प्रकृति अन्धतमोरूपिणी है। उसका उपासक यत्क्रतुन्यायसे अंधतमको प्राप्त होगा इस वास्तविकताको जानते हुए लोग प्रकृतिकी उपासना कैसे करते हैं? सुनो। प्रकृतिके उपासकको यह सिखाया ही नहीं जाता कि वह अन्धतमरूप है। प्रकृतिलयको परमानन्द पुरुषार्थ ही समझाया जाता है। मद्य पीनेवाला मद्योत्पन्न उन्मादको उन्माद थोड़े ही समझता है। वह तो सर्वदुःखनिवारण परमानन्द ही उसे समझता है ॥३०-३२॥

ततो भूय इव.................रताः

प्रकृत्युपास्तिजाद् भूयः प्रविशन्ति तमो नराः।
हिरण्यगर्भे संभूतौ कार्यब्रह्मणि ये रताः ॥३३॥

प्रकृतिकी उपासनासे जो परिणाम तमःप्रवेश बताया उस तमसे बढ़कर तममें वे पड़ जाते हैं जो संभूति—कार्यब्रह्म-हिरण्यगर्भकी उपासनामें रत हैं ॥३३॥

ननु च प्रकृतिस्तावदविद्येति निवेदितम्।
प्राप्नुयात्तत्क्रतुन्यायात्तामेव तदुपासकः ॥३४॥

ततो भूयस्तमो नैव प्रसिद्धं तत्फलं कथम् ।
अप्रसिद्धार्थमादाय कथं निन्दोपपद्यते ॥३५॥

किं च न्यूनस्य हि न्यूना भूयसो भूयसी तथा ।
युज्यते वदितुं निन्दा ह्यविद्याविद्ययोर्यथा ॥३६॥

विद्या हि भूयसी तस्या निन्दा चाकारि भूयसी ।
तथाऽसंभूतिभूयस्त्वान्निन्दा तुल्यैव युज्यते ॥३७॥

पूर्वपक्षः—असंभूति प्रकृतिको अर्थात् अविद्याको कहते हैं। तत्क्रतु-न्यायसे अविद्योपासक अविद्याको प्राप्त होगा। अविद्यासे बढ़कर कौनसा तम है जो संभूतिका फल हो। अप्रसिद्ध अर्थको लेकर निन्दा भी कैसे संभव है? दूसरी वात यह है कि छोटेकी छोटी निन्दा और बड़ेकी वड़ी निन्दा उचित है। जैसे पूर्वमें अविद्या और विद्यामें। अविद्याकी अल्प निन्दा और विद्याकी अधिक निन्दा है। वैसे संभूतिकी अल्प निन्दा और असंभूतिकी अधिक निन्दा उचित होती है ॥३४-३७॥

मैवं नात्र विधेयस्य लाघवाद् गौरवादुत ।
निन्दापि लघ्वी गुर्वी वा क्रियते किन्तु युक्तितः ॥३८॥

वर्धते देहिनां रागो भृशं वैषयिकात् सुखात् ।
हिरण्यगर्भलोके च स्थितं वैषयिकं सुखम् ॥३९॥

तमसस्तेन भूयस्त्वं ब्रह्मलोके न संशयः ।
प्रवृत्यदृष्टजन्मादिचक्रहेतुरयं यतः ॥४०॥

पुंसः प्रकृतिलीनस्य सौषुप्तसुखवत्सुखम् ।
रागद्वेषादयो नात्र विद्यते नापि वासना ॥४१॥

भूयस्त्वं तमसस्तत्र तमस्यपि न विद्यते ।
तत्र संचितसंस्कारसत्त्वमित्यन्यदेव तत् ॥४२॥

जन्मान्तरं भवेदेव द्वयोरपि न संशयः ।
वासनाधिक्यतः कार्योपासकस्याधिकं तमः ॥४३॥

अत एव पुरा प्रोक्तं विद्याया अधिकं तमः ।
भोगाधिक्याद् भवेत्तत्र वासनाधिक्यमित्यतः ॥४४॥

समुच्चयी तु सूत्रात्मभावं समुपगच्छति ।
ईर्ष्याद्वेषादिविरहात्तमःपातोऽस्य नोच्यते ॥४५॥

उत्तरः—यहां विधेयके लाघव या गौरवसे निन्दाकी लघुता या गुरुता नहीं। किन्तु योग्यतानुसार है। यह बात प्रसिद्ध है कि वैषयिकसुखकी प्राप्तिसे रागकी वृद्धि होती हैं। हिरण्यगर्भके लोकमें भी वैषयिक सुख है। अतएव राग विशेषरूपसे होनेके कारण ब्रह्मलोकगामीका तम भारी होता है। रागसे पुनः प्रवृत्ति, पुनः पुण्यापुण्य, पुनः जन्म यह चक्र चलेगा ही। परन्तु प्रकृति उपासनासे जो प्रकृतिलीन होगा उसमें यह बात नहीं होती। वहांपर सुषुप्तिसुखके समान सुख होता है। उसमें रागद्वेषादि नहीं होते। और वासना भी नहीं होती। अतएव तम होनेपर भी तमकी अधिकता नहीं है। यद्यपि प्रकृतिलीनकी भी पूर्वसंचित वासना नष्ट नहीं होती। परंतु यह दूसरी बात हो जाती है। प्रकृतिलयप्रयुक्त नयी वासना तो वहां नहीं है। वैसे तो हिरण्यगर्भलोकगत तथा प्रकृतिलीन दोनोंका जन्मान्तर निश्चित है। किन्तु हिरण्यगर्भोपासककी वासना अधिक होनेसे तम अधिक बताया गया। इसी कारणसे ही विद्याअविद्याप्रकरणमें भी विद्योपासकका अधिक तम कहा। क्योंकि देवलोकका अधिक भोग और अधिक वासना स्पष्ट है। प्रश्न होगा कि विद्याविद्यासमुच्चयकारी भी तो देवलोक ही जायेगा। वल्कि प्रत्येककारीसे अधिक भोग प्राप्त करेगा तो उसका भूयो भूयः अन्ध तम होना चाहिये। तो उसका उत्तर यह है कि नहीं। समुच्चयकारी सूत्रात्मभावको प्राप्त करेगा। तव परसम्पदुत्कर्षादि न होनेसे द्वेषईर्ष्यादिके लिये स्थान नहीं रहेगा। अतः उसका तमःपतन नहीं कहा जाता है ॥३८-४५॥

विशिष्टाद्वैतिनः संभूत्यसंभूतिपदद्वये ।
कार्यब्रह्मप्रकृत्यर्थाप्रसिद्धिमभिमन्वते ॥४६॥

ब्रह्माभिसंभवतस्तस्मात् संभूतिपदशब्दितः ।
असंभूतिस्तदासन्ना प्रतिबन्धहतिर्भवेत् ॥४७॥

संभूतिं च विनाशं चेत्युक्तो नाशस्ततोऽग्रतः ।
असंभूतिर्विनाशस्तत्प्रतिबन्धककर्मणाम् ॥४८॥

यद्वा संभूतिरत्र स्यादर्चिराद्ययनार्थयुक् ।
संभूतिभिन्नास्तत्रोक्ता असंभूतिपदास्पदाः ॥४९॥

विशिष्टाद्वैतवादियोंका कहना है कि संभूतिपदका कार्यब्रह्म और असंभूति पदका प्रकृति अर्थ अप्रसिद्ध है। अतः संभूतिपदका श्रुतिप्रसिद्ध ब्रह्माभिसंभव अर्थ है और असंभूतिपदका वहीं पर आसन्न प्रतिबन्धकनाश अर्थ है।" संभूतिं च विनाशं च" यहां विनाशशब्द आया है अतः प्रतिबन्धककर्मविनाश अर्थ उचित है। अथवा संभूतिपदका अर्चिरादिमार्ग अर्थ है। और संभूतिभिन्न कर्मनाशादि असंभूतिपदार्थ है ॥४६-४९॥

तदसन्नहि संभूतेर्ब्रह्मप्राप्त्यर्थरूढता।
न वार्चिरादिमार्गार्था तथाऽसंभूतिरेव च ॥५०॥

कथं चाभ्युपसृष्टायाः प्रत्यभिज्ञा भवेदिह।
जन्मार्थे संभवामीति प्रयोगाणां स्थितेरपि ॥५१॥

न सकर्मकता धातोर्ब्रह्मप्राप्त्यर्थता यतः।
घटादिप्राप्तिरप्येवमुपास्या स्याद्भवन्मते ॥५२॥

न चामृतफलप्राप्तिवचनान्न तथार्थता।
कुतो न ब्रह्मसंभूतिदर्शनेन कृतार्थता ॥५३॥

दृश्यते किल विष्ण्वादिस्तदुपास्त्या न लभ्यते।
वचनादमृतप्राप्तिरुभयोश्च समा भवेत् ॥५४॥

उक्त मत असंगत है। संभूति शब्दकी ब्रह्मप्राप्ति अर्थमें रूढ़ि नहीं है। तथा अर्चिरादिमार्ग अर्थ भी अप्रसिद्ध है। यही बात असंभूतिपदमें भी है। "ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" इत्यादिमें "अभि" उपसर्ग है। अतः उसकी प्रत्यभिज्ञा भी यहां नहीं है "अभि"के विना "संभवामि युगे युगे" इत्यादिमें जन्म अर्थ ही प्रसिद्ध है। "संभवति" धातु सकर्मक न होनेसे ब्रह्मप्राप्ति अर्थ होगा भी कैसे ? फिर कर्मनिर्देशके विना "संभूत्यां रताः" यहां ब्रह्मसंभूति अर्थ है कि घटपटादिसंभूति अर्थ है यह निर्णय किस प्रकार ? (लक्षणा माननेपर कौनसी विशेषता आपकी हुई ?) यदि कहें कि अमृतफलकी प्राप्ति घटादिसंभूतिकी उपासनासे नहीं होगी, अतः ब्रह्मसंभूति अर्थ है तो उत्तर है कि ज्यादासे ज्यादा ब्रह्मसंभूति उपासनासे ब्रह्मसंभूतिका दर्शन होगा ब्रह्मप्राप्ति कैसे होगी ? वह ब्रह्मप्राप्ति जिस किसीका भी हो। विष्णुआदिकी उपासनासे विष्णुदर्शन होगा। विष्णु आपके अधीन नहीं होते। अमृत मोक्षको कहते हैं। वह मुक्तका स्वत्व होता है। "संभूत्यामृत-

मश्नुते" इस वचनके बलसे मोक्षप्राप्ति मानते हैं तो वचनबलसे घटसंभूत्यादि उपासनासे भी अमृतप्राप्ति क्यों नहीं ? ॥५०-५४॥

ब्रह्मोपास्तौ प्रवाच्यायां केयं तत्प्रप्त्युपासना ।
मोक्षसाधनविद्याङ्गमिति स्वश्रवणाद्धतम् ॥५५॥

ब्रह्मप्राप्तिके लिये ब्रह्मोपासनाका विधान न कर ब्रह्माभिसंभवोपासना यह क्या बला है जिसका विधान किया जा रहा है। कुछ लोग मोक्षसाधन विद्याका अंग ब्रह्माभिसंभवानुसंधान है ऐसा मानते हैं। परंतु "संभूतिं च विनाशं च" इत्यादिमें मुख्यकर्मविधान स्पष्ट है। इसे अंगोपासना मानना श्रुत्यादिप्रमाणशून्य होनेसे व्यर्थ ढोल पीटना ही है ॥५५॥

ननु प्रकरणादेव विद्याङ्गमिति लभ्यते ।
विद्या पूर्वोदिता सा च ब्रह्मविद्येत्युदीरितम् ॥५६॥

तदसद् यदि विद्याङ्गं फलश्रुतिरनर्थिका ।
अभ्यासात्कर्मभेदश्च शक्यो वारयितुं कथम् ॥५७॥

मुख्यं कर्म भवेद्दर्शपूर्णमासौ ततः परम् ।
तदङ्गं सोमयागादीत्यपि किं न ब्रवीषि भोः ॥५८॥

न चोभयोरिह फलममृतं नैव भिद्यते ।
स्वर्गकामो यजेतेति तत्राप्येव समानता ॥५९॥

कल्प्या स्वर्गभिदा तत्र कर्मभेदादितीष्यते ।
अन्योन्याश्रयतादोषः कथमेव निवार्यताम् ॥६०॥

कल्प्याऽमृतभिदाप्येवं कथं नोपास्तिभेदतः ।
अपाम सोमममृता अभूमेत्यत्र का गतिः ॥६१॥

यागाङ्गत्वे स्थिते जुह्वा अर्थवादः फलश्रुतिः ।
फलश्रुत्यर्थवादत्वं मत्वाङ्गं मनुषे त्विह ॥६२॥

पूर्वपक्षः—यद्यपि अङ्गाङ्गिभावबोधक श्रुतिप्रमाण यहां नहीं है। तथापि प्रकरणप्रमाणसे संभूत्युपासना विद्याङ्ग होगी। "विद्यां चाविद्यां च से ब्रह्मविद्याविधान हो गया। अतः उसका अंग संभूत्यादिकी उपासना होगी। उत्तरः—संभूत्यादि उपासना विद्यांग होगी तो "विनाशेन मृत्युं

तीर्त्वा" इत्यादि फलश्रुति निरर्थक होगी। पूर्वतन्त्रमें शब्दान्तर अभ्यासादिको कर्मभेदप्रयोजक माना है। यहांपर भी "यस्तद्वेदोभयं सह" ऐसा अभ्यास होनेसे कर्मभेदवारण कैसे होगा ? आपकी युक्तिके अनुसार "इषे त्वोर्जे त्वा" आदिसे प्रथमोक्त दर्शपूर्णमास मुख्यकर्म है शेष सोमयागादि सभी उसके अंग है ऐसा माननेमें क्या हर्जा है ? यदि कहो कि यहां अमृतफल समान है, अतः उपासनाभेद नहीं तो पूर्वकाण्डमें भी सर्वत्र "स्वर्गकामो यजेत" ऐसा स्वर्गफल बताया है। यदि कहते हैं कि स्वर्ग भिन्न भिन्न है क्योंकि कर्म भिन्न भिन्न है तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। फलभेदसे कर्मभेद सिद्ध होगा कर्मभेद सिद्ध होनेपर फलभेदकल्पना होगी। फिर यहांपर भी अमृतफलभेदकी कल्पना करनेमें क्या तकलीफ है ? (सिद्धान्तमें अमृतभेद किया ही है।) अपाम सोमममृता अभूम यहां भिन्न अमृतफल सबको मान्य करना ही पड़ता है। जुहू यागाङ्ग है यह सिद्ध होनेपर "न स पापं श्लोकं शृणोति" यह फलश्रुति सर्थवाद मानी गयी है। यहां तो अमृतफल अलग न होनेसे फलश्रुति अर्थवाद है ऐसा सिद्धकर संभूति आदिकी उपासनाको अंग मान रहे हो यह उलटा है ॥५६-६२॥

ईशावास्यमिति प्रोक्तविद्याङ्गमिदमित्यपि ।
एतेनैव निरस्तं स्याद्वैपरीत्यप्रसक्तितः ॥६३॥

फलं पूर्वमविस्पष्टमत्र च स्पष्टमुच्यते ।
संभूत्युपास्तेरङ्गं स्यादीशावास्यमितीरिता ।६४।

"विद्यां चाविद्यां" से प्रोक्त नहीं, किन्तु ईशावास्यंसे प्रोक्त विद्या मुख्य है। और संभूत्युपासनादि अंग है ऐसा मानें तो वह भी पूर्वोक्तयुक्तिसे निरस्त हो जाता है। दूसरा वैपरीत्य भी होने लगेगा। "न विजुगुप्सते" इत्यादि फलकथन पूर्वमें स्पष्ट नहीं है। "अमृतमश्नुते" यह स्पष्ट फलकथन है। तब "फलवसंनिधावफलं तदङ्गं" इस न्यायसे संभूत्याद्युपासना का अंग "इशावास्यं" से बतायी हुई विद्या होगा ॥६३-६४॥

देवानां प्रथमो ब्रह्मा संबभूवेति या श्रुता ।
संभूतिर्ब्रह्मणः सैव कस्मादत्र न गृह्यते ॥६५॥

प्रथमत्वात्ततः पूर्वा चासंभूतिरसंशयम् ।
सा च प्रकृतिरेवेति कथं नामाऽप्रसिद्धता ॥६६॥

यदि आपको संपूर्वक भूधातुकी श्रुति ही ढूंढनी है तो अभि उपसर्गके विना ही " ब्रह्मा देवानां प्रथमः संवभूव" यह श्रु ति है। वही ब्रह्मसंभूति यहांपर क्यों नहीं लेते ? "प्रथमः" इस विशेषणसे उससे पूर्व संभूति नहीं यह अर्थ निकलता है। उसीको असंभूति मान सकते हैं। ब्रह्माकी उत्पत्तिसे पहले प्रकृति ही है। उसकी उपासना असंभूत्युपासना होगी ॥६५-६६॥

वाचं समभवच्छ्रुत्यां विद्यते व्याकृतार्थता।
स संवत्सर इत्युक्तेः कार्यब्रह्मापि लभ्यते ॥६७॥

"सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं समभवत्" इत्यादि उपक्रम कर "तद्यद्रेत आसीत् स संवत्सरोऽभवत्" इस प्रकार श्रु तिमें बताया है। अर्थात् यहां प्रथम वाक्प्राकट्य और बादमें संवत्सररूप प्राकट्य कहनेसे नामरूपव्याकरण सूचित होता है। संवत्सरप्रजापति ही हिरण्यगर्भ है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" ऐसी श्रु ति है। अतः "समभवत्" श्रु तिसे प्राप्त संभूति हिरण्यगर्भ ही है ॥६७॥

जैमिनीये च संभूतिं रेत उक्त्वा हिरण्मयम्।
तदुत्थितं जगादातः संभूतिर्हि हिरण्मयः ॥६८॥

जैमिनीय ब्राह्मणमें स्पष्टतर है। वहां संभूतिको रेत कहकर उससे उत्पन्नको हिरण्मय कहा हिरण्मय ही हिरण्यगर्भ है ॥६८॥

स वै शरीरी प्रथमस्तत्पूर्वं प्रकृतिः स्थिता।
सैवासंभूतिशब्देन तदासन्नोपलभ्यते ॥६९॥

हिरण्यगर्भको प्रथम शरीरी बताया। अतएव पूर्व असंभूति निश्चित है। संभूतिसे आसन्न असंभूति वही प्रकृति है। इसलिये अप्रसिद्धार्थकथन अज्ञानप्रयुक्त है ॥६९॥

नारायणाद्युपास्त्यैव मोक्षं शिष्यान् प्रशासताम्।
ब्रह्मप्राप्त्याद्युपास्तीनां विद्याङ्गत्वं महाद्भुतम् ॥७०॥

नारायणादिकी उपासनासे ही मोक्ष होता है यह बात अपने शिष्योंको समझाकर श्रु तिकी व्याख्या करते समय ब्रह्मसंभवोपासना अर्चिरादिमार्गोपासना आदिको मोक्षसाधन विद्याङ्ग सिद्ध करनेका प्रयास करना कैसे महाश्चर्यकी बात है ? निश्चित ही यह परवञ्चना है ॥७०॥

इति द्वादशमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे । १३

संभूति उपासनासे अन्य ही फल बताया है और असंभूति उपासनासे भी अन्य ही फल बताया है। ऐसे विद्वानोंका हम वचन सुनते आ रहे हैं जिन्होंने इस विषयमें व्याख्याकर हमें बताया ॥१३॥

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह— [अन्यदेवेति] अन्यदेव=पृथगेवाहुः फलं संभवात्=संभूतेः कार्यब्रह्मोपासनाद् अणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ।

अब उक्त दो उपासनाओंके समुच्चयका कारण प्रत्येकका फलभेद कहते हैं—कार्यब्रह्मकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप विलक्षण ही फल बताया है।

उपासनाद्वयस्याथ समुच्चयनकारणम् ।
प्रत्येकस्योपासनस्य फलमाह पृथक् पृथक् ॥१॥

संभूति उपासना और असंभूति उपासनाका समुच्चयविधान करनेमें कारणीभूत प्रत्येक उपासनाका पृथक्-पृथक् फल कह रहे हैं ॥१॥

अविद्या कर्म विद्या चोपास्तिः पूर्वमुदीरिता ।
यथाश्रुतार्थः साध्यत्वादुभयोरुपपद्यते ॥२॥
संभवासंभवौ नैव साध्यौ तेनात्र लक्षणा ।
संभवासंभवोपास्ती तथा चात्र विवक्षिते ॥३॥

पूर्वप्रकरणमें अविद्याका कर्म और विद्याका उपास्ति अर्थ सीधा हुआ। क्योंकि कर्म और उपासना साध्य होनेसे ऐसा अर्थ उपपन्न है। इस मन्त्रमें आये हुए संभूति और असंभूति साध्य नहीं है। अतः लक्षणया संभूतिका संभूति उपासना और असंभूतिका असंभूति उपासना अर्थ विवक्षित है ॥२-३॥

अन्यदेवाहुः संभवात्

अन्यदेव फलं प्राहुः श्रुतिवाक्यानि संभवात् ।
अणिमादिकमैश्वर्यं संभवोपास्तितो भवेत् ॥४॥

संभवसे अर्थात् संभूति उपासनासे श्रुतिवाक्योंने अन्य ही फल अर्थात् अणिमादिक ऐश्वर्यकी प्राप्ति फल बताया है ॥४॥

ऐश्वर्यधर्मवैराग्यविज्ञानफलतां परे।
तच्चिन्त्यं पुनरावृत्तिविरहस्य प्रसङ्गतः ॥५॥

तथा च निन्दा पूर्वत्र नोपपद्येत या कृता।
तस्मादैश्वर्यमात्रं स्यात्संभवोपासनाफलम् ॥६॥

अणिमा महिमा प्राप्तिर्लघिमा गरिमेशिता।
प्राकाम्यं च वशित्वं चेत्यष्टैश्वर्यमुदीरितम् ।७॥

कुछ लोग ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्य और विज्ञान इन चारोंकी प्राप्ति फल है ऐसी व्याख्या करते हैं। परन्तु वह व्याख्या समीचीन प्रतीत नहीं होती। ज्ञान और वैराग्य हुआ तो पुनरावृत्ति नहीं होगी। और "अन्धं तमः प्रविशन्ति" इत्यादि पूर्वकृत निन्दा उपपन्न नहीं होगी। अतः ऐश्वर्य-मात्र फल उचित है। अणिमा, महिमा आदि आठ ऐश्वर्य प्रसिद्ध हैं ॥५-७॥

ननु चाधर्मकामादिदोषजातनिराकृतिः।
वक्ष्यते भाष्यकारेण ग्राह्यमज्ञानमादिना ॥८॥

मैवं क्वाचित्कपाठः स भाष्ये सर्वत्र नेक्ष्यते।
उत्कटाधर्मकामादिराहित्यपरमेव वा ॥९॥

शंकाः—अग्रिम मन्त्रके भाष्यमें अनैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा लिखा है। आदिपदसे अज्ञान ग्राह्य है। तब ऐश्वर्य, धर्म अकाम (वैराग्य), ज्ञान इन चारकी प्राप्ति अर्थतः सिद्ध है। समाधानः—वह भाष्यपाठ सार्वत्रिक नहीं है। यदि ऐसा भाष्यपाठ है तो उत्कट अधर्म, काम एवं अज्ञानका तरणमात्र अर्थ समझना चाहिये ॥८-९॥

निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेणाऽऽवृत्तिशालिना।
गतागतविहीनेन शोभनेन पथा नय ॥१०॥

इत्यग्ने नय मन्त्रस्य भाष्ये यद्यपि विद्यते।
तथापि तत्र वैराग्यं नोत्कटं दर्शितं भवेत् ॥११॥

राये धनाय सत्कर्मफलभोगाय मां नय।
इति तत्रैव विस्पष्टं भोगेच्छा दर्शिता यतः ॥१२॥

यद्यपि "अग्ने नय सुपथा" इस मन्त्रके भाष्यमें बताया है कि हे अग्ने ! मैं गतागतयुक्त दक्षिणमार्गसे विरक्त हो गया हूँ। अब मुझे गमनागमनरहित उत्तरमार्गसे ले चलो। यहाँ वैराग्य दिखाया है। तथापि वहाँपर भी

तथा चान्यदाहुरसंभवाद् = असंभूतेः = अव्याकृताद् = अव्याकृतोपासनाद्, यदुक्तम्:—"अन्धं तमः प्रविशन्ति" इति, प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यते ।

तथा असंभूति यानी अव्याकृतकी उपासनासे विलक्षण ही फल होता है। जिसे यहाँ "अन्धं तमः प्रविशन्ति"से बताया, पौराणिकोंने प्रकृतिलय शब्दसे बताया।

उत्कट वैराग्य नहीं दिखाया। कारण वहीं पर आगे बताया है कि—राये= कर्मफलभोगके लिये मुझे उत्तरमार्गसे ले चलो। भोगेच्छा वहाँ प्रदर्शित हुई है ॥१०-१२॥

गमनागमने नैव ह्मीयेते ब्रह्मलोकिनः।
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनो यतः ॥१३॥

इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त इति श्रुतौ।
इमंविशेषणादन्यकल्पेष्वावृत्तिरिष्यते ॥१४॥

ब्रह्मलोक जानेवालेका गमनागमन सर्वथा निवृत्त नहीं होता। अतएव गीतामें ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी पुनरावृत्तिसहित बताया। श्रुतिमें "इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" यहाँ इमं विशेषण दिया है। इस कल्पमें पुनरावृत्ति नहीं होगी। कल्पान्तरमें तो आवृत्ति होगी ही ॥१३-१४॥

ये तु वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितपरैक्यकाः।
केनचित्प्रतिबन्धेन यतयोऽकृतदर्शनाः ॥१५॥

ते गत्वा ब्रह्मलोकेषु प्रतिबन्धविनिर्हृतौ।
साक्षात्कृतपरात्मानो नावर्तन्ते न चेतरे ॥१६॥

ब्रह्मलोकसे कौन निवृत्त नहीं होते—जो यहींपर वेदान्तके श्रवण-मननादिसे जीवात्मपरमात्मैकताको निश्चित कर चुके, किन्तु किसी प्रतिबन्धसे आत्मदर्शन नहीं कर सके ऐसे यति ब्रह्मलोक जाकर प्रतिबन्ध-निवृत्त होनेपर परमात्मदर्शन करते हैं और पुनरावृत्त नहीं होते। दूसरे ब्रह्मलोकगामी ऐसे नहीं होते ॥१५-१६॥

अन्यदाहुरसंभवात्
अव्याकृतोपासनाच्च फलमन्यदुदीरितम्।
अन्धं तमो विशन्तीति यः प्रोक्तः प्रकृतौ लयः ॥१७॥

अव्याकृतोपासनाका फल अन्य ही बताया गया है। वह फल कौनसा है? जिसे "अन्धं तमः प्रविशन्ति" इसप्रकार पूर्वमन्त्रमें बताया वही यह फल है। अर्थात् प्रकृतिलय फल है ॥१७॥

ननु निन्दात्मना पूर्वमन्धं तम इतीरितम्।
तदेव संप्रति कथं फलरूपेण भण्यते ॥१८॥

उच्यते शब्दशक्तिर्हि नानारूपा विराजते।
तेन निन्दा यथार्थेऽपि शब्दशक्त्या प्रतीयते ॥१९॥

अस्त्यज्ञानं तवेत्युक्ते पारमार्थ्यं प्रतीयते।
मूढोऽसीत्युदिते निन्दाभर्त्सनाद्यवगम्यते ॥२०॥

मद्यपो माद्यमुन्मादं नोन्मादत्वेन मन्यते।
उन्मत्तोऽसीति गदितो निन्दां स्वामवगच्छति ॥२१॥

मद्यादुन्मत्ततेत्युक्ते निन्दा यत्र प्रतीयते।
ततो मदरसप्राप्तिरित्युक्ते गम्यते फलम् ॥२२॥

अन्धं तमो विशन्तीति प्रोक्ते निन्दावगम्यते।
प्रकृतौ लय इत्युक्ते फलमेव प्रतीयते ॥२३॥

न निन्दा निन्द्यनिन्दायै स्तुत्यस्तुत्यर्थमेव सा।
वस्तुतोऽनिन्दनेऽप्येव ततो हानिर्न काचन ।२४॥

गृहान्धकूपपतितं निन्दन्ति भगवज्जनाः।
गृहस्नेहं प्रशंसन्ति गृहिणो गृहतत्पराः ॥२५॥

पूर्वपक्षः—"अन्धं तमः प्रविशन्ति" यह फलकथन महीं हो सकता। वह तो प्रत्येकानुष्ठाननिन्दारूपमें कहा गया है। उत्तरः—ठीक है। किन्तु शब्दशक्ति नानाविध होनेसे कहीं-कहीं यथार्थकथनमें निन्दाकी प्रतीति होती है। जैसे तुम्हारे अन्दर अज्ञान है कहनेपर यथार्थता मालूम पड़ेगी। "तुम मूढ़ हो" इसका भी वही अर्थ है। किन्तु यहाँ निन्दा गाली आदिकी प्रतीति होती है। शराबी शराबके पागलपनेको पागलपना नहीं समझता है। उसे पागल कहो तो वह अपनी निन्दा समझता है। मद्यसे उन्मत्तता होती है कहनेपर निन्दा होती है। मद्यसे मदरस (नशेका आनन्द) मिलता है कहनेपर फल प्रतीत होता है। अन्धतममें प्रवेश होता है

कहनेपर निन्दा प्रतीत होगी। प्रकृतिलयफल प्राप्त होगा कहनेपर फलकी ही प्रतीति होगी। प्रश्न होगा कि ऐसी स्थितिमें निन्दाकी प्रतीतिमात्र पूर्वमन्त्रमें माना, वास्तविक निन्दा नहीं। उत्तर है कि वास्तविक निन्दा नहीं है तो हानि क्या ? निन्द्यकी निन्दाके लिये निन्दा नहीं की जाती है। किन्तु विधेयकी स्तुतिके लिये की जाती है। भगवद्भक्त कहते हैं— गृहान्धकूपपतित व्यक्तिका क्या कल्याण होगा ? परन्तु गृहीजन कहते हैं— देखो कितना भला यह आदमी है, अपने गृहमें (दार सुतादिमें) इसका कितना प्यार है—धन्य है यह मनुष्य ! (यहाँ गृहान्धकूपपतनका कथन भगवद्भक्तिप्रशंसार्थ है। वस्तुतः गृहप्रेम निन्द्य है या स्तुत्य यह अलग बात है) ॥ ८-२५॥

ननु भो कानि वाक्यानि ह्यन्यदाहुरसंभवात्।
शृणु पौराणिकवचोऽनुमितानि तथा जगुः ॥२६॥

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥२७॥

बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥२८॥

पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।
इति वायुपुराणादावुक्तं मूलानुमापकम् ॥२९॥

परन्तु "अन्धं तमः प्रविशन्ति" "येऽसंभूतिं"से प्राप्त प्रकृतिलय ही यहाँ अर्थ कैसे हो ? "अन्यदाहुरसंभवात्" इस आहुःके कर्ता वेदवाक्य कौन हैं ? यह तो कहना चाहिये। सुनो। पौराणिकवचनोंसे अनुमित श्रुतिवचन आहुःके कर्ता हैं। इन्द्रियोपासक दस मन्वन्तर तक स्वफलभोग करते हुए रहते हैं, भूतोपासक सौ मन्वन्तर, अहंकारतत्त्वोपासक सहस्र मन्वन्तर, बौद्ध अर्थात् महत्तत्त्वोपासक दशसहस्र मन्वन्तर और अव्यक्तोपासक एक लाख मन्वन्तरतक उपास्यके साथ एकीभूत होकर स्वफलभोग करते हैं। इस रीति वायुपुराणादिमें बताया है। यह मूल श्रुतिवचनका अनुमापक है ॥२६-२९॥

ब्रह्माभिसंभवोपास्तिप्रभृतिं ये तु मन्वते।
तेषां पौराणिकमपि वचनं नोपलभ्यते ॥३०॥

इति=एवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥१३॥

इसप्रकार विद्वानोंका वचन हम सुनते आ रहे हैं जिन्होंने व्याकृत और अव्याकृतकी उपासनाके फलके बारेमें व्याख्यान किया ॥१३॥

जो लोग ब्रह्माभिसंभव और असंभूतिका कर्मनाश अर्थ करते हैं उनके लिये ब्रह्माभिसंभवोपासना एवं कर्मनाशोपासनाके फलप्रतिपादक पौराणिक-वचन भी उपलब्ध नहीं हैं ॥३०॥

यद्यपीहान्धतमसप्रवेशस्तुल्यरूपतः ।
असमुच्चितरूपाणामुक्तश्चतसृणामपि ॥३१॥

तत्रार्थः कथमेव स्यादेकत्र प्रकृतौ लयः ।
निःदार्थवादः सर्वत्र गुणवादो हि युज्यते ॥३२॥

तथापि ब्रह्मलोकादि तमः प्रकृतिजत्वतः ।
इत्यन्धतमसावेशः सर्वत्रैव समो मतः ॥३३॥

किन्तु कार्यजगन्नैव तमःशब्देन कथ्यते ।
तत्तत्कार्यस्वरूपं तत् स्वशब्देन निरूपितम् ॥३४॥

तम आसीदिति श्रुत्यां प्रकृतिस्तम ईरिता ।
ततः प्रसिद्धशब्दत्वात्तथोक्तिर्न विरुध्यते ॥३५॥

यद्यपि विद्या, अविद्या, संभूति, असंभूति चारोंमें अन्धतम प्रवेश बताया। उनमें एकका प्रकृतिलय अर्थ और अन्य सबका गुणवादतात्पर्य यह वैषम्य कैसे संगत होगा ? तथापि ब्रह्मलोकादि सभी प्रकृतिजन्य होनेसे तमोरूप ही हैं। अतएव सभी भूतार्थवाद ही है। किन्तु कार्यजगतमें तम शब्दका प्रयोग नहीं होता। अतः उपासनाका फल पितृलोक, देवलोकादि-को श्रुतिने अपने-अपने शब्दसे पृथक् कहा। "तम आसीत्" इस श्रुतिमें प्रकृतिको तम शब्दसे ही कहा। अतः प्रसिद्धार्थक होनेसे तमःप्रवेशशब्दसे ही प्रकृतिलयकथन उपपन्न हो जाता है ॥३१-३५॥

न च प्रकृतिकार्यत्वाद् ब्रह्मलोकादि चेत्तमः।
तदा समुच्चयोपास्तिस्तुल्या स्यादिति सांप्रतम् ॥३६॥

यतस्तमस्त्वसाम्येऽपि विशेषो दर्शितः पुरा।
अत्रापि दर्शयिष्यामो विशेषं तु समुच्चये ॥३७॥

यदि प्रकृतिकार्य होनेसे पितृलोकादि समानरूपसे तम है तो समुच्चय-फल भी तुल्यतया तमोरूप होगा इस प्रश्नका उत्तर हम पहले दे चुके हैं। और संभूतिसमुच्चयफलकथनावसरमें यहां भी विशेषता हम दिखायेंगे ॥३६-३७॥

व्याख्यातार इति प्राहुर्धीराणां वचनं परम्।
व्याकृताव्याकृतोपास्तिफलं ये व्याचचक्षिरे ॥३८॥

इसप्रकार ज्ञानियोंका वचन व्याख्यातालोग कहते हैं जिन्होंने व्याकृत तथा अव्याकृतकी उपासनाका फल व्याख्या करके सुनाया ॥३८॥

इति त्रयोदशमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

जो व्याकृत तथा अव्याकृतकी साथ-साथ (समुच्चित) उपासना करता है वह व्याकृतिसे अनैश्वर्यादि मृत्युको पार कर अव्याकृतसे प्रकृतिलयरूपी अमृतको प्राप्त होता है ॥१४॥

यत एवमतः समुच्चयः संभूत्यसंभूत्युपासनयोर्युक्त एवैकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह-संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।

चूंकि प्रत्येक उपासनाका फल निन्दनीय है इसलिये तथा एक पुरुषार्थ हेतु है इसलिये भी संभूति और असंभूतिकी उपासनाओंका समुच्चय ही युक्त है इस बातको आगे कह रहे हैं :—संभूति और विनाश इन दोनोंकी एकसाथ जो उपासना करता है इत्यादिसे।

संभवासंभवोपास्त्योः फलमुक्त्वा पृथक् पृथक्।
विधित्सितमिदानीं तु विधत्ते तत्समुच्चयम् ॥१॥

संभूतिकी उपासना और असंभूतिकी उपासनाका समुच्चयकारण पृथक् फलकथन कर अब विधित्सित दोनोंके समुच्चयका विधान करते हैं ॥१॥

संभूतिं च

अजन्मनो विनाशो न शक्यते वक्तुमञ्जसा।
तस्मात्संभूतिरेवात्र विनाशपदभाग् भवेत् ॥२॥

ततः संभूतिमित्येतदवर्णस्य विलोपनात्।
असंभूतिं समाचष्टे पारिशेष्यवशादिह ॥३॥

अजन्माका विनाश नहीं होता। अतः विनाशपदसे सजन्मा संभूति अर्थ निकलेगा। तव प्रथम संभूति पद अवर्णलोपसे असंभूतिको कहेगा। संभूति कहनेपर असंभूति परिशिष्ट रहती है ॥२-३॥

ननु चाद्यमसञ्जातविरोधिन्यायतः पदम्।
शक्यार्थं स्याल्लक्षणया विनाशः प्रकृतिर्भवेत् ॥४॥

अजन्मनोऽपि प्रकृतेर्विनाश उपगम्यते ।
विनाशमात्रं यस्याः सा प्रकृतिः शक्ययोगिनी ॥५॥

अदर्शनं याति सा हि विमुक्तपुरुषं प्रति ।
नशेरदर्शनार्थत्वं पाणिनिर्भगवाञ्जगौ ॥६॥

अदर्शनं विशेषेण प्रकृतेरेव संमता ।
अव्यक्तमिति हि प्रोक्ता सा विनाशपदा ततः ॥७॥

यद्वा विनश्यन्त्यस्यां हि सर्वेऽर्थास्तेन सा तथा ।
संभूत्यामिति च च्छेदस्तुर्ये पादे भविष्यति ॥८॥

फलोत्कर्षः कथं तर्हि संभूतेरिति चेच्छृणु ।
भूयस्तमो हि विद्यावच्छ्रेष्ठत्वात्पूर्वमोरितम् ॥९॥

पूर्वपक्ष:—असंजातविरोधिन्यायसे प्रथमपद संभूति शक्यार्थ (वाच्यार्थ) लेना उचित है। बादमें आया हुआ विनाशपद लक्षणासे प्रकृत्यर्थक होगा। अजन्मा होनेपर भी प्रकृतिको नाशवती माना है। केवल विनाश ही जिसका है, जन्म नहीं अतः विनाश प्रकृति है। शक्यार्थ सम्बन्ध प्रकृतिमें सुगम है। अथवा नाशका अदर्शन अर्थ है। 'णश अदर्शने' ऐसा धातुपाठ है। मुक्तपुरुषके प्रति प्रकृति अदर्शन हो जाती है। दूसरी बात यह भी है विनाशका अर्थ है विशेषेण अदर्शन। वह प्रकृतिका ही संभव है। अतएव उसको अव्यक्त कहते हैं। अथवा—विनश्यन्ति महत्तत्त्वादयः पदार्था यस्यां इसप्रकार अधिकरणार्थमें प्रत्यय कर लेना चाहिये। तब विना लक्षणा ही विनाशपदका यौगिक अर्थ प्रकृति होगा। शंका होगी "विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्या इस उत्तरार्धमें फिर विनाश और असंभूति दोनों एकार्थक होगा। नहीं। वहां "संभूत्या" पदच्छेद है, असंभूत्या" ऐसा नहीं। दूसरी शंका यह होगी कि तब संभूतिका फलोत्कर्ष होगा। होने दो। जैसे विद्या उत्कृष्ट होनेसे निन्दामें "भूय इव तमः" कहा वैसे संभूति उत्कृष्ट होनेहीसे तो पहले "ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः" कहा। अतएव निन्दावाक्यमें असंभूतिके बाद संभूति यह जो क्रम था वही क्रम विनाशेन इत्यादिमें लब्ध होता है ॥४-९॥

तदसत् फलमुत्कृष्टं कारणोपासनाद् भवेत् ।
कारणं प्रकृतिः प्रोक्तं कार्यं च व्याकृतं भवेत् ॥१०॥

पूर्वं भूयस्तमस्त्वोक्तिः रागाद्याधिक्यकारणात् ।
यथार्थमेव कथितं न गरीयस्त्वहेतुतः ॥११॥

अव्यक्तचिन्तकानां च फलाधिक्यं यदीरितम् ।
पुराणेषु तदप्येवं भवेदत्र समञ्जसम् ॥१२॥

सिद्धान्तः—उत्कृष्ट फल कारणोपासनाका ही होगा। कारण प्रकृति है। व्याकृत कार्य होता है। तब "विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा" इस उत्तरार्धमें असंभूति पदच्छेद आवश्यक है। तब विनाशपदार्थ कार्यब्रह्म ही होगा। पहले संभूतिकी उपासनासे भूयः तम बताया वह अधिकरागादिकारण होनेसे यथार्थ कथन है। उससे संभूतिकी प्रकृष्टता सिद्ध नहीं होगी। पहले दिखाये गये पुराणवाचनमें अव्यक्तचिन्तकोंका सर्वाधिक फल बताया है। उसकी उपपत्ति भी उक्त व्याख्यामें ही होगी ॥१०-१२॥

विचचक्षिर इत्यस्मादसंभूतिमिति स्थिते।
एकादेशः पूर्वरूपं लोके लोपोऽस्य तु श्रुतौ ॥१३॥

लुप्तस्यात्पदपाठेऽपि संभूतिः परिपठ्यते।
अयमेव विशेषश्च लोपैकादेशयोर्भवेत् ॥१४॥

सकारोदात्तता चैवं लोपपक्षे समञ्जसा।
उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितत्वं च संगतम् ॥१५॥

पूर्वमन्त्रमें विचचक्षिरे आया है। उसके बाद असंभूति पाठमें लोकानुसार पूर्वरूप एकादेश होता है। किन्तु श्रुतिमें अकारका लोप किया। लुप्त होनेसे पदपाठमें अकारश्रवण नहीं है यही लोप और एकादेशमें अन्तर है। दूसरा स में अ उदात्त एवं उससे परे भू स्वरित होगा ॥१३-१५॥

विनाशं च

विनाशो विद्यते यस्य कार्यब्रह्म तथाविधम्।
विनाशः प्रकृतेर्नैव फलभोगवतां मतम् ॥१६॥

विनाश जिसका हो वह कार्यब्रह्म विनाशपदका अर्थ है। प्रकृतिका विनाश फलभोग करनेवालोंके लिये कभी नहीं होता अतः वह विनाश नहीं है ॥१६॥

घटादिनाशः कस्मान्न गृह्यतामिति चेन्न तत् ।
विशिष्टनाशो नैतेषां घटादीनां हि विद्यते ॥१७॥

यस्य नाशोत्तरं नाशो नास्ति सैवा विशिष्टता ।
न घटादेस्तथा नाशः संभूतेस्तु तथाविधः ॥१८॥

घटो नष्टो हि सन् स्वेन मृद्रूपेरणावतिष्ठते ।
मृदोऽपि नाशः सोऽणुः स्यात्तन्नाशोऽपि सतां मतः ॥१९॥

संभूतेस्तु न नाशस्य नाशो भवति कश्चन ।
स वै शरीरी प्रथमस्तन्नाशः प्रकृतिर्भवेत् ॥२०॥

प्रकृतेर्नैव नाशः स्यादासंसारमिति स्थितिः ।
मूलत्वात्तेन संभूतेर्विशिष्टो नाश इष्यते ॥२१॥

विनाशपदसे घटादिनाश क्यों न लिया जाय इस शंकाका उत्तर यह है कि घटादिका विनाश अर्थात् विशिष्ट नाश नहीं होता। नाशके बाद फिर नाश नहीं होता हो तो वह विशिष्ट नाश है। घटादिका ऐसा विलक्षण नाश नहीं होता, संभूतिका ऐसा नाश होता है। घट नष्ट होनेपर मृत्तिकारूपसे रहेगा। मुत्तिकाका भी नाश होता है और वह अणुरूपसे रहेगी। अणुका भी नाश होता है। किन्तु संभूतिके नाशका नाश नहीं होता। क्योंकि वह प्रथम शरीरी है। उसका नाश प्रकृतिरूप है। प्रकृतिका नाश जब तक संसार है तब तक नहीं होता। क्योंकि वह मूलप्रकृति है। अतः संभूतिका नाश विशिष्ट नाश है ॥१७-२१॥

ननु चैवं महत्तत्त्वनाशः कस्मान्न गृह्यते ।
महत्तत्त्वस्य नाशोऽपि प्रकृतिः संमतेति चेत् ॥२२॥

सत्यं महदवच्छिन्ना चितिः संभूतिरुच्यते ।
नाशो महत एवेष्टो नित्याया न पुनश्चितेः ॥२३॥

अच्छा, तो भी महत्तत्त्वको क्यों न लिया जाय? उसका नाश भी प्रकृतिरूप है। नाशका नाश नहीं होता। बात सत्य है। परंतु संभूति महत्तत्त्वावच्छिन्न चैतन्यको ही कहते हैं। उसमें नाश महत्तत्त्वका ही होता है। नित्यचैतन्यका नाश ही नहीं होता ॥२२-२३॥

विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदे-

विनाश जिस कार्यका धर्म है उस धर्मसे धर्मीका अभेद करके विनाश-शब्दका प्रयोग किया है। उससे—विनाशसे अर्थात् उसकी उपासनासे अनै-

---

नन्वेवं हि महत्तत्त्वोपासना किं न भण्यते।
प्रकृत्युपासना यद्वत्तद्वदेषा भविष्यति ॥२४॥

बौद्धा दशसहस्राणीत्येवं शास्त्रं च दृश्यते।
हिरण्यगर्भपर्यन्तधावनं क्रियते कुतः ॥२५॥

अत्रोच्यते मार्गयाञ्चामन्त्रेऽग्रे पुरुषः स्तुतः।
हिरण्मयेन पात्रेणेत्यादावत्रापि तेन सः ॥२६॥

हिरण्यगर्भोपास्तिश्च शास्त्रेषु बहुधा श्रुता।
क्लिष्टा नैवास्त्यतः काचिदप्रसिद्धप्रकल्पना ॥२७॥

यदि महत्तत्त्व भी विनाशपदार्थ हो सकता है तो यहां संभूतिपदसे महत्तत्त्वोपासना ही क्यों नहीं लेते? "बौद्धा दशसहस्राणि" इत्यादि पुराणवचनमें महत्तत्त्वोपासना भी बतायी ही गयी है। तब हिरण्यगर्भ-पर्यन्त जानेकी क्या आवश्यकता? इसका उत्तर यह है कि आगे मार्ग-याचनामन्त्रमें हिरण्यगर्भपुरुष स्तुत हुआ है अतः यहां हिरण्यगर्भ ग्राह्य है। और शास्त्रोंमें हिरण्यगर्भोपासना बहुत जगह आयी है। अतः क्लिष्ट अप्रसिद्ध कल्पनाकी भी कोई बात नहीं है ॥२४॥

यस्तद्वेदोभयं सह

उपासनाद्वयमिह समुच्चित्याभिधीयते।
न तु संभूत्यसंभूत्योरेकोपास्तिर्विशिष्टयोः ॥२८॥

यहां दो उपासनाओंका समुच्चयकथन समझना चाहिये। न कि संभूति और असंभूतिकी परस्परविशिष्ट एक उपासना बतायी जा रही है ॥२८॥

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा

विनाशोपास्तितो मृत्युमनैश्वर्यादिलक्षणम्।
तरेत् प्राप्य किलैश्वर्यमणिमादिकलक्षणम् ॥२९॥

नोच्यते विनाश इति । तेन तदुपासनेनानैश्वर्यम् अधर्मकामादि दोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा; हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलं, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य, असंभूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं—प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते । संभूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्ण-लोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः । प्रकृतिलयश्रुत्यनुरोधात् ॥१४॥

श्वर्य अधर्म एवं कामादिदोषसमुदायरूपी मृत्युको पार करता है। क्योंकि हिरण्यगर्भकी उपासनाका अणिमादिकी प्राप्ति फल है।

उससे अनैश्वर्यादि मृत्युको पारकर असंभूतिसे अर्थात् अव्याकृतोपासनासे प्रकृतिलयरूपी अमृतको प्राप्त होता है। संभूतिं च विनाशं च यहां संभूतिपदके पूर्वमें अकारका लोपकर निर्देश किया है। क्योंकि प्रकृतिलयको फल श्रुतिने बताया है ॥१४॥

अनैश्वर्यमधर्मश्च कामक्रोधादयश्च ये ।
हिरण्यगर्भोपास्त्या तु तांस्तरेन्मृत्युशब्दितान् ॥३०॥

विनाश अर्थात् हिरण्यगर्भकी उपासनासे अनैश्वर्यादिरूपी मृत्युको अणिमादिरूप ऐश्वर्य पाकर मनुष्य तर जाता है। अनैश्वर्य, अधर्म एवं कामक्रोधादि मृत्युशब्दका अर्थ है। हिरण्यगर्भोपासनासे मनुष्य इन सबको तर जाता है ॥२९-३०॥

असंभूत्याऽमृतमश्नुते

असंभूतिपदेनात्र मूलप्रकृतिरुच्यते ।
तदुपास्तेः फममिदममृतं प्रकृतौ लयः ॥३१॥

यहां असंभूति पदका मूलप्रकृति अर्थ है। उसकी उपासनाका यह फल है—अमृतप्राप्ति। अर्थात् प्रकृतिलय ॥३१॥

यत्पुनर्भास्करेणोक्तं न फलं प्रकृतौ लयः ।
मोक्ष एव फलं तावत् शास्त्रेषु परिकीर्तितम् ॥३२॥

किं च मूढतया स्थानं भवति प्रकृतौ लयः ।
कथंकारं भवेदेतद् यत्नस्य महतः फलम् ॥३३॥

न च सौषुप्तसुखवत्पुमर्थमिति सांप्रतम् ।
विश्राममात्ररूपत्वात्सुषुप्तेरफलत्वतः ॥३४॥

सुषुप्तिमभिवाञ्छन्ति विश्रान्त्यै नक्तमातुराः ।
शतहायनिकीं को वा सुषुप्तिं प्रार्थयेत् पुमान् ॥३५॥

जडत्वात् प्रकृतिर्नैव फलदात्री च युज्यते ।
उपासते हि फलदं चेतनं सकला जनाः ॥३६॥

ततोऽसंभूतिशब्देन ब्रह्मैवात्र निगद्यते ।
तस्यामृतफलोक्तिश्च सुष्ठु संगच्छते श्रुतौ ॥३७॥

अन्धं तम इति प्राक् च निन्दितः प्रकृतौ लयः ।
स एव संप्रति कथं फलत्वेनाभिधीयताम् ॥३८॥

यहां भास्करनामक आचार्य पूर्वपक्ष करते हैं कि प्रकृतिलय तो फल ही नहीं होता। मोक्ष ही फल होता है। दूसरी वात प्रकृतिलयका अर्थ है मूढ़ होकर पड़े रहना। उपासना रूपी महान् प्रयत्नका ऐसा फल कैसे हो सकता है? कुछ लोग कहते हैं कि प्रकृतिलय सुषुप्तिके समान है। सुषुप्तिको सब चाहते हैं। वैसे प्रकृतिलय भी पुरुषवांछित है। परन्तु यह सही नहीं है। सुषुप्ति विश्राममात्र है। वह कोई फल नहीं है। थका मनुष्य रात्रिमें थौड़ी देर सुषुप्ति चाहता है थकावट दूर करनेके लिये। कौन ऐसा है जो सौ वर्षतक सुषुप्तिमें पड़ा रहना चाहता है? फिर प्रकृति जड़ है। वह फलदायी होगी भी कैसे? सभी लोग फल देनेवाले चेतनकी सेवा उपासना करते हैं। अतः यहां असंभूतिशब्दका ब्रह्म ही अर्थ है। उसका फल अमृत जो वताया वह भी तभी संगत होता है। दूसरी वात—"अन्धं तमः प्रविशन्ति" इसप्रकार जिस प्रकृतिलयकी निन्दा पहले की उसीको यहां फिर फलरूपेण कहना कैसे संगत होगा? ॥३२-३८॥

अत्रोच्यते फलत्वं न मोक्षे रूढमिष्यते ।
स्वर्गपुत्रादिकं सर्वैरुच्यते कर्मणः फलम् ॥३९॥

मा भूदुपासनाया हि प्रकृतिः फलदायिनी ।
फलदः परमात्मा हि सर्वत्रैवोपगम्यते ॥४०॥

अन्यथा तव कर्मैव दद्यात् संपादितं फलम् ।
मृतेऽपि श्रेष्ठिनि तदा दद्यात् कर्मैव तत्कृतम् ॥४१॥

ननु चोपासिता दृष्टाः आचार्याद्याः फलप्रदाः ।
अनुपासित ईशस्तु फलं दद्यात्कथं खलु ॥४२॥

उच्यते दृष्टफलदः स्यादुपासित एव हि ।
अदृष्टफलदः किन्तु देव एवेति निश्चयः ॥४३॥
सिद्धान्तितं फलमत उपपत्तेः फलप्रदः ।
ईश एवेति तेनात्र चोद्यं नोत्पद्यते तथा ॥४४॥

भास्करमतपर वक्तव्य यही है कि फलशब्द मोक्षमें रूढ नहीं है । स्वर्ग एवं पुत्रधनादि सभी कर्मफल सबने माना है । उपासनाका फल प्रकृति भले न दे । परमात्मा ही फलदाता है । अन्यथा कर्मस्थलमें भी कृत कर्म फल देता है ऐसा मानना होगा । और श्रेष्ठीके मरनेपर भी कर्म फल देने लगेगा । यह शंका करें कि उपासित आचार्यादि विद्यादिफलप्रद देखे गये हैं, प्रकृत्युपासकको अनुपासित ईश्वर फल क्यों दें ? तो सुनो । दृष्टफल भले ही उपासित दे, किन्तु अदृष्टफलदाता ईश्वर ही हैं । "फलमत उपपत्तेः" इस अधिकरणमें ईश्वर ही फलदाता है यह सिद्धान्त किया है । अतः यह प्रश्न यहां उठता नहीं है ॥३९-४४॥

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।
इत्युक्तेश्चेतनोपास्तावपीशः फलदायकः ॥४५॥

गीतामें देवतोपासकको भी फलदेनेवाला ईश्वर ही है ऐसा स्पष्ट बताया है । "लभते च" इत्यादि गीतावचन है ॥४५॥

यत्तु मूढनया स्थानं पुमर्थं न भवेदिति ।
यच्चान्धतमसं पूर्वनिन्दितं न भवेन् फलम् ॥४६॥

अत्रोच्यते त्रिधा तावत् प्रकृतिः समुपेयते ।
तत्र तत्र रजःसत्त्वतमःप्राधान्यभेदतः ॥४७॥

त्रिविधत्वात्सुषुप्तिश्च दृष्टान्तत्वेन भण्यते ।
दुःखं सुप्तः सुखं सुप्तो मूढं सुप्त इति स्मृतेः ॥४८॥

तद्वल्लयोऽपि प्रकृतौ त्रिविधो बुधसम्मतः ।
ब्रह्मणः शतवर्षान्ते तामस्यां प्राणिनां लयः ॥४९॥

अज्ञानामनुपास्तीनां मूढभावेन संस्थितिः ।
प्रकृत्युपासका ये स्युरसमुच्चयकारिणः ॥५०॥

ईषत्सत्त्वरजोयुक्तप्रकृतौ लयमाप्नुयुः ।
अत एवान्धतमसप्रवेशः समुदीरितः ॥५१॥

सत्त्वप्रधानप्रकृतौ शुद्धायां लयमाप्नुयात् ।
यः संभूतिमसंभूतिं चोपासीत समुच्चयी ॥५२॥

जो पहले बताया कि सुषुप्तिवत् मूढरूपेण स्थिति पुरुषार्थ नहीं हो सकती । और जो बताया कि अन्धतमसरूप प्रकृतिलयफलकी निन्दा पहले की गयी है । इन दोनों विषयोंमें वक्तव्य यह है कि पहले यह समझो प्रकृति तीन प्रकारकी होती है । एक सत्त्वप्रधाना है, दूसरी रजःप्रधाना है । तीसरी तमःप्रधाना है । दृष्टान्त सुषुप्तिका इसलिये देते हैं कि वह भी सत्त्वादिप्रधान्यसे त्रिविध है । अतएव उठनेपर कोई कहता है–आनन्दसे सोया । दूसरा कहता है–बड़ी खराब नींद आयी । तीसरा कहता है मैं बेहोश जैसा सो गया । वैसे ही प्रकृतिभेदसे प्रकृतिलय भी त्रिविध है । ब्रह्माजीके सौ वर्ष पूरे होनेपर महाप्रलय होता है । उससमय ज्ञानी और उपासक मुक्त होंगे । बाकी अज्ञानी प्राणी तामस प्रकृतिमें लीन होंगे । "अन्धं तमः प्रविशन्ति" से असमुच्चयकारीका जो प्रकृतिलय बताया है वह अल्पसत्त्वरजयुक्ततमःप्रधान प्रकृतिमें लय है (अल्पसत्त्व इसलिये कहते हैं कि उपासनाफल होनेसे थोड़ा सुख तो होगा ही) जो संभूति और असंभूति समुच्चयोपासक है वह सत्त्वप्रधान शुद्धप्रकृतिमें लयको प्राप्त होगा ॥४६-५२॥

अपरिच्छिन्नमानन्दकन्दं ब्रह्म श्रुतिश्रुतम् ।
प्रतिबिम्बं तस्य सत्त्वप्रधानप्रकृतौ भवेत् ॥५३॥

अतिस्वच्छे यथोपाधौ दर्पणप्रभृतौ स्फुटम् ।
प्रतिबिम्बं स्फुरेद् बिम्बसमानविधया किल ॥५४॥

शुद्धायां प्रकृतौ सत्त्वप्रधानायां तथा स्फुटम् ।
ब्रह्मणः प्रतिबिम्बं स्यात् समानन्दरूपिणः ॥५५॥

बिम्बात्मकसुखं यत्तन्मोक्ष इत्यभिधीयते ।
प्रतिबिम्बात्मकं यत्तत् प्रकृतौ लय उच्यते ॥५६॥

परिच्छिन्नापरिच्छिन्नभाव एव तयोर्भिदा ।
अथवास्तु तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बात्मता भिदा ॥५७॥

बिम्बात्यन्तसमानत्वात्प्रतिबिम्बसुखं त्विदम् ।
अपुमर्थं कथं नाम श्रेष्ठं स्वर्गादितोऽपि यत् ॥५८॥

सर्वाधिकं प्रोक्तलयसुखं संसारवर्त्मनि ।
पुनरावृत्तिमात्रेण मोक्षान्न्यूनमुदीर्यते ॥५९॥

एतावती हि संसारगतिरित्येवमब्रवीत् ।
भगवान् भाष्यकारोऽत्र सर्वोर्ध्वं प्रकृतौ लयम् ॥६०॥

श्रुतियोंने अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूप ब्रह्मको बताया है। सत्त्वप्रधान शुद्धप्रकृतिमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैसे अत्यन्त स्वच्छ दर्पणादिमें ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। वैसे शुद्धसत्त्वप्रधानप्रकृतिमें आनन्दरूप ब्रह्मका प्रतिबिम्ब एकदम बिम्ब जैसा पड़ता है। बिम्बात्मक आनन्द मोक्ष है। प्रतिबिम्बात्मक आनन्द प्रकृतिलय है। दोनोंमें भेद इतना ही है कि एक अपरिच्छिन्न है। अथवा कहो एक बिम्ब है दूसरा प्रतिबिम्ब है। बिम्बके अत्यन्त समान होनेसे प्रतिबिम्बानन्द अपुरुषार्थ कैसे होगा जो स्वर्गादि-सुखसे बहुत ऊंचा है। संसारमार्गमें सर्वाधिक सुख प्रकृतिलयमें ही है। पुनरावृत्ति होती है इसलिये मोक्षसे न्यून कहा जाता है। भगवान् भाष्यकारने भी "एतावती हि संसारगतिः" ऐसा कहकर प्रकृतिलयरूप आनन्दको संसारमें सर्वोर्ध्व बताया ॥५३-६०॥

सुषुप्तिं सात्त्विकीं यात उत्थाने सुप्रसीदति ।
सात्त्विक्याः प्रकृतेश्चैवमुत्थितः सुप्रसीदति ॥६१॥

ततो ज्ञानार्जनं तस्य सुकरं च भविष्यति ।
भवप्रत्ययमाह स्म भगवांश्च पतञ्जलिः ॥६२॥

सात्त्विक सुषुप्तिसे उठनेपर मन प्रसन्न होता है। वैसे सात्त्विक प्रकृतिमें लीन पुरुष भी उत्थानकालमें सुप्रसन्न रहता है। अतएव ज्ञानार्जन उसके लिये आसान होता है। भगवान् पतञ्जलिने भी "भवप्रत्ययो विदेह-प्रकृतिलयानां" इस सूत्रमें प्रकृतिलीनोंका जन्मजात तत्वज्ञानका वर्णन किया है ॥६१-६२॥

नन्वेवं प्रकृतौ लीनः कथं नैव प्रमुच्यते ।
ब्रह्मलोकगतोऽप्येव सिद्धान्ते मुच्यते यतः ॥६३॥

मैवं वेदान्तविज्ञाननिश्चितार्थस्य धीमतः ।
प्रतिबन्धक्षये बोधो ब्रह्मलोके प्रजायते ॥६४॥

उपासनपरा ये तु ब्रह्मलोकाभिकाम्यया ।
तेषां न जायते बोधः पुनरावर्तिनश्च ते ॥६५॥

उपासते हि प्रकृतिं तदीयफलकाम्यया ।
तेषां कथं प्रबोधः स्याद् येषां कामहता मतिः ॥६६॥

वेदान्तनिश्चितार्थास्तु कामनाहीनमानसाः ।
प्रकृतौ नैव लीयन्ते सत्यपि प्रतिबन्धके ॥६७॥

यदि प्रकृतिलीन ब्रह्मके प्रतिबिम्बका ठीक दर्शन करता है, शुद्धसत्त्व है तो मुक्त क्यों नहीं होता ? जबकि उससे नीचले ब्रह्मलोकको प्राप्त भी मुक्त होता है। इस प्रश्नका समाधान यह है कि ब्रह्मलोकगत सभी मुक्त नहीं होते। जो इसी लोकमें वेदान्तश्रवणादिसे ब्रह्मनिश्चय कर चुके हैं, किसी प्रतिबन्धसे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं कर पाये हैं वे ब्रह्मलोक जाकर प्रतिबन्धक्षयोत्तर साक्षात्कार कर मुक्त होते हैं। जो ब्रह्मलोककी कामनासे उपासनाकर ब्रह्मलोक गये हैं, उनको ज्ञान नहीं होता, उनकी पुनरावृत्ति होती है। वैसे प्रकृतिलयकामनासे जो प्रकृत्युपासना करनेवाले हैं उनको भी बोध कैसे होगा जो कामहत है ? यह कहें कि प्रतिबन्धविशेषके कारण जैसे अकामहत वेदान्तपरायण ब्रह्मलोक जाते हैं वैसे प्रकृतिलीन क्यों न हो और वहां उनको प्रबोध क्यों न हो, तो ठीक नहीं। क्योंकि उसे बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है ॥६३-६७॥

अत्रेदं चिन्त्यतेऽविद्या कर्मैवेति विनिश्चितम् ।
तस्याः समुच्चयः कार्यो विद्ययेत्यप्युदीरितम् ॥६८॥

का सा विद्या किलेषैव संभूत्यादेरुपासना ।
उताऽपरैव तदिदं संशयस्यास्पदं भवेत् ॥६९॥

यहां पर यह विचार करते हैं कि पहले अविद्याका कर्म अर्थ बताया और उसका विद्याके साथ समुच्चय करना चाहिये यह भी कहा। वह विद्या कौनसी है ? विद्याका अर्थ यदि उपासना है तो यही संभूति और

असंभूतिकी उपासना विद्या है या कोई और उपासना यह संशयास्पद है ॥६८-६९॥

नन्वस्तु भिन्नाऽभिन्ना वा को विशेषस्ततो भवेत् ।
शृणु भेदे न संभूतौ भवेत्कर्मसमुच्चयः ॥७०॥

अभेदे खलु संभूतौ वाच्यः कर्मसमुच्चयः ।
तदभावे चान्धतमसप्रवेशः प्राप्नुयादिति ॥७१॥

"विद्यां चाविद्यां च" में विद्या संभूत्युपासनासे भिन्न हो या अभिन्न उससे क्या विशेषता आती है ? सुनो । यदि संभूतिसे विद्या भिन्न है तो संभूत्युपासनासे कर्मसमुच्चय नहीं होगा । और अभिन्न है तो संभूत्युपासनामें भी कर्मसमुच्चय प्राप्त होगा । अन्यथा संभूत्यसंभूत्युपासना करनेवाला कर्मसमुच्चयाभावापराधसे अन्धतमसमें पड़ेगा ॥७०-७१॥

किं तावत्प्राप्तमिति चेदभेदं ननु मन्महे ।
न हि विद्यापदे युक्तः संकोचो हि कथंचन ॥७२॥

विद्येत्युपासना प्रोक्ता कर्मणास्याः समुच्चयः ।
कर्मसंभूत्यसंभूतित्रयस्यातः समुच्चयः ॥७३॥

क्या प्राप्त हुआ ? विद्यापदार्थ तथा संभूत्यादिकी उपासना एक ही है । विद्यापदका अन्योपसना अर्थमें संकोच करना उचित नहीं है । फलतः कर्म संभूति और असंभूति तीनोंका समुच्चय करना उचित है क्योंकि "विद्यां चाविद्यां च" से कर्म और "संभूतिं च विनाशं च" से संभूति असंभूति दोनोंका समुच्चय ऐसा मिलाकर तीनका समुच्चय प्राप्त होता है ॥७२-७३

अथवाऽस्तु पृथक् विद्याशब्दः संभूतिशब्दतः ।
पृथग् विधिद्वयं यस्मात्प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ॥७५॥

अन्यथा तु विनिन्द्य त्रीन् विधीयेत समुच्चयः ।
न पुमर्थतया प्रोक्तो युक्तो भवति निन्दितुम् ॥७५॥

अतस्तदितरत्वेन संकोचो नैव दूषणम् ।
संभूत्यसंभूतिभिन्नोपास्तिर्विद्यापदा ततः ॥७६॥

उपासनाश्च सकलाः शक्याः कर्तुं न केनचित् ।
अतः समुच्चयः वाच्य उपास्त्यात्र कयाचन ॥७७॥

अथवा विद्याशब्दसे संभूति और असंभूतिसे अतिरिक्त उपासना ही ग्राह्य है। पृथग् दो विधियोंकी उपपत्ति तभी होती है। अन्यथा तीनोंकी क्रमशः निन्दाकर तीनोंका समुच्चय विधान एक ही वाक्यसे करते। दूसरी बात—"विद्ययाऽमृतमश्नुते" ऐसे पुरुषार्थरूपमें कहकर तुरत फिर उसकी निन्दा करना उचित नहीं होता। इसलिये तदतिरिक्तत्वेन विद्यापदार्थका संकोच करना दोषावह नहीं है। फलतः संभूति और असंभूति उपासनासे भिन्न उपासना ही विद्यापदका अर्थ है। और भी बात है—"विद्यां चाविद्यां च" से संपूर्ण विद्याओंका विधान संभव ही नहीं है। इसलिये किसी एक उपासनासे ही समुच्चय मानना होगा। वह यदि संभूत्यादिसे अतिरिक्त हो तो कोई हानि नहीं है ॥७४-७७॥

कोपास्तिः सेति चेद्रामकृष्णादिविषया भवेत्।
यद्वा यथासंप्रदायं यस्य कस्याप्युपासना ॥७८॥

संभूत्यन्तत्स्वरूपेण न सा ग्राह्या विशेषतः।
किन्तु तत्तत्स्वरूपेण तस्मात्काचन न क्षतिः ॥७९॥

वह समुच्चयनीय उपासना आखिर कौनसी है ? रामकृष्णशंकरादिकी उपासना समझो। अथवा संप्रदायप्राप्त कोई भी उपासना हो सकती है। वह स्वतः व्यावृत्त है। अतएव संभूतिभिन्नत्वेन रूपेण ग्रहण करनेकी भी आवश्यकता नहीं है ॥७८-७९॥

मैवं हिरण्मयेनेति वाक्यशेषावलोकनात्।
आदित्यमण्डलान्तःस्थपुरुषोपास्तिरिष्यते ॥८०॥

हिरण्यगर्भ इति च स एवाख्यायते ततः।
तदीयोपास्तिरेवात्र विद्याशब्देन भण्यते ॥८१॥

तीर्त्वा ह्यविद्यया मृत्युं विद्ययाऽमृतमश्नुते।
मार्गेण किल केनेति भाष्यकारोऽप्यतो जगौ ॥८२॥

न ह्यन्योपासितादित्यपुरुषं वीक्षितुं क्षमः।
तद्दिदृक्षा च तस्यैवोपास्तिं गमयति स्फुटम् ॥८३॥

सिद्धान्त यह है कि "हिरण्मयेन पात्रेण" इस वाक्यशेषसे आदित्य-मण्डलस्थित पुरुषकी उपासना ही यहां अभिप्रेत है। आदित्यमण्डलस्थित-पुरुष ही हिरण्यगर्भ है। अतः उसकी उपासना यहां विद्याशब्दका अर्थ है। "अविद्यासे मृत्यु पारकर विद्यासे अमृत किस मार्गसे प्राप्त होता है" भाष्यकारके इस अवतरणसे भी यही प्रतीत होता है। अन्य देवताके उपासक हिरण्यगर्भको कैसे देख पायेंगे? "सत्यधर्माय दृष्टये" तत्ते पश्यामि" इत्यादिमें जो हिरण्यगर्भदर्शनेच्छा बतायी है उससे भी यही सिद्ध होता है कि हिरण्यगर्भोपासना ही विद्यापदार्थ है ॥८०-८३॥

ननु विद्या च संभूतिश्चैकार्थेति तदाऽऽगतम् ।
विहितस्य कथं निन्दा संभूतेरुपपद्यते ॥८४॥

असमुच्चितनिन्दा चेत्पूर्वमेव हि सा कृता ।
कुतः पुनश्च कार्या सा कथं तन्निश्चयोऽपि च ॥८५॥

पूर्वपक्षः—इसका तात्पर्य यह हुआ कि विद्या और संभूति एक हुई। कर्मसमुच्चितविद्याका अभी-अभी विधान हुआ उसीकी फिर निन्दा अनुपपन्न है। यदि कहें कि कर्म असमुच्चित उपासनाकी निन्दा है, तो वह उपपन्न नहीं है। क्योंकि पहले ही उसकी निन्दा की गयी है। दूसरी बात—असमुच्चितविद्याकी निन्दा है या कर्मसमुच्चित असमुच्चित उभय-साधारणविद्याकी निन्दा है यह निर्णय कैसे हो? ॥८४-८५॥

अत्राचख्युरसंभूतिसमुच्चित्यै विनिन्द्यते ।
पुनः प्राङ् निन्दिता सैव विद्या कर्माऽसमुच्चिता ॥८६॥

समाधानः—यद्यपि कर्मासमुच्चितविद्याकी निन्दा पहले की। तथापि असंभूतिसमुच्चयविधानार्थ पुनः उसकी निन्दा की जा रही है ॥८६॥

समुच्चितापि कस्मान्न निन्दितात्रेति चेन्न तत् ।
व्यर्थाऽविद्या यतः संभूत्यसंभूतिसमुच्चये ॥८७॥

यदाऽसंभूत्युपासायः फलं स्यात्प्रकृतौ लयः ।
तदा स्वाभाविकं नैव कर्माद्यत्र प्रसज्यते ॥८८॥

न च संभूत्युपास्तेरप्येवं व्यर्थः समुच्चयः ।
अनैश्वर्यादिकं नैव प्रसज्येतेति सांप्रतम् ॥८९॥

तमःप्रधानप्रकृतौ प्रलीयेताऽसमुच्चयो।
समुच्चयी तु शुद्धाप्रामिति प्रागेव वर्णनात् ॥९०॥

परन्तु यहां जो संभूतिनिन्दा है वह कर्मसमुच्चित संभूतिकी है, समुच्चित असमुच्चित साधारणकी नहीं यह निर्णय कैसे हो? इसका उत्तर है कि कर्मसमुच्चितविद्यारूपी संभूति और असंभूति दोनोंका समुच्चय अभीष्ट होता तो उभयसाधारण निन्दा उचित होती। किन्तु असंभूतिके साथ केवल संभूतिका ही समुच्चय है न कि कर्मसमुच्चित संभूतिका। क्योंकि कर्मसमुच्चय व्यर्थ है। कारण यह है कि असंभूतिका फल प्रकृतिलय है। वहां स्वाभाविक कर्म एवं ज्ञान अप्राप्त है जिसको हटानेके लिये कर्मसमुच्चयकी जरूरत पड़े। शंका होगी—तब संभूतिके समुच्चयकी भी जरूरत क्या? प्रकृतिलयकालमें ऐश्वर्य अनैश्वर्यादि कुछ भी तो प्रसक्त नहीं है। इसका उत्तर हम पहले दे चुके हैं। संभूति असमुच्चित असंभूति उपासनासे तमः प्रधानप्रकृतिमें लय होगा। यही "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूति" से कहा। संभूतिसमुच्चय होनेपर शुद्धप्रकृतिलय होगा। जिसका आनन्द मोक्षसे थोड़ा ही न्यून है ॥८८-९१॥

ऐतेन विद्याशब्देन संभूतिर्गृह्यते कुतः।
असंभूतिः कुतो नैवेत्येतच्चेह समाहृतम् ॥९१॥

प्रकृतौ विलये कर्म व्यर्थमेव प्रसज्यते।
लयः शुद्धप्रकृत्यां तु संभूत्यैव समुच्चयात् ॥९२॥

इससे विद्याशब्दसे संभूति ही क्यों लेना असंभूति क्यों न लिया जाय इस प्रश्नका भी समाधान हो जाता है। क्योंकि प्रकृतिलय होनेपर कर्म व्यर्थ पड़ जाता है। शुद्धसत्त्वप्रकृतिलय तो संभूतिसमुच्चयसे ही संभव है ॥९१-९२॥

नित्यादिकर्मलोपः स्यादसंभूतेरुपासितुः।
तच्चिन्तनैकलग्नस्येत्येके संप्रतिपेदिरे ॥९३॥

लयोत्थितस्य पुंसस्तु नित्यलङ्घनपातकात्।
तमः स्यात्तेन कर्तव्यं नित्यादीत्यपरे जगुः ॥९४॥

सर्वथापि ह्यसंभूतिफलनिष्पत्तिकारणम् ।
समुच्चयः कर्मणा नेत्येव एव विनिश्चयः ।।९५।।

असंभूति उपासनामें लगे हुए पुरुषका नित्यादिकर्मलोप ही होगा। ऐसे कुछ महान पुरुष मानते हैं। दूसरोंका कहना है कि प्रकृतिलयसे उठनेपर पूर्व नित्यअकरणजन्य पापसे तम होगा अतः नित्यादि कर्म करना चाहिये। इनमें जो भी मत मानो, सर्वथापि असंभूतिकेफल प्रकृतिलयमें कर्मसमुच्चयकी कारणता नहीं ही है यही निश्चय है ।।९४-९५।।

इति चतुर्दशमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम् ।

मानुषधन और दैवधन (देवोपासना)से साध्य शास्त्रप्रतिपादित फल प्रकृतिलयपर्यन्त ही है ।

ईशेत्येनेन मनुना ज्ञानकाण्डं पुरस्कृतम् ।
तत्र यस्त्वसमर्थः स्यात् स कर्माणि समाचरेत् ॥१॥

कुर्वन्नेवेति मन्त्रेण तदेतत् प्रतिपादितम् ।
तत्रासमर्थतालाभः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥२॥

प्राक् प्रोक्ता मा गृध इति गृधिसामान्यशून्यता ।
जिजीविषेदितिगिरा गृधिश्चैव प्रदर्शिता ॥३॥

न जीविते गृधिं कुर्यान्मरणे वेति चोदितः ।
गृध्यभावोऽपि नैवातिक्रामति प्रथमं मनुम् ॥४॥

एवं च गृधिसामान्यशून्यः प्रथमगोचरः ।
द्वितीयगोचरश्चैव जीवनादिगृधिश्रितः ॥५॥

मा गृधो धनमित्यर्थेऽप्यधनः कर्मकृत् कथम् ।
साध्यं मानुषवित्ताद्यैः कर्म तद्वत्समुच्चयः ॥

तस्माज्ज्ञानाऽसमर्थस्य गृधियुक्तस्य कर्मसु ।
अधिकारो भवेदेष वेदार्थोऽत्रावगम्यते ॥६॥

"ईशावस्यं" इस मन्त्रसे ज्ञानकाण्ड प्रस्तुत किया । उसमें जो असमर्थ है वह कर्म करे यह वात "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इस द्वितीय मन्त्रमें प्रतिपादित किया । ज्ञानमें असमर्थके लिये कर्म है इतना आशय कैसे निकलता है ? इस विषयमें सुनो–प्रथम मन्त्रमें "मा गृधः"से गृधि (इच्छा) सामान्यशून्यता बतायी । द्वितीय मन्त्रमें "जिजीविषेत्"से जीवनकी गृधि (इच्छा) बतायी । जीवनमें या मरणमें गृधि न करे ऐसा वाक्यान्तरमें बताया है । अतः जीवनगृधिसे अतिरिक्त गृधिका निषेध "मा गृधः" का अर्थ है ऐसा माना नहीं जा सकता । फलतः प्रथम मन्त्रका समस्त गृधिरहित पुरुष विषय है । द्वितीय मन्त्रका जीवनादिगृधियुक्त पुरुष विषय है यह सिद्ध होता है । अतः ज्ञानाऽसमर्थको कर्ममें अधिकार है यह वेदार्थ यहाँ निश्चित होता है ॥१-६॥

एतावती संसारगतिः। अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभू-द्विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननि-ष्ठाफलम्। एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र

यहीं तक संसारकी गति है। इससे ऊपर "आत्मैवाभूद्" इसप्रकार पूर्वमें प्रतिपादित फल सर्वात्मभाव ही है जो एषणात्रयसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठाका फल है।

ननु कर्मासमर्थस्य गृहित्यागो विधीयते।
काणत्वादियुतस्येति किं न स्वीक्रियतामिह ॥७॥

मैवं कर्मफलं तावज्जन्यत्वात् क्षयि निश्चितम्।
अपकृष्टं च भवति पुनरावृत्तिसंयुतम् ॥८॥

उत्कृष्टं फलमक्षय्यं पुनरावृत्तिवर्जितम्।
ज्ञानादेवामृतत्वं स्यात् कस्य नैतदभीप्सितम् ॥९॥

शंकाः—कर्ममें असमर्थ काने-कुबड़े आदिके लिये गृहित्यागपूर्वक ज्ञानप्राप्तिविधान क्यों न माना जाये? उत्तरः—कर्मफल जन्य होनेसे नाशवान है, अपकृष्ट भी है, पुनरावृत्तियुक्त है। ज्ञानफल अमृतत्व अक्षय उत्कृष्ट एवं पुनरावृत्तिरहित है। वह किसको अभीष्ट नहीं है जिसके लिये आप काने कुबडेको ढूंढ रहे हैं ॥७-९॥

तथा हि कर्म द्विविधं बाह्यं मानसमेव च।
ज्योतिष्टोमादिकं बाह्यमुपास्तिः कर्म मानसम् ॥१०॥

बाह्यं मानुषवित्तेन साध्यते काञ्चनादिना।
मानसं दैववित्तेन देवताज्ञानरूपिणा ॥११॥

तयोरनुष्ठितिर्द्वेधा समुच्चित्याऽतथापि च।
समुच्चयवती श्रेष्ठा कनिष्ठा चाऽसमुच्चिता ॥१२॥

फलं देवात्मभावः स्यात्कर्मोपास्तिसमुच्चये।
प्रकृतौ च लयः संभूत्यसंभूतिसमुच्चये ॥१३॥

शास्त्रप्रमाणं प्रकृतिलयान्तं तदिदं फलम्।
कर्मणां भाविसंसारगतिरेतावती मता ॥१४॥

प्रकृतौ च लयोऽप्यल्पः पुनरावृत्तिसंयुतः ।
तस्मान्न परमः सोऽयं पुरुषार्थः सतां मतः ॥१५॥

शास्त्रोंमें दो प्रकारका कर्म माना है। एक बाह्य कर्म है दूसरा मानस कर्म है। ज्योतिष्टोमादि बाह्य और उपसना मानस कर्म है। मानुषवित्त अर्थात् सुवर्ण भूमि धान्यादिसे बाह्य कर्म और देवताज्ञानरूप दैववित्तसे मानस कर्म संपादन होता है। इन दोनोंका अनुष्ठान समुच्चित तथा असमुच्चित भेदसे दो प्रकारका है। इनमें समुच्चयवाला श्रेष्ठ और समुच्चयरहित कनिष्ठ है। कर्म एवं उपासनाके समुच्चयसे देवात्मभावरूपी उत्तम फल प्राप्त होता है और संभूति-असंभूतिसमुच्चयसे प्रकृतिलयरूपी सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है। शास्त्रप्रतिपादित प्रकृतिलयपर्यन्त यथोक्त फल ही कर्मोंसे होता है। यहींतक संसारगति हैं। परंतु प्रकृतिलय भी परिच्छिन्न एवं पुनरावृत्तिसहित है। अतः यह भी परमपुरुषार्थ नहीं है ॥१०-१५॥

अतः परं ज्ञानकाण्डमीशावास्यमवर्तत ।
सर्वात्मभावो येन स्यात्पुनरावृत्तिवर्जितः ॥१६॥

तदाहः सर्वभूतानि ह्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
स पर्यगादनावृत्तिः शुक्राकायादिलक्षणः ॥१७॥

तत्र को शोकमोहावित्युभयाक्षेपदर्शनात् ।
परमानन्दरूपोऽसौ पुमर्थः पर ईरितः ॥१८॥

इसलिये परमोत्तम ज्ञानकाण्ड "ईशावास्यं" इत्यादिसे प्रवृत्त हुआ। जिससे पुनरावृत्तिरहित सर्वात्मभाव प्राप्त होता है (केवल देवात्मभाव या प्रकृतिभाव ही नहीं) यही "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः" में बताया। यहां सर्वात्मभाव स्पष्ट है। "स पर्यगात्" से व्यापकरूपता कहकर पुनरावृत्तिरहित अर्थ बताया। "शुक्रं" का अज्ञानरूप कारणशरीररहित इत्यादि अर्थ बताया। अतएव पुनरावृत्तिकारण भी नहीं रह जाता। "तत्र को मोहः कः शोकः" से परमपुरुषार्थ परमानन्द भी सूचित हुआ। दुःख, वियोगादिसे शोक मोह होता है। आनन्दाभावसे भी शोकादि होता है। शोकादिका सर्वथा निषेध तभी होता है जब प्राप्तव्य प्राप्त होता है निर्वर्तितव्य निवृत्त होता है ॥१६-१८॥

प्रकाशित.। तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिनिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम्। निवृत्तिलक्षणस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम्। तत्र निषेकादिश्मशा-

इसप्रकार प्रवृत्तिरूप तथा निवृत्तिरूप वेदार्थ यहांपर प्रकाशित किया गया। उसमें प्रवृत्तिरूप वेदार्थका जो कि विधिनिषेधात्मक है पूर्णतया प्रतिपादनार्थ प्रवर्ग्यप्रकरणपर्यन्त ब्राह्मण (शतपथ ब्राह्मण) उपयुक्त हुआ है। उसके वाद निवृत्तिरूप वेदार्थके प्रकाशनमें बृहदारण्यकका उपयोग

स च सर्वैषणात्यागरूपया ज्ञाननिष्ठया।
सम्पद्यते तदेतावद्ग्रन्थेनात्रोपपादितम् ॥१९॥

यह सर्वात्मभावरूपी परमपुरुषार्थ सर्वैषणात्यागरूप ज्ञाननिष्ठासे प्राप्त होता है। यह वात यहांतक वतायी ॥१९॥

एतदर्थद्वयं कृत्स्नवेदेन प्रतिपादितम्।
संक्षेपेणात्र चाध्याये तदेतद्विनिरूपितम् ॥२०॥

यह दो वेदार्थ समग्र काण्वशाखामें प्रतिपादित हुआ। संक्षेपसे इस अध्यायमें उसका निरूपण हुआ ॥२०॥

प्रवृत्तिलक्षणो योऽयं वेदार्थः प्राङ्निरूपितः।
प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणं हि प्रवृत्तं तत्प्रकाशने ॥२१॥

निवृत्तिलक्षणश्चार्थो योऽध्यायेऽस्मिन्निरूपितः।
बृहदारण्यकं तत्र प्रवर्ग्योर्ध्वं प्रवर्तते ॥२२॥

प्रवृत्तिलक्षण धर्मरूपी अर्थको उनतालीस अध्यायोंमें प्रायः जो निरूपित किया उसीके प्रकाशनके लिये शतपथमें प्रवर्ग्यप्रकरणपर्यन्त ब्राह्मणग्रन्थ है। तथा निवृत्तिलक्षण धर्मरूपी वेदार्थको इस (चालीसवें) अध्यायमें निरूपित किया उसीके प्रकाशनके लिये प्रवर्ग्यके बादका ग्रन्थ बृहदारण्यक प्रवृत्त होता है ॥२१-२२॥

नान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद् यो विद्यया सहाऽपरब्रह्मविषयया— तदुक्तं "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह"। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत" इति। तत्र केन मार्गेणामृतत्व-

हुआ। उसमें गर्भाधानसे लेकर श्मशानक्रियापर्यन्त कर्म करते हुए कर्म एवं अपर ब्रह्मविद्या (उपासना) के साथ जो जीना चाहता है, जिसके लिये "विद्या और अविद्याका समुच्चयानुष्ठान जो करता है" इसप्रकार पहले वक्तव्य दिया; वह अविद्या (कर्म) से मृत्यु पारकर विद्यासे देवात्मभाव-रूपी अमृतको प्राप्त करता है। उस विषयमें यह जिज्ञासा हुई कि किस

ननु कर्मप्रकरणे विद्याऽविद्यासमुच्चयम्।
अनुक्त्वा कथमेषोऽत्र ज्ञानकाण्डे प्रदर्शितः ॥२३॥

संसारगतिसीमानं ज्ञानोत्कर्षविवक्षया।
वैराग्योत्पत्तये वक्तुं सोऽत्रोक्त इति गृह्यताम् ॥२४॥

यदि ज्ञाननिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा इसप्रकार विभाग है तो इस कर्म-उपासनासमुच्चयको कर्म-प्रकरणमें न दिखाकर यहां ज्ञानकाण्डमें दिखानेका क्या मतलब ? सुनो। ज्ञानका उत्कर्ष दिखानेके लिये संसारफल कहाँतक है यह सीमा दिखाना आवश्यक है। उसे संमुख बतानेसे ज्ञानका उत्कर्ष देखकर संसारफलसे वैराग्य होगा (एक साथ दोनोंके आनेपर तुलनात्मक दृष्टि सुगमतया होगी) अतः यहींपर उसे दिखाया ॥२३-२४॥

संसारफलवैराग्यादीशावास्यमिदं भवेत्।
ततश्च युज्यतेऽत्रैव तदन्त्यफलवर्णनम् ॥२५॥

संसारफलवैराग्यसे ही यह संसार ईश्वराच्छादनयोग्य हो सकता है। अतः ईश्वराच्छादनकर्तव्यता दिखाकर तदर्थ अपेक्षित वैराग्योपयोगी संसारचरमफलवर्णन युक्त ही है ॥२५॥

तत्र प्राग् यत्फलं प्रोक्तं विद्याविद्यासमुच्चितौ।
मृत्युं तीर्त्वाऽमृतप्राप्तिर्जिज्ञासा तत्र जायते ॥२६॥

केन मार्गेण तदिदममृतं प्राप्नुयान्नरः।
अस्ति ह्युत्क्रमणं तस्याऽविद्याबन्धनसत्त्वतः ॥२७॥

तत्फलप्राप्णं मार्गं दर्शयन्तस्ततस्त्विमे ।
प्रवर्तन्तेऽग्रिमा मन्त्रा मार्गयाचनलक्षणाः ॥२८॥

उक्त प्रसंगमें विद्याऽविद्यासमुच्चयका मृत्युतरणपूर्वक अमृतप्राप्तिफल जो पहले बताया उसपर जिज्ञासा होती है कि वह अमृतफल किस मार्गसे जाकर मनुष्य प्राप्त करता है? क्योंकि अज्ञानबन्धन होनेसे उसका उत्क्रमण निश्चित है। ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक होनेसे उसके उत्तरके रूपोंमें यथोक्त फलप्राप्तिकारक मार्गको बतानेके लिये मार्गयाचनात्मक अग्रिम मन्त्र प्रवृत्त होते हैं ॥२६-२८॥

नन्वर्चिरादिमार्गो हि पुरुषोपासितुर्भवेत् ।
न सोऽत्र दर्शितो मैवं सामान्येनाभिधानतः ॥२९॥

आदित्यपुरुषो मार्गे दृश्यते नैव दक्षिणे ।
अर्चिरादिरतो मार्गस्तद्दृष्टे रनुमीयते ॥३०॥

मुहुर्गतागतयुतादन्योऽयं मार्ग इत्यपि ।
सुपथाऽग्ने नयेत्यत्र सूपसर्गेण दर्शितम् ॥३१॥

पूर्वपक्षः—अर्चिरादिमार्ग हिरण्यगर्भोपासकका होता है। उसका वर्णन यहां नहीं है। तब भाष्यकार कैसे कहते हैं कि 'किस मार्गसे जाते हैं यह बात यहां कही जा रही है'? उत्तरः—यद्यपि विशेषरूपसे नहीं बताया तथापि सामान्यरूपसे मार्ग कह दिया है। दक्षिणमार्गमें आदित्यपुरुषपददर्शन नहीं होता है। उसका दर्शन यहां बताया है। अतः अर्चिरादिमार्ग अर्थतः प्राप्त होता है। "अग्ने नय सुपथा" इस मन्त्रमें "सु" यह उपसर्ग बारबार गमनागमनसे रहित अर्चिरादिमार्गका सूचक है ॥२९-३१॥

ननु मार्गपरिज्ञानं पुमर्थं न स्वतो भवेत् ।
न चाङ्गं तदभवेऽपि फलप्राप्तेरुपासनात् ॥३२॥

याचनाप्यत एवात्र नाङ्गं भवितुमर्हति ।
मृत्युकाले विस्मरणे फलाऽप्राप्तिप्रसङ्गतः ॥३३॥

पूर्वपक्षः—यहां जो मार्ग बताया जा रहा है उसका ज्ञान स्वतन्त्र कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता। क्योंकि वह सुखदुःखभावान्यतररूप नहीं है।

वह अंग भी नहीं हो सकता। हिरण्यगर्भोपासना फलप्राप्तिका साधन है उसके करनेपर मार्गज्ञानके अभावसे फलभाव संभव नहीं है। अतएव मार्ग-याचना भी अंग नहीं है। मृत्युकालमें प्रायः बेहोशी होती है। विस्मरण होता है। उस समय प्रार्थना नहीं बन पायी तो जीवनभरकी हुई उपासना व्यर्थ होने लगेगी ॥३२-३३॥

अत्राहुः सुपथिज्ञानात् प्राशस्त्यावगमो भवेत्।
ततः समुच्चये सम्यक् प्रवृत्तिः स्यान्महात्मनाम् ॥३४॥

इसका उत्तर देते हैं कि सुमार्ग कथनसे उपासनामें प्राशस्त्यज्ञान होगा। तब समुच्चयानुष्ठानमें सम्यक् प्रवृत्ति होगी इसप्रकार इसकी सार्थकता है ॥३४॥

वस्तुतस्त्वङ्गमेवेदं वीर्यवत्तरकारणम्।
अन्तकाले समायाते जप्या मन्त्रा इमेऽर्थतः ॥३५॥

वस्तुतः कर्मकी वीर्यवत्तरताका कारण होनेसे यह मार्गयाचनादि अंग ही है। अन्तकाल आनेपर अर्थानुसंधानके साथ इन मन्त्रोंका जप करना चाहिये ॥३५॥

नन्वागते मृत्युकाले मूर्छादेः सम्भवात्कथम्।
अङ्गं भवेदिदं नाम मा भून्निष्फलता विदः ॥३६॥

मैवं ततः पूर्वमपि भवन्ति सुजपा इमे।
न हि मृत्युक्षणे जप्यमिति खल्वत्र चोदितम् ॥३७॥

शंका यही तो है कि मृत्युकालके आनेपर मूर्छाविस्मरणादि संभव है तब यह अंग कैसे माना जा सकता है। कहीं उसके अभावमें उपासना ही निष्फल न होजाय। समाधन यह है कि मृत्युकालसे कुछ पहले भी इन मन्त्रोंका जप हो सकता है। मृत्युक्षणमें ही जप करो ऐसी कोई विधि यहां नहीं है ॥३६-३७॥

प्रार्थनालिङ्गतश्चैषां जप्यत्वमिह लभ्यते।
पठितं च प्रकरणे ततोऽङ्गत्वं सुनिश्चितम् ॥३८॥

प्रार्थनालिंगसे इन मन्त्रोंकी जप्यता सिद्ध होती है। प्रकरणपठित होनेसे उपासनाङ्ग भी निश्चित होता है ॥३८॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

सुवर्णमय पात्रसे सत्य परमात्माका मुख अच्छादित हो गया है। हे पूषन् ! मुझ सत्यधर्मवालेको उस परमात्माका दर्शन प्राप्त हो एतदर्थ उस हिरण्मय पात्रको तुम हटा दो ॥१५॥

मश्नुत इत्युच्यते ।

"तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" एतदुभयं सत्यं ब्रह्मो-पासीनो यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमा-

मार्गसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है उसके उत्तरार्थ अग्रिम मन्त्र हैं ।

वह जो सत्य है वही यह आदित्य है जो इस मण्डलमें पुरुषरूप है तथा जो यह दक्षिण अक्षिमें भी पुरुषरूप है। ये दोनों सत्यब्रह्म हैं। इनकी उपा-सना करनेवाला तथा पूर्वप्रतिपादितरूपेण कर्म करनेवाला अन्तकाल प्राप्त

एतेन मार्ग एवात्र यदि श्रुत्या विवक्षितः ।
अर्चिरादिर्हि वक्तव्य इत्याक्षेपः पराकृतः ॥३९॥

केवला नोच्यते ह्यत्र यतो मार्गपरम्परा ।
किन्त्वङ्गजप्यमन्त्रार्थमार्गोक्तिं ब्रूमहे श्रुतिम् ॥४०॥

इससे यह पूर्वपक्ष भी निरस्त हो जाता है कि यदि यहां मार्ग विवक्षित है तो अर्चि अह शुक्लपक्षादि कहना चाहिये था। क्योंकि यहां केवल उस मार्गपरम्पराका वर्णन नहीं है। किन्तु हम यही कहते हैं कि उपासनाङ्ग जप्यमन्त्र मार्गवर्णनात्मक है ॥३९-४०॥

सत्यरूपः स आदित्यो मण्डले पुरुषः श्रुतः ।
स एवासौ दक्षिणाक्षिपुरुषोऽध्यात्ममीरतः ॥१॥

"तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः" इत्यादि श्रुतिमें मण्डलमें आदित्यपुरुषरूपेण जिस सत्य आत्माको बताया उसीको वहां अध्यात्मभावसे दक्षिणाक्षिपुरुष भी बताया ॥१॥

त्मनः प्राप्तिद्वारं याचते--हिरण्मयेन पात्रेण। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत्, तेन पात्रेणेवापिधानभूतेन

होनेपर सत्यात्माके प्रति अपने प्राप्तिद्वारकी 'हिरण्मयेन पात्रेण' इस मन्त्रसे याचना करता है। हिरण्मय अर्थात् सुवर्ण जैसा ज्योतिर्मय। ऐसे पात्रसे

उपासीनः कर्मवता सोऽहंभावनया स च।
अन्ते साक्षात्कृतः सत्यो द्वारत्वं प्रतिपद्यते ॥२॥

प्रकृत्युपासकानां च संभूत्यात्मा पुमानसौ।
सत्त्वनैर्मल्यहेतुत्वाद् द्वारत्वमुपयात्ययम् ॥३॥

समुच्चयरूपेण कर्मरत पुरुषके द्वारा सोऽहंभावसे उपासित वही आदित्यपुरुष साक्षात्कृत होनेपर द्वाररूप हो जाता है। एवं प्रकृतिके उपासकोंके लिये भी संभूतिरूप वह आदित्यपुरुष उपास्यप्रकृतिगतसत्त्वनैर्मल्यकारण होनेसे द्वार हो जाता है ॥२-३॥

प्रार्थनायां कृतायां तु स्पष्टसाक्षात्कृतो भवेत्।
स्फुरदैश्वर्यलाभादिफलं तेन भविष्यति ॥४॥

प्रकृत मन्त्रोंसे प्रार्थना करनेपर स्पष्टतया उस आदित्यपुरुषका साक्षात्कार हो जाता है। जिससे अणिमादि ऐश्वर्यकी विशेषरूपेण प्राप्ति उसका परिणाम है ॥४॥

अन्तकाले परिप्राप्ते सत्यात्मानं तमात्मनः।
प्राप्तिद्वारमतो दृष्टिं मन्त्रेणानेन याचते ॥५॥

अन्तकालका आभास मिलने लगा तो सत्यात्मा हिरण्यगर्भकी प्रतिदिन प्रार्थना करनी चाहिये। वह परमात्मदर्शन द्वार है वही प्राप्तिद्वारयाचनात्मक यह उत्तरमन्त्र है ॥५॥

हिरण्मयेन··········मुखम्

हिरण्मयसमानेन द्वारं ज्योतिर्मयेन ते।
पात्रेणेवापिधानेन सत्यस्याच्छादितं मुखम् ॥६॥

सुवर्णमय पात्रके समान ज्योतिर्मय आपके आच्छादक किरणोंसे सत्य परमात्माका मुख अर्थात् प्राप्तिद्वार आच्छादित हो गया है ॥६॥

सत्यस्य=आदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणः अपिहितम्=आच्छादितं

अर्थात् पात्र जैसे ढक्कनसे आदित्यमण्डलस्थ सत्य ब्रह्मका मुख यानि द्वार आच्छादित हुआ है।

हिरण्यं हर्यमाणत्वात्केचिद्वेदत्रयात्मकम्।
व्याचख्युस्तदसन्नेव मुखं वेदैः पिधीयते ॥७॥
न चेशावास्यमितिवज्ज्ञानवास्यमुदीर्यते।
तथा सति कथं युक्तं तदपावृत्तियाचना ॥८॥

कुछ लोगोंकी व्याख्या है—हर्यमाण अर्थात् भोगमोक्षेच्छुओंके काम्यमान् होनेसे वेदयत्र ही हिरण्मय पात्र है। किन्तु वह असंगत है। क्योंकि वेदोंसे सत्यका मुख कैसे आच्छादित होगा? यदि कहो—ईशावास्यंके समान ज्ञानमयता ही आच्छादन है तो "अपावृणु" यह अपावरणयचनाकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? ॥७-८॥

हिरण्मयेन रजसा जीवस्य पिहितं मनः।
समाधिप्रतिबन्ध्यं तमपाकुर्विति केचन ॥९॥
तदसत्तमसाप्येव पिधानं दृश्यते यतः।
सोऽप्यर्थोऽशीप्सितश्चेत्स्यादप्रसिद्धार्थता स्फुटा ॥१०॥
रजस्तमोमयः किं नु हिरण्मयपुमान् श्रुतः।
सत्यश्च परमात्मैव जीवे लाक्षणिकस्तु सः ॥११॥
घटादयोऽपि सत्यास्ते व्यावर्त्या लक्षणश्रायात्।
परमेकादशद्वारं मनोमात्रं कुतो मुखम् ॥१२॥
द्वार्यंस्योद्घाटचते तस्य दृष्टिः स्यान्न परात्मनः।
व्यूहरश्मीनिति वचःप्रातिकूल्यं च ते भवेत् ॥१३॥

कुछ लोग व्याख्या करते हैं—हिरण्मय अर्थात् रजोगुणमय रागादिसे सत्यका अर्थात् जीवका मुख अर्थात् मन आच्छादित हुआ है जो समाधिका प्रतिबन्धक है। उसे तुम हटाओ। यह व्याख्या अयुक्त है। रजोगुणके समान तमोगुण भी तो आच्छादक है। हिरण्मयका रजोगुण तमोगुण दोनों अर्थ यदि कहें तो मतलब यह होगा कि हिरण्यगर्भके लिये श्रुतियोंमें जो हिरण्मय पुरुष प्रयोग आया है वहां रजस्तमोमय पुरुष अर्थ है। क्या यह

मुखं=द्वारम् तत्त्वं हे पूषन् अपावृणु=अपसारय ।

हे सूर्यदेव ! उस आच्छादनको तुम हटा दो ।

युक्त है ? अप्रसिद्ध नानार्थकल्पना अयुक्त है। सत्यका सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ही मुख्यार्थ है। साधारण सत्यता तो घटादिमें भी आप मानते हैं उसकी व्यावृत्तिके लिये सत्यपदमें लक्षणा माननी पड़ेगी। मुखका द्वार अर्थ करते हैं तो "पुरमेकादशद्वारं" में ग्यारह द्वार बताये हैं उनमें दसकी व्यावृत्तिके लिये वहां भी लक्षणा कीजिये। जिसका द्वार खोला जाता है उसका दर्शन होगा, न कि अन्यका। फिर रूपकसे कहना हो तो जीवकी आँख ढक गयी कहना चाहिये, न कि मुख। अगले मन्त्रमें "व्यूह रश्मीन्" इसके साथ भी मेल नहीं खायेगा ॥८-१३॥

तत्त्वं पूषन्नापावृणु

तीक्ष्णज्योतिर्वशान्नैव द्रष्टुमर्हन्ति तं जनाः ।
अतः पिधानं भवति ज्योतिर्मण्डलमुग्ररुक् ॥१४॥

उपास्तौ क्रियमाणायां विरश्मि रविमण्डलम् ।
चन्द्रमण्डलवद्भाति तदा पुरुषदर्शनम् ॥१५॥

तदेनत् प्रार्थ्यते मन्त्रे तत्त्वं पूषन्नपावृणु ।
प्राक्प्रदर्शितवज्ज्ञेयं प्रार्थनायाः प्रयोजनम् ॥१६॥

तीक्ष्णज्योतिके कारण उस आदित्यपुरुषको लोग नहीं देख पाते। अतः उग्र प्रभावाला ज्योतिर्मण्डल पात्रवत् आच्छादक होता है। उपासना करनेपर सूर्यमण्डल उग्ररश्मिरहित हो जाता है। चन्द्रमण्डलके समान हो जाता है। तब तदन्तःस्थपुरुषका दर्शन होने लगता है। यही "तत्त्वं पूषन्नपावृणु" से प्रार्थना की जा रही है। प्रार्थनाका फल जैसे पहले बताया वैसे समझना चाहिये ॥१४-१६॥

वस्तुतस्तु परिच्छेदं चक्षुर्मण्डलकारितम् ।
हित्वा पुरुषरूपेण दर्शनं दृष्टिरुच्यते ॥१७॥

तत्र ज्योतिर्मयं रूपं भवति प्रतिबन्धकम् ।
ज्योतीरूपः क्व सूर्योऽयं निस्तेजाः क्व किलास्म्यहम् ॥१८॥

वस्तुतः आगे जो "दृष्टये" इसप्रकार दृष्टि बतायी जायेगी वह आदित्यमण्डलपरिच्छेद तथा चक्षुपरिच्छेद दोनोंका त्यागकर केवल पुरुषरूपेण दर्शन ही है। उस परिच्छेदरहित रूपदर्शनमें सूर्यका यह ज्योतिर्मय रूप प्रतिवन्धक है। कहाँ यह ज्योतिस्वरूप सूर्य और निस्तेज मैं कहाँ इसप्रकार देखनेसे एक्यज्ञान नहीं हो पाता ॥१७-१८॥

व्यवधानद्वयमिदमपाकुर्यादुपासिता ।
हिरण्यगर्भरूपेण तदात्मानं स पश्यति ॥१९॥

उपासक मण्डलोपाधि तथा चक्षु उपाधि दोनों व्यवधानोंको हटा लेता है। तव वह अपने आत्माको हिरण्यगर्भपुरुषरूपसे देखने लगता है ॥१९॥

अक्ष्यादित्याख्यनीडस्थौ स्थानभेदप्रभेदतः ।
भिन्नाविव समीक्ष्येते देवतैकैव सा सती ॥२०॥

बृहदारण्यके सम्यगाचार्यैरिति वार्तिके ।
वर्णितं तेन तद्भेदभानमेवाऽपिधायकम् ॥२१॥

चक्षु एवं आदित्यमण्डलरूपी उपाधिमें स्थित होनेसे स्थानविशेष (उपाधिविशेष) के भेदसे ये दोनों भिन्न दीखते हैं। वस्तुतः एक ही वह देवता है। इसप्रकार श्रीमत्सुरेश्वराचार्यने वृहदारण्यकवार्तिकमें वर्णन किया है। अतः भेदभान ही यहां आच्छादक है ॥२०-२१॥

ननु सा देवता स्वस्माद्भिन्ना भवितुमर्हति ।
न हीन्द्रियाद्यधिष्ठातृदेवतैक्यं निजात्मनः ॥२२॥

अतीन्द्रियाश्च ते देवास्ततश्चैक्यमिदं कथम् ।
शक्यते चक्षुरादित्यदेवयोः खलु वीक्षितुम् ॥२३॥

पूर्वपक्षः—वह आदित्यदेवता जीवात्मासे भिन्न है। क्योंकि इन्द्रियाधिष्ठातृदेवता और जीवात्माका ऐक्य माना नहीं गया है। देवता अतीन्द्रिय भी है। तव चक्षुदेवता और आदित्यदेवताका ऐक्य देखा भी कैसे जा सकता है ॥२२-२३॥

नैवमादित्यपुरुषे सोऽहमस्मीति दर्शनात् ।
चाक्षुषे पुरुषेऽप्येवं सोऽहमस्मीति गम्यते ॥२४॥

एतदुक्तं भवत्यत्र भिन्नाऽधिष्ठातृदेवता ।
हिरण्यगर्भः पुरुषो भिन्न एव ततो मतः ॥२५॥

आदित्ये यमयेत्तिष्ठन्नादित्यो यं न वेद सः ।
हिरण्यगर्भो भवति सूक्ष्मोपधिवशात्पुमान् ॥२६॥

आदित्यमण्डलोपाधिरक्ष्युपाधिश्च सन्नयम् ।
भिन्नवद् वीक्ष्यते तद्धि पिधानमिह वर्णितम् ॥२७॥

समष्ट्युपाधिः स भवेत् सूत्रात्मा परमेश्वरः ।
व्यष्ट्युपाधिश्च जीवोऽयमैक्यं चातस्तयोर्मतम् ॥२८॥

व्यष्ट्युपाधेरभिभवे सत्कर्मोपासनावशात् ।
समष्टिभावो देवात्मभाव इत्यभिधीयते ॥२९॥

सिद्धान्तः—आदित्यपुरुषमें सोऽहंभाव श्रुतिसिद्ध है। अतः चाक्षुष पुरुषमें सोऽहंभावात्मक साक्षात्कार श्रुत्यभिमत है। क्योंकि आदित्यपुरुष और चाक्षुषपुरुषमें भेद नहीं है। यहाँ यह अभिप्राय है कि चक्षु आदिका अधिष्ठातृदेवता चाक्षुषपुरुषसे भिन्न है, वह अतीन्द्रिय है। हिरण्यगर्भ उससे भिन्न है। "य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि अन्तर्यामी श्रुतिमें आदित्यदेवतासे पृथक् अन्तर्यामीको बताया है। वही अन्तर्यामी सूक्ष्मो-पाधिवशात् हिरण्यगर्भ होता है। उसके आदित्यमण्डल तथा तथा चक्षु इन दो उपाधियोंके कारण भेदसा हो जाता है। वही यहाँपर आच्छा-दक हैं। उसका जीवके साथ भी अभेद है। क्योंकि समष्टिसूक्ष्मशरीरोपाधि हिरण्यगर्भ है। व्यष्टि सूक्ष्मशरीरोपाधि (जो गमनागमनकर्ता है) जीवात्मा है। उपासनाकर्मसमुच्चयसे इस व्यष्टि उपाधिका अभिभव होता है (नाश नहीं, अतः पुनरावृत्ति है) तो समष्टिभाव आ जाता है यही देवात्मभाव है ॥२४-२९॥

यत्पुनः सोऽहमस्मीति प्रागेवाभेदवर्णनम् ।
औपदेशिकमेवेदं नाध्यक्षमिति न क्षतिः ॥३०॥

"तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" ऐसा दर्शनसे पहले जो अभिदेकथन है वह उपदेशसे होनेवाले ज्ञानसे प्रयुक्त है। प्रत्यक्षात्मक नहीं है। अतः असंगति नहीं है ॥३०॥

सत्यधर्माय—तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम् । अथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे । दृष्टये—तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥१५॥

सत्यकी उपासना करनेसे सत्य ही मेरा धर्म हो गया है। दूसरी बात, मैं यथार्थ धर्मका पालन करता हूँ। सर्वथा मैं सत्यधर्मा हूँ। ऐसा मैं उस सत्यात्माका दर्शन कर लूँ ॥१५॥

सत्यधर्माय

हिरण्यगर्भः पुरुषः सत्योऽयं मण्डलस्थितः ।
तदुपासनमप्येव सत्यं तद्बोधकत्वतः ॥३१॥

स एव धर्मो यस्यासौ सत्यधर्मा निगद्यते ।
तस्मै मह्यं समुद्धर्तुं मां हे पूषन् कृपानिधे ॥३२॥

सत्यधर्मपदमें सत्यशब्दका वाच्यार्थ मण्डलस्थपुरुष हिरण्यगर्भ है। उसकी उपासना भी सत्यविषयक होनेसे सत्य है। वह धर्म जिसका हो वह सत्यधर्मा है। उस सत्यधर्म मेरे लिये अर्थात् मेरे उद्धारार्थं हे कृपानिधि पूषन् इस आच्छादनको हटाओ ॥३१-३२॥

यद्वा सत्यं यथाभूतकथनस्मरणादिकम् ।
स एव धर्मो यस्यासौ सत्यधर्मेत्युदीर्यते ॥३३॥

उपासितुर्विशेषोऽयं धर्मः स्यात्सत्यनिष्ठता ।
क्रतौ नैवानृतं ब्रूयादितिवत् साङ्गतामियात् ॥३४॥

अथवा सत्यशब्दका प्रसिद्धार्थ यथार्थकथन यथार्थस्मरण आदि ही लो। वही जिसका धर्म हो वह सत्यधर्मा है। अर्थात् सत्यनिष्ठता उपासकके लिये अनुष्ठेय है। जैसे क्रतुमें झूठ न बोलो यह विशेषकथन होनेसे अनृतत्याग क्रत्वङ्ग है वैसे सत्यनिष्ठता उपासनाङ्ग है ॥३३-३४॥

नित्यस्यानुसरणं शास्त्रोक्तार्थानतिक्रमः ।
शिष्टानुवर्त्तनं वाऽस्तु यथाभूतत्वमत्र तु ॥३५॥

यथाभूत सत्यका नित्यकर्माद्यनुष्ठान, शास्त्रोक्तार्थका अनतिक्रमण या शिष्टजनानुवर्तन भी अर्थ हो सकता है ॥३५॥

दृष्टये

दृष्टये दर्शनायास्य पुंसः सत्यात्मनस्तव ।
त्वत्स्वरूपावलोकार्थं पात्रमेतदपावृणु ॥३६॥

दृष्टये अर्थात् सत्यात्मा हिरण्यगर्भके दर्शनार्थ। हे सूत्रात्मन्, आप अपने स्वरूपदर्शनार्थ उक्त पात्रका अपसारण करें ॥३६॥

हिरण्मयेन रागेण जीवस्यापिहितं मनः ।
जीवधर्मपरब्रह्मदृष्टये तदपावृणु ॥३७॥

इत्येके तदसन्नैव रागस्यास्ति पिधातृता ।
घनरागयुतः किं नु घटादि नहि वीक्षते ॥३८॥

अरागस्याप्यनभ्यासाद्बोधावृत्त्यनुपस्थितेः ।
जीवधर्मः कथं नाम ब्रह्मदर्शनमिष्यताम् ॥३८॥

जीवे तदुद्भवादेव यदि स्याज्जीवधर्मता ।
घटादिदर्शनमपि जीवधर्मः कथं न ते ॥४०॥

अव्यावर्तकमेवेदं विशेषणमतो भवेत् ।
ब्रह्मणा चारितार्थ्यं यदध्याहार्येण कर्मणा ॥४१॥

कुछ लोग यह व्याख्या करते हैं कि हिरण्मय पात्रका राग अर्थ है। और मुखका मन अर्थ है (इसका निराकरण पहले आ गया है) सत्यधर्माय दृष्टयेका अर्थ है—जीवधर्मरूप परमात्मदर्शनके लिये। तदर्थ रागापिधानको खोलो। परन्तु यह अर्थ असंगत है। राग आच्छादकद्वार नहीं है। उसे खोला भी नहीं जाता। दूसरी बात-घनराग होनेपर क्या घटपटादिका दर्शन होना बंद हो जाता है? राग न होनेपर भी ब्रह्माभ्यासरहितको ब्रह्मदर्शन नहीं होता। तब जीवका धर्म ब्रह्मदर्शन किस प्रकार? जीवमें ब्रह्मदर्शन उत्पन्न होता है इतनेमात्रसे उसे जीवधर्म माना जाय तो घटादिदर्शन जीवधर्म क्यों नहीं? दृष्टिका (दर्शनका) कर्मकारक ब्रह्मपदका अध्याहार करके व्याख्या करनी है तो सत्यधर्माय यह विशेषण अव्यावर्तक होनेसे व्यर्थ क्यों नहीं? ॥३७-४१॥

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।
इत्युक्तेर्जीवधर्मत्वमित्युक्तावपि तत्तथा ॥४२॥

अजीवधर्मो नैवास्ति दृष्टिर्वाऽन्योऽपि कश्चन ।
तद्विशेषणवैयर्थ्यं शक्यं वारयितुं न ते ॥४३॥

यदि कहते हैं कि धर्मपदसे याज्ञवल्क्योक्त धर्म विवक्षित है। याज्ञवल्क्य-जीने कहा है—योगसे आत्मदर्शन करना परमधर्म है तो भी सत्यधर्माय यह विशेषण व्यर्थ है। अजीवका धर्म ही नहीं होता। चाहे दृष्टि हो या अन्य कोई। धर्म सभी जीवके ही होते हैं। ईश्वर धर्मदृष्टि व्यावृत्त करना भी व्यर्थ है। क्योंकि वह अप्राप्त है और प्राप्त हो गया तो बिगड़ता क्या है ॥४२-४३॥

इति पञ्चदशमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ
पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

जगत् पोषणकर्ता हे पूषन्, एकाकीचारी हे एकर्षि ! सर्वसंयमकारी हे यम ! सर्वप्रेरक हे सूर्य ! प्रजापतिपुत्र हे प्राजापत्य ! अपनी रश्मियोंको हटाओ, तेजको पुञ्जीकृत करो। जो आपका परममंगलरूप है उसे आपके प्रसादसे मैं देखूं । जो मण्डलस्थ पुरुष है वह मैं ही हूँ ॥१६॥

[पूषन्निति] पूषन् हे पूषन् जगतः पोषणात्पूषा रविः, तथा-एक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः । हे एकर्षे । तथा--सर्वस्य

हे पूषन् जगत्का पोषण करते हो अतः पूषा हो। हे एकर्षे एकाकी विचरण करते हो अतः एकर्षि हो। हे यम ! सबका संयमन करते हो

यदुक्तं दृष्टये पात्रं हिरण्मयमपावृणु ।
रश्म्यपाकरणार्थं तदिति स्पष्टयति श्रुतिः ॥१॥

पूर्वमन्त्रमें (हिरण्मय) दर्शनार्थ हिरण्मयपात्रका जो अपाकरण बताया वह रश्मियोंके अपाकरणार्थं या तत्पूर्वक भेदनिवृत्त्यर्थ है यह अब श्रुति स्वयं स्पष्ट करती है ॥१॥

पूषन्

पोषणाज्जगतः पूषा घर्मवृष्टयादिभिर्मतः ।
अनुग्रहं परे प्राहुः पोषणं द्वादशात्मनः ॥२॥

अनुग्रहं प्रकाशेन कुर्वन्नित्याह भाष्यकृत् ।
देवनां वै भागदुधः पूषेति च वचः श्रुतेः ॥३॥

ऊष्मा, वृष्टि आदिसे जगत्का पोषण करता है इसलिये सूर्यको पूषा कहा। पोषणका सूर्यानुग्रह अर्थ भी मानते हैं। भाष्यकारने बताया है—प्रकाशके द्वारा अनुग्रह करनेवाला सूर्य है। देवताओंके भाग्यको दुहनेवाला पूषा है ऐसा श्रुतिवचन भी है ॥२-३॥

एक एव ऋषत्येष गच्छतीति तथाविधः ।
एकर्षिः श्रूयते सूर्य एकाकी चरतीति हि ॥४॥

संयमनाद् यमः, हे यम। तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वी [क] रणात् सूर्यः। हे सूर्य। प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः। हे

अतः यम हो। हे सूर्य रश्मियोंको प्राणोंको और रसोंको सम्यक् प्रेरित

एकोऽद्वितीयो वेत्त्येष तेन चैकर्षिरुच्यते।
जगतस्तस्थुषश्चात्मा रविरद्वैतदर्शनात् ॥५॥

अकेला चलता है इसलिये एकर्षि है। "सूर्य एकाकी चरति" ऐसी श्रुति है। अद्वितीय सर्वज्ञ होनेसे भी एकर्षि है। "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"के अनुसार सर्वात्मा अद्वैतका दर्शन करता है इसलिये भी एकर्षि है ॥४-५॥

यम

सर्वसंयमनादेष यम इत्युच्यते रविः।
स कालं कलयन् सर्वं यमयेद्दिनरात्रिभिः ॥६।

रविमण्डलमध्यस्थमन्तर्यामिणमीश्वरम् ।
यमयन्तमभेदेन ब्रूत इत्यपरे जगुः ॥७॥

सूर्यका नाम यम इसलिये पड़ा कि वह सर्वसंयमनकर्ता है। दिनरात्रिके द्वारा कालको वही पैदा करता है। सूर्यमण्डलमध्यस्थ अन्तर्यामी ईश्वरसे अभेदकर यम ऐसा संबोधन है ऐसी भी व्याख्या है ॥७॥

सूर्य

रसान् रश्मीन् धियः प्राणान् सुष्ठ्वीरयति तेन सः।
सूर्य इत्युच्यते सुष्ठु वीरणादपरे जगुः ॥८॥

सुवीर्यत्वेन सूर्यत्वं तैत्तिरीयश्रुतिर्जगौ।
मर्त्यगोपायने वीर्यं बुद्ध्यादिप्रेरणेऽपि च ॥९॥

सुष्ठु ईरणात् सूर्यः। रस, रश्मि, बुद्धि एवं प्राणोंको प्रेरित करता है इसलिये सूर्य कहलाया। सुष्ठु वीरयति इति सूर्यः ऐसा अर्थ भी है। सुवीर्य होनेसे सूर्य है। ऐसा तैत्तिरीय श्रुतिमें भी कहा है। "सुवीर्यो मर्त्या यथा गोपायते"। मर्त्य अर्थात् मर्त्योंका वह रक्षण करनेमें वीर है। बुद्धि आदिको प्रेरणा देनेमें भी वीर है ॥८-९॥

प्राजापत्य । व्यूह=विगमय रश्मीन् स्वान् । समूह=एकीकुरु=

करते हो अतः सूर्य हो । प्राजापत्य ! प्रजापतिके अपत्य होनेसे प्राजापत्य हो । ऐसे तुम अपने रश्मियोंको हटाओ । तथा तापक तेजका उपसंहार

प्राजापत्य

प्रजापतेरपत्यत्वात् प्राजापत्यो दिवाकरः ।
पतिः प्रजायमानानां परमात्मा प्रजापतिः ॥१०॥

स चोपाधिविशिष्टः सन् सूर्यतामुपगच्छति ।
तथा च तस्य श्रेष्ठत्वं शब्देनानेन सूच्यते ॥११॥

प्रजापतिका अपत्य (पुत्र) होनेसे सूर्यको प्राजापत्य कहा । प्रजापति परमात्माको कहते हैं । क्योंकि प्रजायमान समस्त भूतोंका वह पति है । वही उपाधिविशिष्ट होकर सूर्य होता है । इस विशेषणसे सूर्यको परमात्मासे निकट कहकर श्रेष्ठता सूचित की गयी है ॥१०-११॥

व्यूह रश्मीन्

रश्मीन् विगमय व्यूह वस्तुदर्शनहेतवे ।
भौतिकै रश्मिभिर्यत्ते तादात्म्यं तदपाकुरु ॥१२॥

व्यूह रश्मीन अर्थात् रश्मियोंका अपाकरण करो जिससे परमार्थतत्त्व-दर्शन हो । भौतिक रश्मियोंसे तादात्म्य हो जानेसे स्वरूपज्ञान नहीं होता । उस तादात्म्यका निराकरण करो यह अर्थ है ॥१२॥

समूह तेजः

त्वाष्ट्राणि खलु रूपाणि सर्वाणि जगतीतले ।
रूपनानात्वमेतस्मात्तदेकीकुरु तापकम् ॥१३॥

संसाररूपं सकलं तेजस्तापकमेव तत् ।
तदेकीकरणं नाम मता तदुपसंहृतिः ॥१४॥

तेजसस्तापकस्यास्य कृतायामुपसंहृतौ ।
सुदर्शः पुरुषस्तत्र द्वारं प्राप्तौ फलस्य यत् ॥१५॥

जगतमें सभी रूप सौर ही हैं । उसीसे नानारूप हैं । वही तापकारण है । उस नानात्वको हटाकर एकीकरण करो । संसाररूप सभी तापक हैं ।

उपसंहर ते तेजः तापकं ज्योतिः। यत् ते=तव रूपं कल्याण-तमम्=अत्यन्तशोभनं तत् ते=तव आत्मनः प्रसादात् पश्यामि। किं चाहं न तु त्वां भृत्यवद् याचे—यः असौ आदित्यमण्डल-

करो। जो तुम्हारा कल्याणतम रूप—अत्यन्त शोभन रूप है उसे तुम्हारे ही प्रसादसे मैं देखूं। मैं भृत्यके समान याचना नहीं कर रहा हूँ।

उसका एकीकरण उपसंहार ही है। उस तापक तेजका उपसंहार होनेपर पुरुषदर्शन सुलभ होगा जो फलप्राप्तिमें साधन है ॥१४-१५॥

यत्ते रूपं कल्याणतमम्

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१६॥

इत्युक्तं भगवत्तेजो भूततादात्म्यवर्जितम्।
अत्यन्तशोभनत्वारात् कल्याणतममुच्यते ॥१७॥

जो आदित्यमें अखिल जगतकाभासक तेज है और जो चन्द्रमामें और अग्निमें है वह मेरा (भगवानका) ही है इसप्रकार भूततात्म्यरहित तेजको भगवत्तेज वताया। वह अत्यन्त शोभन होनेसे कल्याणतम है ॥१६-१७॥

तत्ते पश्यामि

तत्ते तव प्रसादेन पश्यामि परमं महः।
तमेव भान्तमनुभातीति श्रुतिसमीरितम् ॥१८॥

उस परमश्रेष्ठ तेजको मैं आपके प्रसादसे देखूं जिसे श्रुतिमें इस प्रकार कहा है—उसीके भासित होनेपर यह जगत् भासित होता है ॥१८॥

तत्ते तुभ्यं त्वदर्थं हि पश्यामीत्यपरे जगुः।
तदसन्नोपकारोऽस्ति दृष्टया ते परमात्मनः ॥१९॥

कुछ लोग व्याख्या करते हैं—ते अर्थात् तुम्हारे लिये मैं देखता हूँ। परन्तु वह असद् व्याख्या है। तुम्हारे दर्शनसे परमात्माका कौनसा उप-कार होता है? ॥१९॥

स्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्, पूर्णं वाऽनेन प्राण-

जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है जिसके व्याहृति ही अवयव हैं, पुरुषाकार होनेसे या प्राण एवं बुद्धिरूपसे समस्त जगत्को पूर्ण करनेसे अथवा शरीर

त्वदर्थमेव पश्यामि त्वदर्थं च शृणोम्यहम् ।
सर्वं त्वदर्थमेवेति नम्रतैषेति चेन्न तत् ॥२०॥

विनोपकारमीशस्य ह्युपकारं बलाद् वदन् ।
मोक्षं स्वोपकृतिं वाञ्छन् वञ्चकस्त्वं प्रतीयसे ॥२१॥

तुम्हारे लिये मैं देखता हूँ तुम्हारे लिये मैं सुनता हूँ, सब तुम्हारे लिये ही है; इस प्रकार नम्रतासे कहते हैं ऐसा अर्थ करें तो ? नहीं, इससे ईश्वरका कोई उपकार नहीं होता। फिर भी जबर्दस्ती ईश्वरका उपकार बोल कर चुपके से अपना उपकार मोक्ष अंदरसे चाहते हो। लगता है तुम ठग हो ॥२०-२१॥

ननु कर्मार्पणं विष्णौ विवक्षितमिहेति चेत् ।
अतत्प्रतीतेरखिलकर्मानुक्तेरसद्धि तत् ॥२२॥

पूर्वपक्षः—यहां परमात्माके लिये कर्मार्पण विवक्षित है। उत्तरः—कर्मार्पणकी यहां प्रतीति नहीं है। क्योंकि अर्पयामि इत्यादि पद नहीं हैं। दूसरी बात "यत्करोषि यदश्नासि"के अनुसार सर्वकर्मार्पण कहना चाहिये। पश्यामि यह दर्शनमात्रार्पण क्यों ? दर्शनसे तुम्हारा कोई विशेष मतलब तो है नहीं। यदि है तो वही स्वार्थ प्रयोजन हो जायेगा ॥२२॥

ननु प्राप्तं समर्प्येत सत्यं प्राप्तं क्व दर्शनम् ।
प्राप्तत्वे तु कुतः पूर्वं दर्शनप्रार्थना कृता ॥२३॥

शंकाः—प्राप्त कर्मका समर्पण होता है। प्रकृतमें दर्शन ही प्राप्त है। समाधानः—ठीक है। लेकिन दर्शन कहां स्वतः प्राप्त है। स्वतः प्राप्त हो तो पूर्वमन्त्रमें दर्शनकी प्रार्थना क्यों की गयी ? मुझे तुम दर्शन कराओ तब उस दर्शनको तुम्हें समर्पण करूं ऐसा हो तो केवल दर्शनकी प्रार्थना क्यों ? अवश्य ही दालमें काला है। उचित था सर्वकर्मप्रार्थना और सर्वकर्मसमर्पण करते या कुछ भी न करते ॥२३॥

बुद्ध्यात्मना जगत् समस्तमिति पुरुषः, पुरिशयनाद्वा पुरुषः, सोऽहम् अस्मि भवामि ॥१६॥

रूप पुरमें निवास करनेसे पुरुष नामवाला है। वह पुरुष मैं ही हूँ ॥१६॥

योऽसावसौ पुरुषः

आदित्यमण्डलस्थोऽसौ व्याहृत्यवयवः पुमान् ।
हिरण्यगर्भः पुरुषः पुरुषाकारतायुतः ॥२४॥

प्रतिष्ठा तस्य भूः पादौ बाहुस्तु भुव इत्यपि ।
मूर्धा च सुवरित्येष मण्डलस्थस्ततः पुमान् ॥२५॥

आदित्यमण्डलस्थ हिरण्यगर्भ पुरुष है। व्याहृतिरूपी अवयवोंसे वह पुरुषाकारयुक्त है। भूः यह उसका पाद है। भुवः यह बाहु है। सुवः यह उसका मूर्धा है। इस प्रकार वह पुरुष है ॥२४-२५॥

पुरुषः पूर्णमेतेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत् ।
पुरि वा शयनादेष पुरुषः परिकीर्तितः ॥२६॥

अथवा प्राणरूपेण और बुद्धिरूपेण जगत् इससे पूर्ण है, अतः वह पुरुष है। अथवा पुरमें शयन करता है, अतः पुरुष है ॥२६॥

सोहमस्मि

भृत्यवन्न च याचे त्वां पश्येयं रूपमित्यहम् ।
असौ यः पुरुषः सोऽहं दिदृक्षेऽहं स्वयं स्वकम् ॥२७॥

मैं भृत्यके समान कल्याणतमरूप दर्शनकी प्रार्थना नहीं कर रहा हूँ। जो वह पुरुष है वह मैं ही हूँ, मैं अपने आपको देखना चाहता हूँ ॥२७॥

भूराद्यवयवो योऽसौ सोऽहमित्यर्थता यदि ।
तदा तदन्तश्चैतन्याऽभेदादेवमुदीरितम् ॥२८॥

यदि व्याहृत्यवयवोंसे पुरुषाकारता होनेसे पुरुष है उसके साथ सोऽहं कह रहे हैं तो उक्त अवयवोपहित चैतन्यके साथ अभेद होनेसे "सोऽहं" की उपपत्ति है ॥२८॥

समष्टिप्राणमिलितः सूत्रात्मेति निगद्यते ।
हिरण्यगर्भः सकलबुद्ध्युपाधिरुदीर्यते ॥२९॥

क्रियाप्राधान्यतः प्राणो ज्ञानप्राधान्यतश्च धीः।
लिङ्गोपाधिः सर्वथापि न तयोर्भेद इष्यते ॥३०॥

बुद्ध्या प्राणेन च जगत् पूर्णमेतेन तेन हि।
हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा पुरुष प्राङ् निरूपितः ॥३१॥

समष्टिव्यष्टिरूपत्वात्ततः पुरुषजीवयोः।
सोऽहमस्मीति कथनं तत्रेदं युज्यतेतराम् ॥३२॥

दूसरी व्याख्यामें समष्टिप्राणोपाधि सूत्रात्मा है, समष्टिबुद्ध्युपाधिसे हिरण्यगर्भ है। वास्तवमें समष्टिलिङ्गशरीरोपाधिक ही हिरण्यगर्भ तथा सूत्रात्मा है। क्रियाको प्रधान रखकर प्राणोपाधिक सूत्रात्मा एवं बुद्धिको प्रधान रखकर बुद्ध्युपाधिक हिरण्यगर्भ कहा जाता है। अतएव विवक्षा-भेदमात्र है। सूत्रात्मा और हिरण्यगर्भ एक ही है। वह प्राणसे तथा बुद्धि-से जगतमें व्याप्त है। अतः हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा पुरुष है, ऐसा पहले कह आये। इस पक्षमें सूत्रात्मा समष्ट्युपाधि और जीवात्मा व्यष्ट्युपाधि है। समष्टि और व्यष्टिकी एकता होती ही है अतः इस व्याख्यामें सोऽहमस्मि हिरण्यगर्भ ही मैं हूँ यह युक्तर है ॥२९-३२॥

यद्यत्र पुरुषः पूर्षु शयनादभिधीयते।
तदा तु परमात्मैव पुरुषः परिकीर्तितः ॥३३॥

परजीवात्मनोरैक्यं तत्त्वमस्यादिषु श्रुतम्।
तदा तु सोऽहमित्येतद्वचनं युज्यतेतमाम् ॥३४॥

तृतीय व्याख्यामें पुरिशयनात् पुरुषः इस व्युत्पत्तिमें परमात्मा ही पुरुष है। परमात्मा और जीवात्माकी एकता "तत्त्वमसि" आदि वाक्योंमें प्रसिद्ध है। उस अर्थमें "सोऽहं" यह अत्यन्त उपयुक्त होता है ॥३३-३४॥

अत्राहुरहमित्येतदन्तर्यामिपरं भवेत्।
प्रत्यक्त्वात्तत्र चास्मीति पुमान् प्रायुज्यतोत्तमः ॥३५॥

तन्न विष्णुर्भवत्यन्तर्यामीत्यत्र भवन्मते।
भवामीति कथं नैव प्रयोग इति भण्यताम् ॥३६॥

यहाँ द्वैतवादी कहते हैं—'सोऽहं' में अहंशब्दका अन्तर्यामी अर्थ है। अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा होनेसे "अस्मि" ऐसा उत्तमपुरुष प्रयोग है। किन्तु

उक्त कथन असंगत है। "विष्णुरन्तर्यामी भवति" यहां भी आपके मतमें विष्णुरन्तर्यामी भवामि ऐसा प्रयोग क्यों नहीं होता ? वहां भी तो अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा है ॥३५-३६॥

नन्वहंशब्दविरहान्नोत्तमः पुरुषोऽत्र चेत्।
गच्छामीति कथं तावदहंशब्दं विनोच्यते ॥३७॥

अत्यहं पचतीत्यत्र कथं नैवोत्तमः पुमान्।
अत्यहं राजते विष्णुरित्येवं हि प्रयुज्यते ॥३८॥

विशेषणस्थले न स्यादुत्तमः पुरुषो यदि।
परमाहं पचामीति भवेद् भाष्योदितं कथम् ॥३९॥

अन्तर्याम्यर्थता चेच्च जघन्या लक्षणा तव।
स्वमतावेशतो वेदप्रहारोऽयमसांप्रतम् ॥४०॥

विष्णुरन्तर्यामी भवति यहां अहं शब्द न होनेसे भवामि नहीं हुआ कहोगे तो क्या अहंशब्दप्रयोगस्थलमें ही उत्तम पुरुष होता है ? विना भी अहं शब्द गच्छामि ऐसा प्रयोग क्या नहीं होता ? स्थानी है कहो तो अन्तर्यामी भी तो स्थानी ही है। अन्तर्यामीसे अतिरिक्त स्थानी चाहिये कहोगे तव अन्तर्याम्यर्थक सोऽहमस्मिमें प्रयोगोपपत्ति किस प्रकार ? और अत्यहं पचति यहां अहं शब्द भी है तव पचामि क्यों नहीं होता ? कहो कि यहां मामतिक्रान्तः, अत्यहं देवदत्तः पचति अर्थ है वहां अन्तर्यामी नहीं है, अतः उत्तमपुरुष नहीं हुआ तो दूसरा उदाहरण लो—अत्यहं विष्णुः विराजते यहां विराजे होना चाहिये। क्योंकि मुझे अतिक्रमण किये विष्णु अन्तर्यामी ही तो है। यदि कहें कि निर्विशेषण अहंपद होनेपर ही उत्तमपुरुष होता है तो परमाहं पचामि कैसे हो ? यहां परम विशेषण है। ये सब महाभाष्यानुसार हम कह रहे हैं। अहंका अन्तर्यामी अर्थ करनेमें जघन्यवृत्तिरूप लक्षणा अनिवार्य है। अतः स्वमतके आवेशमें इसप्रकार वेदोंपर प्रहार अन्याय ही है ॥३७-४०॥

ननु च त्वन्मतेऽप्यत्र भागत्यागात्मलक्षणा।
जघन्यवृत्तिरस्मीति प्रयोगश्च कथं चिति ॥४१॥

सोऽयमित्यादिवाक्येषु भागत्यागो निरूढितः।
अभेदमात्रतात्पर्यादस्मीत्येतत् प्रयुज्यते ॥४२॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येऽप्यैवैव गतिरिष्यते ।
भागत्यागो भूतपूर्वगत्या स्यान्मध्यमः पुमान् ॥४३॥

अर्थवादस्थले कृत्स्नवाक्यं प्राशस्त्यलक्षणम् ।
अस्म्यस्त्यादिस्तथाप्येव यथाप्राप्तं प्रवर्तते ॥४४॥

शंका होगी कि सिद्धान्तमें भी तो भागत्यागलक्षणा होनेसे जघन्यवृत्त्याश्रयण होगा। शुद्धचित् अर्थमें यह प्रयोग भी कैसे ? इसका उत्तर है—सोऽयं देवदत्त इत्यादिमें भागत्यागनिरूढलक्षणा है वह दोषकारक नहीं माना जाता। भेदवारण मात्र अभिप्रेत होनेसे सोऽहमस्मिमें अस्मि प्रयोग है। वहां उत्तमपुरुष भूतपूर्वगतिसे है। जैसे अर्थवादस्थलमें। पूरे वाक्यका प्राशस्त्यलक्षणा होनेपर भी शब्दप्रयोग यथाप्राप्त ही होगा ॥४१-४४॥

अपरे तु स इत्यस्य ह्यन्तर्याम्यर्थतां जगुः ।
तदात्मकोऽहमिति च तद्व्याख्यां विचचक्षिरे ॥४५॥

स आत्मा यस्य तत्त्वं हि तादात्म्यमिति गद्यते ।
तदन्तर्यामिकत्वं च फलितार्थो भविष्यति ॥४६॥

द्वैतवादियोंमें कुछ लोग कहते हैं "सोऽहं" में 'सः' का अन्तर्यामी अर्थ है। तदात्मकः अहं ऐसा अर्थ है। स आत्मा यस्य स तदात्मा तस्य भावः तादात्म्यम्। यही सम्बन्ध है। तदन्तर्यामिक मैं हूँ यह फलितार्थ है ॥४५-४६॥

मैवं तदन्तर्यामित्वं तन्नियम्यत्वमुच्यते ।
तदा तु भेदसम्बन्धात् समानाधिकृतिः कथम् ॥४७॥

देवदत्तो गृहमिति कथं नैव प्रयुज्यते ।
देवदत्तनियम्यत्वं गृहे विद्यत एव यत् ॥४८॥

स आत्मा यस्य तत्त्वेन नैवाऽभेदस्त्वयेष्यते ।
अव्युत्पन्नोऽन्वयो नामार्थयोर्भेदेन यत्किल ॥४९॥

यह मत भी असंगत है। तदन्तर्यामिकत्वका अर्थ है तन्नियम्यत्व। तव निमम्यनियामक भावरूपी भेदसम्वन्ध होनेसे "सोऽहं" यह सामानाधिकरण्यप्रयोग उपपन्न नहीं होगा। गृह देवदत्तनियम्य होनेसे "देवदत्तो गृहं" ऐसा भी प्रयोग होने लगेगा। स आत्मा यस्य तत्त्वं तादात्म्यं ऐसा विग्रह दिखाने मात्रसे अभेद सिद्ध नहीं होगा। और अभेदको स्वयं मानते

भी तो नहीं हैं। पारिभाषिक तादात्म्य तो भेदसम्बन्ध ही है। और भेद-सम्बन्धसे नामार्थान्वय अव्युत्पन्न माना गया है ॥४७-४९॥

ज्योतींषि विष्णुरित्यादिरभेदारोपतो भवेत्।
रजतं शुक्तिरेवेति यथा लोके प्रयुज्यते ॥५०॥

हेमकुण्डलमित्यादौ भेदाभेदमतेऽपि च।
अस्त्यभेदो न सोऽप्यत्र द्वैतवादिभिरिष्यते ॥५१॥

नैयायिकमतेऽप्यत्र हेमोपादानतावशात्।
विष्णूपादानता खादौ द्वैतिनां नैव सम्मतः ॥५२॥

द्वैतियोंका कहना है कि "ज्योतींषी विष्णुर्भुवनानि विष्णुः" आदि प्रयोगानुसार नियम्यनियामक भावमें भी सामानाधिकरण्य होता है। किन्तु वह ठीक नहीं है। कारण "ज्योतींषि विष्णुः" इत्यादिमें अभेदारोपमात्र है। अर्थात् बाधसामानाधिकरण्य है। जैसे इदं रजतं शुक्तिरेव इत्यादिमें। हेम कुण्डलं यहां भेदाभेदवादिमतमें भी अभेद है। परन्तु वह भी सोऽहंमें द्वैतियोंको मान्य नहीं हो सकता। आकाशादिमें ईश्वरोपादानत्व है नहीं। जीवमें भी ईश्वरोपादानत्व नहीं है ॥५०-५२॥

सर्वैर्गौरोऽहमित्यादावभेदारोप इष्यते।
न नियन्तृनियम्यादिभावेनान्वय उच्यते ॥५३॥

लोकप्रसिद्धनियमानतिलङ्घ्य कथंचन।
न वाक्यार्थान्वयः क्वापि शास्त्रेष्वभ्युपगम्यते ॥५४॥

देवदत्तोऽहं, गौरोऽहं इत्यादिमें सभी शरीर-आत्मा-अभेदारोप ही मानते हैं। न कि निम्यनियामक भावादिसे अन्वय। लोकप्रसिद्ध नियमोंका उल्लंघन करके वाक्यार्थान्वय कहीं भी शास्त्रोंमें मान्य नहीं है ॥५३-५४॥

एतेन तत्त्वमस्यादौ तदन्तर्यामितार्थता।
प्रत्युक्ता किन्त्वखण्डार्थबोध एव स्थिरस्थितः ॥५५॥

इससे ही तत्त्वमसिमें तदन्तर्यामित्व त्वंपदार्थमें बोधित होता है यह भी निरस्त हुआ। अतः वहांपर अखण्डार्थबोध ही सिद्धान्तस्थिर हुआ ॥५५॥

इति षोडशमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ॥१७॥

यह प्राण अमृतरूपी अनिल अर्थात् सूत्रात्माको प्राप्त हो। यह शरीर भस्मान्त हो। ॐकाररूपी हे क्रतो ! मेरे लिये स्मर्तव्यका स्मरण करो, मेरे किये कर्मोंका स्मरण करो, हे क्रतो स्मरणीयका स्मरण करो, मेरे कृतकर्मका स्मरण करो ॥१७॥

वायुरिति। अथ इदानीं मम मरिष्यतः वायुः प्राणः अध्यात्मपरिच्छेदं हित्वा अधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः। लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्म-

मैं मरणासन्न हूँ। मेरे वायु अर्थात् प्राण शरीरपरिच्छेदको छोड़कर अधिदेवस्वरूप सर्वात्मक अमृतरूप अनिल यानी सूत्रात्माको प्राप्त हो। प्राप्त हो इतना यहां वाक्यपूरण है। तथा उपासना एवं कर्मसे संस्कृत यह

आसन्नं मरणं वीक्ष्य समुच्चयपरः पुमान् ।
कर्मादि स्मरतीदं च वीर्यवत्तरकारणम् ॥ ॥

मरणको आसन्न देखकर समुच्चयकारी पुरुष कर्मादिका स्मरण करता है। यह कर्मस्मरण प्रार्थनादि भी वीर्यवत्तरतामें कारण है ॥१॥

वायुरनिलममृतम्

वायुर्देहस्थितः प्राणो हित्वाध्यात्मपरिच्छिदाम् ।
अधिदैवतमात्मानं सूत्राख्यं प्रतिपद्यताम् ॥२॥

वायु अर्थात् यह देहस्थित प्राण अध्यात्मपरिच्छेदको छोड़कर अधिदैवत सूत्रात्माको प्राप्त हो ॥२॥

ननु सूत्रमुतान्यं वा बृहदारण्यकोदितम् ।
वायुं वा गच्छतु प्राणः किं तेन भवतो भवेत् ॥३॥
न चैवं गात्रमप्येतद् भवेद्यदपि किंचन ।
भस्मान्तं वा विडन्तं वा किं स्यात्तेनेति सांप्रतम् ॥४।
लोकगर्हा यतो मा भूद् यद्वा तच्च निरर्थकम् ।
यद्वा श्मशानकर्मैतत् स्वर्गहेतुरपेक्षितम् ॥५॥

पूर्वपक्षः—मरणोत्तर यह प्राण सूत्रात्माको प्राप्त हो या अन्यको या बृहदारण्यकाद्युक्त बाह्य वायुको इसमें क्या फरक पड़ता है ? आपको इसमें

संस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम् । मार्गयाचनसामर्थ्यात् । अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात् ।

लिंग शरीर उत्क्रमण करे इतना समझना चाहिये । क्योंकि यहां मार्ग-याचना हो रही है । और यह शरीर अग्निमें होमा जाकर भस्मान्तहो ।

लाभ-हानि क्या है ? यदि कहो कि इसप्रकार यह शरीर भी मरणोत्तर भस्मान्त हो या प्राणियोंके खानेसे विष्ठान्त हो क्या फरक पड़ता है यह भी प्रश्न उठेगा । तो जवाब यह है कि कहीं पड़ा मर जाय और उसे कुत्ते आदि खा जायं तो लोकनिन्दा होगी कि देखो यह ऐसा खराब आदमी था कि मरनेपर कोई जलानेवाला भी नहीं रहा । मरणोत्तर भी अपयश बुरा होता है । और मरनेके बाद शरीरका कुछ भी हो उससे क्या मतलब ? अतः "भस्मान्तं शरीरं" यह प्रार्थना भी व्यर्थ ही मान लें यह भी एक पूर्वपक्ष ही होगा । अथवा मरणोत्तर श्मशानकर्म स्वर्गहेतु माना गया है । निषेकादिश्मशानान्त कर्म स्वर्गार्थ अपेक्षित है । अतः "भस्मान्तं शरीरं" यह प्रार्थना सार्थक ही माना जायेगा ॥३-५॥

मैवं, हिरण्यगर्भो हि सूत्रात्मेति निगद्यते ।
तत्प्राप्तिश्च फलं प्रोक्तं विद्याविद्यासमुच्चितेः ॥६॥
प्राणो ह्येष क्रियाशक्तिर्लोकगत्यादिकारणम् ।
व्रजँल्लोकान्तरादौ स प्राणानन्यानसौ नयेत् ॥७॥
युक्तातः प्रार्थना तस्य सूत्रात्मप्रतिपत्तये ।
तथा च लिङ्गमुत्क्राम-त्वित्यप्यत्र विवक्षितम् ॥८॥

सिद्धान्तः—हिरण्यगर्भको ही सूत्रात्मा कहते हैं । उसकी प्राप्ति ही विद्या-अविद्यासमुच्चयका फल बताया गया । यह प्राण क्रियाशक्तिरूप है । लोकान्तरगमनागमनादिकारण है । यह प्राण लोकान्तरगमन करते समय अन्य प्राण चक्षुरादिको भी ले जाता है । अतः प्राणके सूत्रात्मप्रतिपत्तिकी प्रार्थना उचित ही है । अतएव हिरण्यगर्भफलप्राप्त्यर्थ प्राणके साथ लिंग-शरीरका उत्क्रमण हो यह प्रार्थना अन्तर्गर्भित है ॥६-८॥

अथेदं भस्मान्तं शरीरम्

इदं शरीरमग्नौ च हुतं भस्मान्ततां व्रजेत् ।
मा भूत्प्रमादः पुत्रादेर्भस्मान्तकरणे तनोः ॥९॥

निषेकादिश्मशानान्त　　सर्वकर्मसमुच्चितेः ।
हिरण्यगर्भसंप्राप्तिहेतुत्वात्प्रार्थना　　त्वियम् ॥१०॥

यह शरीर अग्निमें हुत होकर भस्मान्त हो। कहीं शरीरको भस्मान्त करनेमें पुत्रादिका प्रमाद न हो। हिरण्यगर्भप्राप्तिमें विद्या एवं निषेकादिश्मशानान्त सर्वकर्मका समुच्चय अपेक्षित है। श्मशान कर्म स्ववश न होनेसे तदर्थ यह प्रार्थना की जा रही है ॥९-१०॥

अत्र केचित् प्राणपरो वायुशब्दो यदोच्यते ।
अकारण: स्यात्संकोचो व्यर्था च प्रार्थना भवेत् ॥११॥

लीयते स्वयमेवासौ वायौ प्राणस्ततो वृथा ।
प्रार्थनाऽध्याहृतिश्चात्र ब्रूषे यत् प्रतिपद्यताम् ॥१२॥

शरीरभस्मीभावश्च　　पश्चान्नैवोपपद्यते ।
सूत्रात्मविलयो यस्मात्कर्मोत्तरफलं मतम् ॥१३॥

शुद्धात्मवर्णनं तस्माद् वाय्वादिपदतो भवेत् ।
वाति गच्छत्यमुं विद्याविद्याभ्यां यत्परं पदम् ॥१४॥

निलीयते यः स निलो न निलश्चानिलो हरिः ।
नपुंसकत्वमार्षत्वात्तथैवामृतमित्यपि　　॥१५॥

क्षेत्रज्ञगात्रं क्षणिकं परास्रष्टुमिदंपदम् ।
अवश्यंभाविनाशं तदुक्तं भस्मान्ततोक्तितः ॥१६॥

भस्मान्तं वा विडन्तं वा कीटान्तं वा भवेददः ।
नत्वीश्वरशरीरं तु　तस्मादिदमितीरितम् ॥१७॥

यहां द्वैतवादियोंका कथन है कि वायु शब्दका प्राण अर्थ करनेपर विनाकारण अर्थसंकोच मानना हो जायेगा। प्रार्थना भी निरर्थक होगी क्योंकि मरनेपर प्राण वायुमें अपने आप ही लीन हो जाता है "प्रतिपद्यतां" ऐसा अध्याहार भी मानना पड़ेगा। शरीरका भस्मीभाव भी बादमें कैसे ? क्योंकि सूत्रात्मामें विलय कर्मोत्तर ही होगा। उसके बाद शरीर भस्मीभाव असंभव है। अतः यहां "वायुरनिलं" इत्यादिसे शुद्ध आत्माका ही वर्णन है। विद्या-अविद्यासमुच्चयसे परमपद प्राप्त होता है। अतः वायु नाम परमात्माका है। जो निलीन होता है वह निल और जो निलीन न हो वह अनिल यह भी परमात्माका नाम है। अनिलं यह नपुंसक प्रयोग

आर्ष है। "अमृतं" यह भी परमात्माका नाम है। नपुंसकप्रयोग आर्ष होनेसे हुआ। "इदं शरीरं भस्मान्तं" यहां जीवात्माका शरीर ग्रहण करने के लिये इदंपद है। वह क्षणिक है, अवश्यंभाविनाशवाला हैयह "भस्मान्तं" से बताया। विडन्त, कीटान्त आदि भी समझना चाहिये। इदंपदसे ईश्वर शरीरकी व्यावृत्ति है। क्योंकि उसका नाश नहीं होता अतः वह व्यावर्तनीय है ॥११-१७॥

असांप्रदायिका एते दिशाहीनाश्च भेदिनः।
भिन्दन्ति वैदिकानर्थान् स्वमनीषाप्रमाणकाः ॥१८॥

वायुशब्दार्थसंकोचं परेषां प्रतिपादयन्।
स्वयं त्यजंश्च सर्वार्थं कथं भो नैव लज्जसे ॥१९॥

अनिलः परमात्मेति कस्मिन् कोशे त्वयेक्षितम्।
ब्रूषेऽसंकुचितार्थं यो हन्त शब्दार्थरक्षकः ॥२०॥

योगाद् बलवती रूढिरिति शब्दार्थवेदिनः।
परमात्मार्थता तस्मादनिलस्य कथं वद ॥२१॥

भस्मान्तादिपदस्यापि कथं नास्तीश्वरार्थता।
भस दीप्तौ मनिन् बध्नात्यन्तस्येतां जगच्च यः ॥२२॥

शरीं स शरणं राति शरीरं तेन कीर्त्यताम्।
क्लीबत्वमत्र सर्वत्राप्यार्षत्वादुपपाद्यताम् ॥२३॥

गुरुपरम्परारहित दिशाहीन ये भेदवादी अपनी बुद्धिको ही सर्वोपरि प्रमाण मानकर इसीप्रकार वेदार्थ भेदन करते हैं। वायुका प्राण अर्थ करनेमें इनको अर्थसंकोच दोष दीख पड़ा। फिर वायुशब्दका पूरा अर्थ ही उडाकर परमात्मा अर्थ करते समय लज्जाका अनुभव नहीं हुआ। असंकुचितार्थ करनेके हिमायती शब्दार्थरक्षक महोदयने अनिलशब्दका निलयनरहित परमात्मा अर्थ किस कोशमें देखा ? योगसे रूढि अर्थ बलवान् होता है ऐसा शब्दार्थवेत्ता मानते हैं तब अनिलका परमात्मा अर्थ किस प्रकार होगा ? फिर "भस्मान्तं" इत्यादिने क्या अपराध किया कि उसका परमात्मा अर्थ नहीं करते हो ? 'भस दीप्तौ' धातुसे मनिन् प्रत्यय करनेसे दीप्तिमान ज्योतिस्वरूप अर्थ निकलेगा, अन्तति जगत् बध्नाति इस अर्थमें अन्त शब्द हो जायेगा अथवा भस्य दीप्तिमन्तति बध्नातीति भस्मान्तं

ऐसा वन सकता है। शरी=शरण जो दे वह शरीरं ऐसा सर्वत्र सुकर है। अतः ये सब व्याख्यायें संप्रदायहीनताकी ही परिचायिका हैं ॥१८-२३॥

अवश्यंभाविनाशत्वं पामराश्च तनोर्विदुः ।
ततस्तदुक्तिवैयर्थ्यं कथं नैव समापतेत् ॥२४॥

इदंकारास्पदं सर्वमाकाशात्मादिकं भवेत् ।
इदं नभोऽस्त्ययमहमस्मीत्यादिप्रयोगतः ॥२५॥

त्वन्मते चेश्वरवपुराकाशात्मादिकं मतम् ।
तद्व्यावृत्तिः कथंकारमिदंशब्देन भाषसे ॥२६॥

इदं शब्द जीवशरीरमात्रग्रहणार्थ है, अवश्यंभाविनाशार्थं भस्मान्त कहा इत्यादि सभी निरर्थक है। पामर भी जानते हैं इस शरीरका नाश अवश्य होगा। उसका कथन यहां व्यर्थ होगा। यह आकाश है, यह मैं हूँ इसप्रकार आकाश, आत्मा आदि सभी इदंकारास्पद है। और ये सब आपके मतमें ईश्वरशरीर हैं। इनकी व्यावृत्ति इदंपदसे कैसे होगी ? ॥२४-२६॥

शरीरसंनिधेर्वायोः प्राणपर्यवसायिता ।
सूत्रात्मा चानिलः प्राणस्तत्रामृतविशेषणात् ॥२७॥

दर्शितं च मया सूत्रप्राप्त्युक्त्यादेः प्रयोजनम् ।
तस्मादस्मन्मते नैव दोषलेशोऽपि विद्यते ॥२८॥

अनिलप्रतिपत्तिश्च झटित्येव भविष्यति ।
तदनन्तरभस्मान्तभावो नैव विरुध्यते ॥२९॥

शरीरशब्दसंनिधिपठित होनेसे वायुशब्दका प्राणार्थमें पर्यवसान है। अनिलका सूत्रात्मारूपी प्राण अर्थ इसलिये है कि अमृतं यह विशेषण है। सूत्रात्मप्राप्तिका प्रयोजन हम दिखा चुके हैं। अतः हमारे मतमें दोषलेश भी नहीं है। सूत्रात्मप्राप्ति उसी समय होगी। शरीर वादमें भस्म होता रहेगा। सूत्रात्मभाव भी बादमें होगा ॥२७-२९॥

आरूढस्यैव पतनं शास्त्रेषु प्रतिपाद्यते ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥३०॥

उत्तरक्रियाके अभावमें आरूढका ही पतन "पतन्ति पितरो ह्येषां" इत्यादि वचनोंमें भासित होता है। आरोहणमें कोई वाधा नहीं है ॥३०॥

ओमिति यथोपासनमोंप्रतीकात्मकत्वात् सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतो संकल्पात्मक ! स्मर यन्मम स्मर्तव्यं। तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर। एतावन्तं कालं भावितं-कृतामग्ने ! स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥१७॥

ॐ यह शब्द उपासनानुसार सत्यस्वरूप अग्निनामक ब्रह्मको अभेदेन कहता है। क्योंकि वह ओंकारप्रतीकवाला है। हे क्रतो ! हे संकल्पस्वरूप अग्निदेव मेरे निमित्त जो स्मरणीय है उसका स्मरण करो। उसका समय अब आ चुका है। क्रतो स्मर कृतं स्मर यह पुनरुक्ति आदरार्थ है ॥१७॥

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर

ॐ प्रतीकोऽग्निरेवात्र ब्रह्माभेदेन कीर्त्यते।
संकल्पात्मक एवाग्निरतः प्राह क्रतो इति ॥३१॥

अग्नेः स्मरणमेवान्तकाले प्रायो भवेदतः।
संकल्पात्मकतोक्तिश्च नैव तस्य विरुध्यते ॥३२॥

यहां ॐकारप्रतीक अग्निका ही ब्रह्माऽभेदसे कथन है। संकल्पात्मक अग्नि होनेसे क्रतु कहा। अन्तकालमें प्रायः अग्निका स्मरण ही होता है। अतः स्मरणागतरूपसे अग्निकथन अनुचित नहीं है ॥३१-३२॥

क्रतो स्मर यदप्यस्ति स्मर्तव्यं मङ्गलं मम।
तस्य कालो मुमूर्षोर्मे सांप्रतं प्रत्युपस्थितः ॥३३॥

यच्च जीवनकाले मे कृतं कर्म विधीरितम्।
बाल्यादारभ्य तदिदमपि स्मर फलप्रदम् ॥३४॥

हे क्रतु ! जो भी स्मरणीय मेरा मंगल है उसका स्मरण करो। मैं मरने ही वाला हूँ, स्मरण करनेका समय आ गया है। और जीवनकालमें जो भी विहित कर्म बचपनसे अबतक किया, फलदायो उस कर्मको भी स्मरण करो ॥३३-३४॥

केचित्त्वों परमात्माऽत्र क्रतुः क्रत्वात्मकत्वतः।
अहं क्रतुरहं यज्ञ इत्यादिवचनेरितः ॥३५॥

उपास्तिर्वा क्रतुस्तस्या विषयोऽपि क्रतुर्मतः ।
अहं स्मरामि मद्भक्तमित्यतो मां स्मराधुना ॥३६॥

कृतं मयाऽनुकूलं यत्तत्स्मृत्वा रक्ष मां प्रभो ।
त्वरार्थाऽत्र द्विरुक्तिश्चेत्येवं व्याचक्षते श्रुतिम् ॥३७॥

तन्मन्दमग्रिमे मन्त्रे ह्यग्नेः संबोधनं स्फुटम् ।
कर्मप्रकरणत्वाच्च युक्तः क्रतुपदोऽनलः ॥३८॥

कुछ लोग ॐ का परमात्मा ही अर्थ मानते हैं। अहं क्रतुरहं यज्ञ इस गीतावचनानुसार क्रतुरूप होनेसे क्रतु कहा। अथवा उपासना क्रतुपदार्थ है। उपासनाविषय होनेसे परमात्मा भी क्रतु कहलाया। 'मैं अपने भक्तको याद करता हूँ' ऐसा कहते हो अतः मेरा स्मरण करो। जो मैंने अनुकूल किया उसका स्मरण कर मेरी रक्षा करो। जल्दी करनेके लिये द्विरुक्ति है। यह एक मन्द व्याख्या है। क्योंकि अगले मन्त्रमें अग्ने नय ऐसा अग्नि-संबोधन स्पष्ट है। कर्मप्रकरण होनेसे क्रतुपदका अग्नि अर्थ उचित ही है ॥३५-३८॥

द्विरुक्तिरादराद्यर्था त्वरार्था नातिपेशला ।
मृतिस्मृतिप्रयाणादौ त्वराया अप्रयोजनात् ॥३९॥

आदरार्थमें द्विरुक्ति है। कदाचिद् संभ्रम व्याकुलतादिमें भी द्विरुक्ति मान सकते हैं। त्वरार्थ तो नहीं ही है। क्या मरणमें जल्दी करना है? यह तो अभीष्ट नहीं है। स्मरणमें भी जल्दी—जैसे गिरता हुआ व्यक्ति कहता है जल्दी पकड़ो नहीं तो मैं गिरूंगा, वैसी कोई बात यहाँ नहीं है। जीवनभर प्रतीक्षा हुई तो दो चार मिनट और प्रतीक्षा करनेमें भी हानि नहीं है। प्रयाण तो अपने ढंगसे होगा ही ॥३९॥

इति सप्तदशमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

हे अग्नि देवता, आप हमारे समस्त कर्म एवं उपासना जानते हैं। कर्मफलभोगार्थ आप हमें उत्तम मार्गसे ले चलें। कुटिल पापको हमसे पृथक करें। आपको भूरि भूरि हम नमस्कारवचन कहते हैं ॥१८॥

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते—अग्ने नयेति। हे अग्ने नय गमय सुपथा-शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेन अतो याचे त्वां पुनःपुनगमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय।

फिरसे अन्य मन्त्रसे मार्गयाचना करते हैं—हे अग्निदेव! शोभन मार्गसे मुझे ले चलो। यहांपर 'सुपथा' यह विशेषण दक्षिणमार्गकी व्यावृत्तिके लिये है। गमनागमनलक्षण दक्षिणमार्गसे मैं ऊब गया हूँ अतः इसप्रकार बार बार गमनागमन न हो ऐसे शोभनमार्गसे मुझे ले चलो।

वायुरित्यादि मन्त्रेण सुमार्गो याचितो भवेत्।
यत्स्मर्तव्यं स्मरेत्यत्र सुमार्गस्याप्युपस्थितेः ॥१॥

हिरण्मयेन पात्रेणेत्यादिना मनुनाऽपि च।
उत्तरायणमार्गो हि याचितः फलतो भवेत् ॥२॥

पुनरन्येन मन्त्रेण तं मार्गमभियाचते।
एतावत्प्रार्थनार्थस्य विस्पष्टप्रतिपत्तये ॥३॥

वायुरनिलंसे सुमार्गयाचना भी होती है। सुमार्गसे ही सूत्रात्माकी प्रतिपत्ति संभव है। "यत्स्मर्तव्यं स्मर" से भी सुमार्ग उपस्थित होता है। "हिरण्मयेन" मन्त्रसे भी फलतः उत्तरायणमार्गयाचना ही है। फिरसे अन्य मन्त्रसे उक्तार्थस्पष्टतार्थं उस मार्गकी याचना करते हैं ॥१-३॥

अग्ने नया सुपथा

अग्रणीत्वाद् भवेदग्निः स त्वमग्ने नयस्व नः।
सुपथा शस्तमार्गेण ह्युत्तरायणलक्ष्मणा ॥४॥

अग्रणी होनेसे अग्नि कहलया। (अग्रेनयति) हे अग्ने ! तुम हमें उत्तरायणरूपी प्रशस्तमार्गसे ले चलो ॥४॥

नन्वियं प्रार्थना कस्मात् सुपथैव समुच्चयी।
यास्यत्येव तदन्यस्तु दक्षिणेनेव यास्यति ॥५॥

सत्यं दक्षिणमार्गेण गतागतनिसर्गिणा।
निर्विण्णत्वाद्विनिश्चित्यै संप्राप्तं याचते पुनः ॥६॥

शंका होगी कि इस प्रार्थनाकी क्या आवश्यकता ? समुच्चयकारी सुमार्गसे जायेगा। असमुच्चयी प्रार्थना करेगा तो भी उससे नहीं जायेगा। वात यथार्थ है। किन्तु गमनागमनस्वभाववाले दक्षिणमार्गसे अतिखिन्न होनेके कारण दृढतार्थ प्राप्तकी ही पुनः याचना करते हैं ॥५-६॥

अन्तकाले समापन्ने निमित्ते विदिते सति।
एषापि प्रार्थनाऽङ्गं स्याद्वीर्यवत्तरतां प्रति ॥७॥

अन्तकालमें निमित्त विदित होनेपर यह प्रार्थना भी की जाय तो वीर्यवत्तरतामें अंग होगी ॥७॥

गतागतं यद्यपि तु विद्यतेऽत्रोत्तरायणे।
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनो यतः ॥८॥

तथापि कर्ममात्रेण दक्षिणायनगामिनः।
शीघ्रमेव निवर्तन्ते महामोहं प्रयान्त्यपि ॥९॥

यद्यपि उत्तरायणमार्गमें भी गमनागमन है "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः" इत्यादि गीतावचन है। तथापि कर्ममात्रसे दक्षिणायनगामी शीघ्र ही वापिस आते हैं और महामोहको भी प्राप्त होते हैं ॥८-९॥

दुर्निष्प्रपतरं प्राह व्रीहिभावजुषां श्रुतिः।
कपूययोनिप्राप्तिश्च तेषां संभाव्यते यताम् ॥१०॥

दक्षिणमार्गगामी व्रीहि आदिमें पहुँचते हैं। वहांसे छुटकारा कठिन बताया है। सूकरादि कपूययोनिप्राप्तिकी भी सम्भावना रहतो है ॥१०॥

आवृत्ता ब्रह्मलोकाद् ये तूत्तरायणगामिनः।
सत्त्वप्रधानास्ते ज्ञानयोग्याः स्युः श्रेष्ठयोनयः ॥११॥

राये=धनाय-कर्मफलभोगायेर्थः । अस्मान्-यथोक्तधर्मफलविशि-
ष्टान्, विश्वानि-सर्वाणि हे देव वयुनानि-कर्माणि प्रज्ञानानि वा
विद्वान्-जानन् । किं च युयोधि-वियोजय-विनाशय अस्मत्-

रैके लिये अर्थात् कर्मफलभोगके लिये पूर्वोक्त धर्म एवं फलसे विशिष्ट
हमें तथा समस्त कर्म एवं उपासनाको भी जाननेवाले तुम शोभन मार्गसे
ले चलो। तथा हमसे इस कुटिल वंचनात्मक पापको वियुक्त करो,

तस्मादेतस्य मार्गस्य गरीयस्त्वमसंशयम् ।
तेनास्य प्रार्थना युक्ता ततः सर्वं समञ्जसम् ॥१२॥

उत्तरायणगामी ब्रह्मलोकसे लौटनेवर श्रेष्ठयोनिमें उत्पन्न होकर
सत्त्वप्रधान एवं ज्ञानयोग्य होते हैं, अतः इस मार्गकी गरिमा निश्चित है,
उसके लिये प्रार्थना उचित ही है ॥११-१२॥

राये अस्मान्⋯⋯विद्वान्

राये धनाय सत्कर्मफलभोगोपलब्धये ।
सत्यधर्मयुतानस्मान् वयुनानि विदन् नय ॥१३॥

माया तु वयुनं ज्ञानमित्युक्तेस्तान्युपासनाः ।
कर्माणि चोपासनानि बोध्यानि वयुनानि हि ॥१४॥

रायेका धन अर्थात् कर्मफलकेलिये ऐसा अर्थ है। सत्यधर्मसे युक्त हमें
हमारे वयुन जानकर कर्मफलार्थ ले चलो। माया तु वयुनं ज्ञानम् ऐसा
कोशमें बताया है। ज्ञान अर्थात् उपासना। यहां वयुनपदसे कर्म एवं
उपासना दोनों ग्राह्य हैं ॥१३-१४॥

युयोध्यस्मद्⋯⋯एनः

अस्मत्तो जुहुराणं च कुटिलं वञ्चनात्मकम् ।
युयोध्येनः कुरु पृथक् सन्मार्गप्रतिबन्धकम् ॥१५॥

कुटिल-वंचनस्वरूप पापको हमसे पृथक् करो जो सन्मार्ग प्रतिबन्धक
है ॥१५॥

अस्मत्तः जुहुराणं—कुटिलं—वञ्चनात्मकम् एनः—पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुम्। भूयिष्ठां—बहुतरां ते—तुभ्यं नम उक्तिं—नमस्कारवचनं विधेम, नमस्कारेण परिचरेमेत्यर्थः ॥१८॥

नष्ट करो। उससे पावन होकर हम अपना इष्ट वस्तु प्राप्त कर लेंगे ऐसा यहाँ अभिप्राय है। परन्तु इस अन्त समयमें अब हम तुम्हारी कोई भी परिचर्या करनेमें असमर्थ हैं। बस, बारम्बार तुमको हम नमस्कारकथन कर सकते हैं। केवल नमस्कारसे हम परिचर्या करते हैं ॥१८॥

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" "विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्यामृतमश्नुते" इति श्रुत्वा केचित्संशयं कुर्वन्ति।

"अविद्यासे मृत्युको पारकर विद्यासे अमृतत्व प्राप्त करते हैं।" "विनाशसे मृत्युको पारकर असंभूतिसे अमृत प्राप्त करते हैं" इन दो श्रुति-

---

भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम

यद्यपि ह्यन्तपर्यन्तं विद्याविद्यासमुच्चयः।
कर्तव्यः किन्तु नेदानीं कर्तुं तं शक्नुमो वयम् ॥१६॥
अत एवाद्य भूयिष्ठां नम उक्तिं विदध्महे।
नमस्कृत्यैव भगवन् परिचर्यां दधीमहि ॥१७॥

यद्यपि मरणपर्यन्त विद्या एवं अविद्या का समुच्चय करना चाहिये। किन्तु इसमें हम असमर्थ हो गये हैं। इसलिये केवल नमस्कारवचन बोलते हैं, नमस्कारसे ही परिचर्या करते हैं ॥१६-१७॥

अशक्तिसमये तेन विधातव्या नमस्कृतिः।
तावता नित्यसंप्राप्तकर्मपूर्तिर्भवेदिति ॥१८॥

अशक्तिके समय इसलिये नमस्कार ही कर लेना चाहिये। उतनेसे नित्यप्राप्तकर्मपूर्ति हो जाती है यह इससे सिद्ध होता है ॥१८॥

—❀—

अत्र व्याचक्षते केचित्प्रथमोक्तसमुच्चये।
विद्या हि ब्रह्मविद्यैव कर्मणाऽस्याः समुच्चयः ॥१॥

अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः। तत्र तावत् किंनिमित्तः संशय इति, उच्यते। विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वं च। ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः

वचनोंको लेकर कुछ लोग यहां संशय करते हैं। अतः उसके निवारणार्थं हम कुछ विचार यहां प्रस्तुत करते हैं। प्रथम किस बातको लेकर संशय है यह कहते हैं। विद्या पदसे आपने उपासनाको क्यों लिया ? मुख्य परमात्मविद्याको ही क्यों नहीं लिया। और फलरूपेण मुख्य अमृतत्व क्यों

प्रसिद्धार्थपरित्यागे मानाभावात् समुच्चितेः।
अमृतं यत्फलं प्रोक्तं मुख्यं तन्मोक्षलक्षणम् ॥ ॥

कुछलोग यहाँ व्याख्या इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं कि प्रथम समुच्चयमें विद्याका ब्रह्मविद्या ही अर्थ है। कर्मके साथ उसका समुच्चय विवक्षित है। प्रसिद्धार्थत्याग अनुचित होनेसे समुच्चयका जो फल अमृत बताया वह मुख्य अमृत मोक्ष ही है ॥१-२॥

ब्रह्माऽसंभूतिशब्दार्थो दर्शितो भास्करे मते।
संभूत्युपास्तिसहिता तदुपास्तिश्च मोक्षदा ॥३॥
ब्रह्मविद्यैव वा तत्राऽसंभूतिपदगोचरा।
संभूत्युपास्तिसहिता सा मोक्षफलदा भवेत् ॥४॥

भास्करमतमें असंभूति शब्दका ब्रह्म अर्थ पहले दिखा चुके हैं। संभूति-उपासना समुच्चित असंभूति (ब्रह्म) उपासना भी मोक्षदायी है। अथवा असंभूतिपदका भी अर्थ ब्रह्मविद्या ही करो। संभूतिउपासनासहित ब्रह्मज्ञान मोक्षफलदायक है ॥३-४॥

ननु कर्मसमुच्चित्या मोक्षो भास्करसंमतः।
संभूत्युपास्तिसाहित्यात् कथं स इति चेच्छृणु ॥५॥
उपास्तिरपि कर्मैव मानसं सर्वसंम्मतम्।
कर्मसाहित्यसिद्धान्तस्तथा चैव न भज्यते ॥६॥
बाह्येन मानसेनाहो कर्मणा तु समुच्चिता।
मोक्षदा ब्रह्मविद्या स्यादेतावत्तस्य संमतम् ॥७॥

कर्मणश्च विरोधात् समुच्चयानुपपत्तिः । सत्यम् । विरोधस्तु नावगम्यते । विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात् । यथा अविद्यानुष्ठानं विद्योपासनं च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधा-

न लिया जाय ? कैसे लिया जाये ? पूर्ववर्णित परमात्मविद्या और कर्मका विरोध होनेसे उन दोनोंका समुच्चय ही नहीं हो सकता इस कथन पर हम यह कहेंगे कि बात ठीक है। परन्तु विरोध प्रतीत ही नहीं हो रहा है। विरोध और अविरोध शास्त्रप्रमाणक होता है। जैसे अविद्यानुष्ठान तथा विद्योपासन शास्त्रप्रमाणक है वैसे उनका विरोध या अविरोध भी

शंका होगी कि भास्कर कर्मसमुच्चितज्ञानसे मोक्ष मानता है, संभूत्युपासनासहित ज्ञानसे मोक्ष कैसे कह रहे हैं? इसका उत्तर यही है कि संभूत्युपासना भी मानस कर्म ही है। अतः कर्मसाहित्यसिद्धान्त यथावत् ही है। बाह्य कर्म या मानस कर्मसे समुच्चित ब्रह्मविद्या मोक्षदायिनी है यही भास्करमत है ॥५-७॥

ननु कर्तृत्वभोक्तृत्वकारकाद्युपमर्दिनी ।
न समुच्चिनुयात्कर्म विरोधात्कर्तृभोक्तृयुक् ॥८॥
मैवं शास्त्रे विरोधस्तु नोदितः कर्मविद्ययोः ।
शास्त्राद् द्वयोःसमुच्चित्यां विरोधस्तार्किकः कुतः ॥९॥

पूर्वपक्षः—ब्रह्मविद्या कर्तृत्वभोक्तृत्वकारकादिद्वैतोपमर्दक है। वह कर्तृत्वभोक्तृत्वादियुक्त कर्मका समुच्चय कैसे करे? दोनोंमें परस्पर विरोध है। उत्तरः—कर्म और विद्याका विरोध है। ऐसा शास्त्रमें नहीं बताया है। शास्त्रप्राप्तसमुच्चयमें तर्कतः विरोध दिखाना उचित नहीं है ॥८-९॥

विरोधो दर्श्यते यावन्न हि शास्त्रेण शब्दतः ।
परिहारस्तत्र कार्यस्तर्केणोपस्थितस्य हि ॥१०॥

शास्त्र अपने शब्दसे जबतक विरोध न बतावे, तर्कतः विरोध प्रतीत हो तो उसका परिहार करना चाहिये ॥१०॥

पुमान् संवत्सरं जुह्वत्पयसाऽपमृतिं जयेत् ।
जुहुयाद्यदहस्त्वेष तदहर्हि मृतिं जयेत् ॥११॥

ऽविरोधावपि। यथा च "न हिंस्यात् सर्वाभूतानी" ति शास्त्रा-
दवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यते "अध्वरे पशुं हिंस्यादि" ति, एवं

शास्त्रप्रमाणक ही हो सकता है। 'जैसे किसी प्राणीकी हिंसा न करो' यह शास्त्रसे अवगत हुआ उसका "यज्ञमें पशुहिंसा करो" इस शास्त्रसे ही बाध होता है। ऐसे विद्या और अविद्याके बारेमें भी होना चाहिये। और यहां तो विद्या और अविद्याका समुच्चय बताया जा रहा है। इस संशयका समा-

---

विरोधपरिहाराय यत्नो मा भूदिति स्वयम्।
विरोधं न तथा विद्यादिति शास्त्रं ह्यदर्शयत् ॥१२॥

"संवत्सरं पयसा जुह्वदपपुनर्मृत्युं जयति" "यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयति" इस वाक्यद्वयमें विरोधपरिहारार्थं यत्न करे इसके लिये बीचमें "न तथा विद्यात्" यह विरोधबोधक शास्त्रकी सार्थकता है ॥११-१२॥

ननूदिते जुहोतीति जुहोत्यनुदिते तथा।
इत्यादौ च विरोधो न शास्त्रेणानुक्तितो भवेत् ॥१३॥

मैवं प्रत्यक्षतस्तत्र विरोध उपलभ्यते।
विरोधपरिहाराय यत्नस्तत्र विधीयते ॥१४॥

'उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति' आदिमें यद्यपि शास्त्रने विरोध स्वशब्दसे नहीं बताया तथापि प्रात्यक्षिक विरोध होनेसे विरोधपरिहारार्थं यत्न किया जाता है ॥१३-१४॥

नाद्याप्यभ्युदगाद्विद्या विरोधाध्यक्षता कुतः।
तार्किकः परकीयायां श्रुतायां वा स सम्मतः ॥१५॥

ब्रह्मविद्या अभीतक स्वयंमें उत्पन्न नहीं हुई तो विरोधकी प्रत्यक्षता कैसे? परकीय ब्रह्मविद्यामें या श्रुत ब्रह्मविद्यामें विरोध तो तर्कमात्रगम्य है ॥१५॥

किं च ये ब्रह्मविद्वांसस्तेऽपि कर्माणि कुर्वते।
तथा च भगवानाह वर्त एव च कर्मणि ॥१६॥

कर्तृत्वाद्युपमर्दित्वमसिद्धं तेन च स्फुटम्।
प्रत्यक्षबाधितत्वेन विरोधस्तार्किकोऽप्यसन् ॥१७॥

विद्याविद्ययोरपि स्यात्। विद्याकर्मणोश्च समुच्चयः। न। दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति श्रुतेः। "विद्यां

धान यह है कि आपका यह विचार ठीक नहीं है। क्योंकि श्रुतिमें ही विरोध बताया है। भिन्न गतिवाले अविद्या और विद्या अत्यन्त विपरीत है ऐसी श्रुति है।

दूसरी बात ब्रह्मवेत्ता भी कर्म करते हैं। गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—मैं कर्म करता हूँ। अतः विद्या कर्तृत्वादि उपमर्दक है यही अप्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष कर्म अबाधित होनेसे तर्कगम्य विरोध असत् है ॥१६-१७॥

ननु तत्केन कं पश्येदित्यादिश्रुतिरेव हि।
कर्त्राद्यभावमाचष्टे विरोधस्तेन सिध्यति ॥१८॥

सत्यं प्रमाणयोर्यत्र विरोध उपतिष्ठते।
तदा विकल्पसंकोचाद्याश्रयः क्रियते बुधैः ॥१९॥

न हिंस्यात्सर्वभूतानि हिंस्याच्च पशुमध्वरे।
विरोधे तत्र संप्राप्ते संकोचः क्रियते श्रुतेः ॥२०॥

अग्निहोत्रादिकर्तृत्वाद्यतिरिक्तं न किंचन।
द्वितीयं कर्तृताद्यस्तीत्येवमर्थो विधीयताम् ॥२१॥

शंकाः—"यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" इत्यादि श्रुतिमें कर्तृत्व, कारण कर्मादि सबका प्रतिक्षेप किया है। अतः विरोध प्रत्यक्ष है। उत्तरः—ऐसे जहां प्रमाणोंका विरोध आता है वहां विकल्प, संकोच आदि किया जाता है। जैसे "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" "अध्वरे पशुं हिंस्यात्" इन दोनोंका विरोध प्राप्त हुआ तो संकोच करते हैं—अध्वरातिरिक्तस्थलमें हिंसा न करो। वैसे यहांपर भी अग्निहोत्रादिकर्तृत्वादिसे अतिरिक्त द्वितीय वस्तु कर्तृत्वादि नहीं है ऐसा संकोच किया जा सकता है ॥१८-२१॥

अत्र ब्रूमो दूरमेते विपरीते पृथग्गती।
विद्याविद्ये इति प्राह विरोधं सुस्फुटं श्रुतिः ॥२२॥

तस्माद्विरोधः शास्त्रीयो न तु तर्कैकगोचरः।
न विद्याविद्ययोस्तस्मात् संभवोऽस्ति समुच्चितेः ॥२३॥

चाविद्यां च" इति वचनादविरोध इति चेन्न [हेतुस्वरूपफलविरोधा-द्विद्याविद्या] विरोधाऽविरोधयोर्विकल्पासंभवाद् । समुच्चयविधाना-

पूर्वपक्षः—विद्यां चाविद्यां च इस वचनसे अविरोध भी सिद्ध है।

सिद्धान्तः—नहीं। हेतु, स्वरूप तथा फल तीनोंका विरोध प्रत्यक्ष है।

पूर्वपक्षः—विद्या और अविद्याके विरोध एवं अविरोधका विकल्प संभव नहीं। और समुच्चयविधान हो रहा है अतः अविरोध

सिद्धान्त यह है कि "दूरमेते विपरीते विषूची" इत्यादि शब्दोंमें श्रुतिने स्वयमेव विद्या और अविद्याका विरोध बताया है। अतः विरोध शास्त्रोक्त है। तर्कमात्रगोचर नहीं। अतः विद्या और अविद्याका समुच्चय संभव नहीं है ॥२२-२३॥

ननु स्यादविरोधोऽपि यस्तद्वेदोभयं सह ।
इत्येवं श्रुतिरेवाह विकल्पस्तेन युज्यते ॥२४॥

ग्रहणाग्रहणे यद्वत् स्यातां षोडशिनः श्रुतेः ।
नैवं विकल्पः सिद्धत्वान्न विरोधाविरोधयोः ॥२५॥

तस्मादन्यार्थतात्पर्यं विकल्पादेरसंभवे ।
वक्तव्यं तेन विद्या स्यादुपास्त्यर्था समुच्चये ॥२६॥

शंकाः—"यस्तद्वेदोभयं सह" इस श्रुतिसे अविरोध भी सिद्ध है। ऐसे स्थलमें विकल्प ही होता है। जैसे "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, न गृह्णाति" ये दोनों प्रमाण होनेसे ग्रहणाग्रहण का विकल्प होता है। उत्तरः—सिद्ध वस्तुमें विकल्प नहीं होता। विरोध और अविरोध सिद्ध वस्तु है। साध्य क्रियामें विकल्प होता है। अतः विकल्पादि असंभव होनेसे अन्यार्थतात्पर्य मानना पड़ेगा। अर्थात् विद्याका उपासना अर्थ करना होगा ॥२४-२६॥

ननु वेदोभयमिति समुच्चयविधिर्मतः ।
न शब्दार्थो विधावन्यो मीमांसावेदिसम्मतः ॥२७॥

विपरीतत्वकथनं जाड्यचैतन्यलक्षणम् ।
स्वरूपगतमेव स्यान्न त्वेकत्रानवस्थितिः ॥२८॥

दविरोध इति चेन्न । सहसंभावनुपपत्तेः ।

ही मान्य है ।

सिद्धान्तीः—ऐसा नहीं हो सकता । क्योंकि दोनों एक साथ संभव हो नहीं है ।

शंकाः—"यस्तद्वेदोभयं सह" यह समुच्चयविधि है । विधिमें लाक्षणिकार्थग्रहण मीमांसासम्मत नहीं है । अतः "विपरीते विषूची" यहां एक चेतन है, दूसरा जड है यह स्वरूपकथन है न कि एकत्रानवस्थानरूपी विरोधका कथन ॥२७-२८॥

उच्यते नोपपन्नोयमुभयोः सहसंभवः ।
कर्तृत्वाद्युपमर्दित्वतत्सहायत्वयुक्तयोः ॥२९॥

समाधानः—दोनोंका एकसाथ होना ही असंभव है । क्योंकि एक कर्तृत्वादि उपमर्दक है । दूसरा कर्तृत्वादिसहित है ॥२९॥

यत् कर्मकर्तृताद्यन्यद्वैताभावपरं वचः ।
इति संकोच उदितस्तन्न हेतोः समत्वतः ॥३०॥

सर्वमात्मैव यस्याभूत् पश्येत्केन स कं पुमान् ।
इति सर्वात्मभावो हि कर्तृत्वाद्युपमर्दकः ॥३१॥

सर्वमात्मा च विज्ञानाद् आत्मैवाभूद्विजानतः ।
इति श्रुत्या विगदिता तुल्या सर्वत्र सा स्फुटा ॥३२॥

विज्ञानकृतसर्वात्मभावे द्वैतोपमर्दके ।
अग्निहोत्रादिकर्तृत्वमवतिष्ठेत किंबलम् ॥३३॥

षड्लिङ्गैः केवलाद्वैततात्पर्यार्थविनिश्चये ।
कथं श्रुत्यर्थसंकोचो निदधीत पदं बलात् ॥३४॥

जो पहले बताया कि अग्निहोत्रादिकर्तृत्वान्यद्वैताभावपरक अद्वैत श्रुति है ऐसा संकोच यहां है वह गलत है क्योंकि हेतु सर्वत्र समान है । सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ।" इस श्रुतिमें सर्वात्मभावको कर्तृत्वाद्युपमर्दक कहा । सर्वात्मभाव विज्ञानसे होता है यह बात "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः" इस श्रुतिमें कहा । विज्ञानजन्य सर्वात्मभाव द्वैतोपमर्दनमें

**क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेद् ? न। विद्योत्पत्ता-
वविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः**

पूर्वपक्षः—साथ न हो, क्रमसे तो एक पुरुषमें दोनों हो सकते हैं।
सिद्धान्तः—नहीं। विद्या उत्पन्न होनेपर अविद्या अस्त हो जाती है।

हेतु है तो अग्निहोत्रादिकर्तृत्व कैसे, किस बलसे बचा रहेगा ? दूसरी बात षड्लिंगोंसे श्रुतिका केवलाद्वैततात्पर्य निश्चित है तब श्रुतिसंकोच कैसे यहां पांव धरेगा ? ॥३०-३४॥

वचनं नहि मिथ्यात्वसत्यत्वाधायि वस्तुनः।
येन कृत्स्नार्थसंकोचं सत्यं किंचित्प्रसाधयेत् ॥३५॥

ज्ञापकं तद्धि हेतुस्तु मिथ्यात्वप्रभृतौ पृथक्।
दृश्यत्वादिकमेवास्य मिथ्यात्वे स्यात्प्रयोजनम् ॥३६॥

तच्च सर्वत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वादौ समं स्थितम्।
अग्निहोत्रादिकर्तव्यं तदा सत्यं कथं भवेत् ॥३७॥

वचन मिथ्यात्व या सात्यत्वका कारक नहीं है जिससे अर्थसंकोचकर किसीको सत्य बना लें। वचन ज्ञापक है। हेतु पृथक् है। मिथ्यात्वमें हेतु दृश्यत्वादि है। वह दृश्यत्व समस्त कर्तृत्वभोक्तृत्वादिमें तुल्य है। तब अग्निहोत्रादि कर्तृत्व कैसे अबाधित रहेगा ? ॥३५-३७॥

नन्वेककाले माभूतां विद्याविद्ये विरोधतः।
कालभेदेन ते स्यातां सोऽयं क्रमसमुच्चयः ॥३८॥

मैवं विद्यासमुत्पत्तावविद्योच्छेदनं भवेत्।
अविद्याविरहादेव कर्तृत्वादेरसंभवः ॥३९॥

अग्निरुष्णः प्रकाशश्चेत्येवं ज्ञानसमुद्भवे।
नानुष्णत्वऽप्रकाशत्वभ्रान्त्यज्ञानादि तिष्ठति ॥४०॥

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
अज्ञानविरहात्कर्मानुपपत्तिश्च दर्शिता ॥४१॥

न चाविद्यान्तरोत्पत्त्या कर्तृत्वादीति सांप्रतम्।
अविद्याया अनादित्वादेवोत्पत्तेरयोगतः ॥४२॥

प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा । यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति शोकमोहाद्यसंभवश्रुतेः ।

अविद्याऽसंभवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिमवोचाम ।

तो फिर अविद्या उसी आश्रयमें बादमें आयेगी कहाँसे ? अग्नि उष्ण है प्रकाश है ऐसा ज्ञान उत्पन्न होनेके बाद जिस पुरुषमें ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ उसी पुरुषमें फिर अग्नि शीत है अप्रकाश है ऐसी अविद्याकी उत्पत्ति संभावित नहीं है । और न उस विषयमें संशय या अज्ञान ही रह जायेगा । श्रुति स्पष्ट कह रही है—जिस कालमें सभी भूत आत्मा हो गये उस समय एकत्वदर्शीको क्या मोह और क्या शोक हो । यहाँ शोकमोहका असंभव बताया है ।

अविद्या असंभव है तो अविद्योपादानक कर्म अनुपपन्न है ।

शंकाः—एक कालमें विद्या और अविद्या विरोध होनेसे न हों । भिन्नकालमें तो होंगी । इसे क्रमसमुच्चय कहते हैं । उत्तरः—विद्या उत्पन्न होनेपर अविद्याका उच्छेद ही होगा । अविद्या नहीं रही तो तत्प्रयुक्त द्वितीय अविद्या-कर्म कहाँसे हो । अग्नि उष्ण है प्रकाश है ऐसा जाननेके बाद अनुष्णत्वकी भ्रान्ति, संशय अज्ञान कुछ भी नहीं रह सकता । एकत्व-दर्शन होनेपर श्रुतिने ही मोहादि प्रतिक्षेप किया है । उसके अभावमें कर्मासंभव हम कह ही आये हैं । यह कहें कि विद्यासे तत्काल अविद्या भले नष्ट हो, दूसरी अविद्या पैदा हो सकती है और कर्म भी हो सकता है, तो उत्तर है—नहीं । क्योंकि अविद्या अनादि है, किसी हेतुसे जन्य नहीं है । वह एक बार नष्ट हो गयी तो हमेशाके लिये समाप्त है ॥३८-४२॥

ननु रज्ज्ववबोधेन बाधितेऽप्युरगादिके ।
अविद्यान्तरतः सर्पभ्रमो दृष्टः सहस्रशः ॥४३॥

अविद्यान्तरतोऽत्रापि कर्तृत्वादि भविष्यति ।
तथा च पश्चाद्विद्यायाः कथं मोहद्यसंभवः ॥४४॥

मैवं पुनरविद्यायां विद्या नैवावतिष्ठते ।
समुच्चयस्तदाप्येवं द्वयोः कथमुपेयताम् ॥४५॥

शंकाः—ज्ञानके बाद अज्ञान क्यों नहीं ? रज्जुज्ञानके बाद सर्पबाध होनेपर फिरसे अविद्या और सर्पभ्रम देखा गया है। वैसे अन्य अविद्यासे यहाँ भी कर्तृत्वादि क्यों नहीं आयेगा ? उत्तरः—फिरसे अविद्या आ गयी तो विद्या उस समय नहीं रहेगी। तब दोनोंका समुच्चय कैसे हो ? ॥४३-४५॥

वस्तुतो रज्जुबोधेन मूलाविद्या न नश्यति ।
सैव तूलान्तरं तस्मिन्नुत्पादयति सर्पकृत् ॥४६॥

अथवाऽनादयः सन्ति तूलाविद्याः सहस्रशः ।
एकां हन्त्येकविज्ञानमन्यासामभिभावकम् ॥४७॥

आवृतेरपसारो वा ज्ञानादावरणं पुनः ।
न तथा द्वैतसंसारो मूलाविद्योद्भवत्वतः ॥४८॥

ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने मूलाविद्या विनश्यति ।
न पुनस्तत्र कर्मादि कथंचिदुपपद्यते ॥४९॥

वस्तुतः रज्जुज्ञानसे मूलाविद्याका नाश नहीं होता। वही मूलविद्या दूसरी तूलाविद्याको उत्पन्न करेगी जो सर्पहेतु होगी। अथवा तूलाविद्या अनादि तथा असंख्य हैं। एक रज्जुज्ञान एक अविद्याको नष्ट करेगा। उतनी देर अन्य अविद्यायें अभिभूत रहेंगी। जैसे एक घटसे एक घटप्राग-भाव नष्ट होगा। अन्य अभिभूत रहेंगे। अथवा ज्ञानसे आवरणका अपसरण होगा, ज्ञान हटनेपर आवरण वापिस आयेगा। द्वैतसंसारके लिये यह प्रक्रिया नहीं है। वह मूलाविद्यासे उत्पन्न है। ब्रह्मज्ञानसे मूलाविद्या नष्ट होगी, कर्मादि वहाँ नहीं हो सकते ॥४६-४९॥

ननु चोक्तं भगवता वर्त एव च कर्मणि ।
भिक्षाटनादि विज्ञानां प्रत्यक्षमुपलभ्यते ॥५०॥

मैवं कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिनिवेशं विना भवेत् ।
कर्म तच्च बुधैरत्र कर्माभास उदीर्यते ॥५१॥

लेशाविद्यावशान्मायावशाद्वा जगतः स्थितिः ।
चरमज्ञाननाश्या साऽनादिसिद्धाप्युपेयते ॥५२॥

अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकममृतम् ।

अमृतमश्नुते यहां आपेक्षिक अमृत ही बताया गया है ।

शंकाः—भगवान्‌ने कहा मैं कर्म करता हूँ । ज्ञानी भी भिक्षाटन कर्म करते देखे गये हैं । उत्तरः—कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिनिवेश न होनेसे ये सब कर्म नहीं कर्माभास हैं । जगत् जो उनको दीखता है, ज्ञानियोंको लेशाविद्याके कारण और भगवान्‌को मायोपाधिके कारण दीखता है । वह अनादि सिद्ध है । चरमज्ञाननाश्य है ॥५०-५२॥

समुच्चयविवक्षात्र चोदितानां हि कर्मणाम् ।
ब्राह्मण्याद्यधिकारज्ञश्चोदितेषु प्रवर्तते ॥५३॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
तस्य कर्म ह्यकर्मैव तदकिंचित्करं भवेत् ॥५४॥

प्रकृतमें समुच्चय विहितकर्मोंसे है । मैं ब्राह्मणादि हूँ इत्यादि अधिकारज्ञ देहाभिमानी ही विहितकर्मोंमें प्रवृत्त होता है । तत्त्ववेत्ता मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ऐसा मानता है । उसका कर्म अकर्म हो जाता है और अकिंचि-त्कर होता है ॥५३-५४॥

ननु पूर्वं भवेत्कर्म पश्चाद्विद्येति मन्महे ।
तेनैषा कर्मणा युक्ता विद्या मोक्षप्रदायिनी ॥५५॥

न चोपक्षीयते कर्म विद्योत्पत्त्येति सांप्रतम् ।
समुच्चयविधानेन मोक्षहेतुत्वलाभतः ॥५६॥

इत्थं चामृतमित्येतन्मुख्यार्थं मम तिष्ठति ।
त्वन्मते तल्लाक्षणिकमतो व्याख्या यथोदिता ॥५७॥

पूर्वपक्षः—विद्याके बाद कर्म न हो, किन्तु प्रथम कर्म पश्चात् विद्या संभव है । उस कर्मसे युक्त ब्रह्मविद्या मोक्षदायिनी होगी । यदि कहें कि विद्याकी उत्पत्तिसे कर्मक्षीण होगा तो उत्तर है—भले क्षीण हो किन्तु समुच्चयविधानसे मोक्षहेतु भी होगा । (ज्ञानोत्पत्त्युत्तरक्षणमें ही कर्म अदृष्टादिका नाश हो सकता है) इसप्रकार अमृतशब्दभी मुख्यार्थक होगा । आपके मतमें लक्षणा माननी पड़ेगी ॥५५-५७॥

विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात् ।

विद्याशब्दसे परमात्माज्ञानका ग्रहण हो तो "हिरण्मयेन" इत्यादि मन्त्रसे द्वार मार्ग आदिकी याचना भी अनुपपन्न होगी

नैवमापेक्षिकं तावदमृतत्वमिहोच्यते ।
तत्रापि बहुलः शास्त्रे प्रयोग उपलभ्यते ॥५८॥

अपाम सोममममृता अभूमेत्यादिषु श्रुतम् ।
आपेक्षिकमुपेतव्यममृतत्वं बुधैरपि ॥५९॥

उत्तरः—यहां आपेक्षिक अमृत्वका ही कथन है उस अर्थमें भी शास्त्रोंमें बहुतर प्रयोग देखनेमें आता है। "अपाम सोमममृता अभूम" यहाँ सोमयागफल अमृतत्व आपेक्षिक सर्वमान्य है ॥५८-५९॥

किं च ज्ञानोद्भवे पूर्वं कर्माभावेन का क्षतिः ।
न चान्यकृतविज्ञानान्मोक्षो नास्तीति सांप्रतम् ॥६०॥

तदा किं स्यादिति तु ते वक्तव्यं सत्यवादिना ।
नैव जन्मान्तरं तस्य कर्मणां प्रक्षयाद्भवेत् ॥६१॥

क्षीयन्ते चास्य कर्माणीत्येतच्छ्रुतिषु कीर्तितम् ।
न कर्मपूर्वकत्वं हि दर्शनेऽस्ति विशेषणम् ॥६२॥

और यह बताना चाहिये कि ज्ञान हो गया, पूर्वमें कर्म न हो तो क्या हानि है। उपासनादिसे या श्रवणाद्यावृत्तिसे ज्ञान उत्पन्न हो गया तो अग्निहोत्रादि कर्मके न होनेसे मोक्ष ही नहीं होगा यह नहीं कह सकते। क्योंकि मोक्ष न हुआ तो क्या होगा बताईये। जन्मान्तर होगा ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" यह श्रुति कहती है कि ज्ञानसे सर्वकर्मक्षय होगा। तब कर्म नहीं रहा तो जन्म कैसे होगा ? उक्त श्रुतिमें "तस्मिन् दृष्टे परावरे" यहां कर्मपूर्वकत्व विशेषण तो है नहीं कि अकर्मपूर्वक ज्ञानसे कर्मक्षयकी व्यावृत्ति हो ॥६०-६२॥

नैव चानन्तकालान्तमेतद्देहानुवर्तनम् ।
प्रारब्धस्य समाप्तौ यदेतद्देहानवस्थितेः ॥६३॥

न च प्रकृतिलीनः स्यादज्ञानविरहादयम् ।
प्रकृतौ लीयते यो हि भवेत्प्रकृतिचिन्तकः ॥६४॥

जन्मान्तर नहीं यही शरीर अनन्तकालतक रह जाय ऐसा भी क्यों नहीं ? क्योंकि प्रारब्ध समाप्त होने पर यह शरीर नहीं रह सकता । अज्ञान न होनेसे प्रकृतिलीन भी नहीं होगा । जो प्रकृतिचिन्तक होगा वही प्रकृतिलीन होता है ॥६३-६४॥

अतो विद्योद्भवे सत्रं कर्माऽकिंचित्करं भवेत् ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थं ज्ञाने परिसमाप्यते ॥६५॥

ज्ञानपर्यवसाय्यस्तु ज्ञानप्रक्षय्यमस्तु वा ।
सर्वथाप्येव हेतुत्वं मोक्षं प्रति न कर्मणः ॥६६॥

इसलिये विद्या उत्पन्न हो गयी तो कर्म अकिंचित्कर ही होगा । अतएव गीतामें समस्त कर्मोंकी ज्ञानमें परिसमाप्ति बतायी । उसका अर्थ सर्वकर्म ज्ञानपर्यवसायी हैं कहो, ज्ञाननाश्य हैं कहो, सर्वथापि मोक्षके प्रति हेतु तो नहीं ही सिद्ध होंगे ॥६५-६६॥

किं चात्र ब्रह्मविद्या चेद् द्वारमार्गादियाचनम् ।
हिरण्मयेत्यादिना न कथंचिदुपपद्यते ॥६७॥

नोत्क्रामन्त्यसवस्तस्य ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।
इति ब्रह्मविदः प्राणोत्क्रमणादि निराकृतम् ॥६८॥

विनैवोत्क्रमणं तस्य सर्वोपाधिनिरासतः ।
अद्वैतब्रह्मरूपेण स्थितिर्मोक्षश्च दर्शितः ॥६९॥

और भी बात सुनिये । यदि यहाँ ब्रह्मविद्या विवक्षित है तो द्वार, मार्ग आदिकी याचना हिरण्मयेन इत्यादि मन्त्रसे जो की है वह अनुपपन्न होगी । क्योंकि ज्ञानीका प्राणोत्क्रमण नहीं होता । यहीं वह ब्रह्मको प्राप्त होता है इत्यादि श्रुतियोंमें प्राणोत्क्रमणनिराकरण किया है । बिना उत्क्रमण ही सर्वोपाधिनिरासके अद्वैतब्रह्मरूपेण स्थिति होती है जो मोक्ष कहलाती है ॥६७-६९॥

प्रागविद्या ततो विद्या चेत्तर्ह्योष्यत एव सः ।
इत्यानन्दगिरिग्रन्थं दृष्ट्वा केचिदिहाऽब्रुवन् ॥७०॥

कर्मविद्याविरोधेन मा भूत्समसमुच्चयः ।
तथापि दर्शितदिशा भवेत्क्रमसमुच्चयः ॥७१॥

मतान्तरः—यदि पहले अविद्या (कर्म) और पश्चात् विद्या हो तो इष्ट ही है ऐसा आनन्दगिरीय टीकामें लिखा है। कर्म और विद्याका विरोध होनेसे समसमुच्चय भले न हो तथापि उक्तरीति क्रमसमुच्चय है ॥७०-७१॥

तच्चिन्त्यमेवमेवात्र समुच्चयनसंभवे ।
उपास्त्यर्थः कुतो भाष्ये विद्याया उपदर्शितः । ७२॥

अमृतं चैव मुख्यार्थमस्मिन् पक्षे भविष्यति ।
आपेक्षिकामृतत्वार्थे कुतः क्लेशश्च सह्यताम् ॥७३॥

यह मत चिन्त्य है। इसीप्रकार क्रमसमुच्चय यदि संभव है तो भाष्यमें विद्याका उपासना अर्थ क्यों किया ? मुख्य अमृत संभव होनेसे आपेक्षिक अमृत अर्थ करनेका क्लेशसहन क्यों किया ? ॥७२-७३॥

अपि चैकार्थकारित्वे समुच्चय उदाहृतः ।
मा भूत् कुलाल-तातेन कुलालस्य समुच्चयः ॥७४॥

ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वं सर्वश्रुतिषु विश्रुतम् ।
न समुच्चिनुयात्कर्म बाह्यं तत् नापि मानसम् ॥७५॥

दूसरीबात—एकक्रियाकारी होनेपर समुच्चय माना गया है। अन्यथा कुलालपितासे कुलालका घटोत्पादनमें समुच्चय मानना होगा। ज्ञान मोक्षहेतु है यह सर्वश्रुतिविश्रुत है। वह किसी बाह्य या मानस कर्मको कारणरूपेण समुच्चित नहीं कर सकता ॥७४-७५॥

कर्म ज्ञानोत्तरं चेत्स्याद् दुर्वारा तस्य हेतुता ।
इत्यतो भाष्यकृत्तद्धि समुत्थाप्य निराकरोत् ॥७६॥

ज्ञानोत्तर यदि कर्म हो तो उसकी हेतुता अवश्यंभावी है। अतः भाष्यकारने उसे उत्थापन कर निराकरण किया ॥७६॥

ज्ञानपूर्वं भवत्कर्म ज्ञानेनैव कृतार्थितम् ।
कुलालपितृतुल्यं तत् नैव कारणतामियात् ॥७७॥

ज्ञानसे पूर्व जो कर्म है वह ज्ञानसे ही चरितार्थ है। मोक्षकारण कैसे होगा ? और कुलालपिता घटके प्रति जैसे अन्यथासिद्ध है वैसे मोक्षके प्रति

कर्म भी अन्यथासिद्ध है। अतः भाष्यकारने उसे उठाया भी नहीं। निरास भी नहीं किया ॥७७॥

तस्मात्कर्म ततो विद्येत्युक्तेष्टिः केवले क्रमे।
न पुनर्वेष्टि टीकाकृत्तयोः क्रमसमुच्चयम् ॥७८॥

अतः प्रथम कर्म बादमें विद्या इस क्रममें ही इष्टता है। न कि टीका-कार दोनोंके क्रमसमुच्चयको इष्ट मान रहे हैं ॥७८॥

नन्विमं भगवत्पादैर्मन्त्रमुद्धृत्य हि स्वयम्।
व्याख्याते तैत्तिरीयादौ मुख्ये विद्याऽमृते कथम् ॥७९॥

शंकाः—स्वयं भाष्यकारने तैत्तिरीयादि भाष्यमें इस मन्त्रको उठाकर विद्या और अमृतको ब्रह्मविद्या और मोक्ष अर्थमें लगाया है। उसकी संगति कैसे होगी ? ॥७९॥

शृणु शाखान्तरगतं मन्त्रमादाय भाष्कृत्।
विद्याऽमृते ब्रह्मविद्यामोक्षार्थे समवोचत ॥८०॥

समाधानः—सुनिये, भाष्यकारने शाखान्तरगत एतत्समान मन्त्रको लेकर विद्या और अमृतको ब्रह्मविद्या और मोक्ष अर्थ किया ॥८०॥

मैत्रायण्यां समो मन्त्र उद्धृतो दृश्यते श्रुतौ।
तत्र विद्याऽमृते मुख्ये पौर्वापर्याविरोधतः ॥८१॥

मैत्रायणीश्रुतिमें ऐसा ही मन्त्र "इत्येवं ह्याह" कहकर उद्धृत किया है। वहांपर विद्याका ब्रह्मविद्या और अमृतका मोक्ष ही अर्थ है। क्योंकि वहां पूर्वमें "दूरमेते" इत्यादि और बादमें "अविद्यायामन्तरे वेष्ट्यमानाः" इत्यादि मन्त्र उद्धृत किया है। उसके अविरोधार्थ विद्याका वहां ब्रह्मज्ञान ही अर्थ है ॥८१॥

ननु तत्रापि पठितं यस्तद्वेदोभयं सह।
समुच्चयविधिस्तेन प्रतीयेतेति चेन्न तत् ॥८२॥

पूर्वपक्षः—मैत्रायणीमें "यस्तद्वेदोभयं सह" पढा है। तब सम या क्रम समुच्चयका विधान मानना ही होगा ॥८२॥

ज्ञानस्य न विधेयत्वं समुच्चयविधिः कुतः।
पौर्वापर्येण साहित्यमात्रं तेन विवक्षितम् ॥८३॥

तस्मादुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाव्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥

इसलिये उपासनासे कर्मका समुच्चय है, न कि परमात्मज्ञानसे । अतः जैसी हमने व्याख्या की वैसाही मन्त्रोंका अर्थ है इतना कहकर हम विराम लेते हैं ॥

ईशावास्यभाष्यानुवादसमाप्त ॥

उत्तरः—ज्ञान विधेय ही नहीं है तब ज्ञानकर्मसमुच्चयविधि किस प्रकार ? अतः वहां पूर्वापरभावसे सहितत्वमात्र विवक्षित है ॥८३॥

तच्च यज्ञादयः पूर्वं कर्तव्या चित्तशुद्धये ।
यतो विविदिषादिः स्यादित्यभिप्रायकं भवेत् ।८४॥

उसका भी अभिप्राय यही है कि चित्तशुद्ध्यर्थं ही यज्ञादि पूर्व करना चाहिये जिससे विविदिषा आदि संपन्न हो ॥८४॥

माध्यन्दितीयशाखायां यथा चार्थस्तथा स्फुटम्।
माण्डूक्यकारिकाभाष्यप्रभृतौ परिदर्शितम् ॥८५॥

इसीप्रकार माध्यन्दिन शाखामें समानमन्त्रका जैसा अर्थ है वह माण्डुक्य कारिका तदीयभाष्य एवं उसकी व्याख्यामें स्फुट दिखाया गया है ॥८५॥

तस्मात्समुच्चयो नेष्टः कथंचिज्ज्ञानकर्मणोः ।
उपास्तिकर्मणोरेव स इत्येष विनिश्चयः ॥८६॥

फलतः ज्ञान और कर्मका समरूपेण या क्रमरूपेण किसी भी प्रकार समुच्चय इष्ट नहीं है । उपासना और कर्मका ही समुच्चय है यही सिद्धान्त है ॥८६॥

शोकमोहाद्यसंसृष्टं नित्यं व्यापकमद्वयम् ।
चिदानन्दैकसन्दोहं खं ब्रह्म परमस्म्यहम् ॥८६॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्यं (महामण्डलेश्वरकाशिकानन्दगिरि) विरचितम् ईशावास्यमन्त्रभाष्यवार्तिकं संपूर्णम् ।

शोकमोहादि स्पर्शरहित नित्य व्यापक अद्वय स्वप्रकाश आनन्दैकरस जो तत्त्व है जिसे श्रुतिमें "खं ब्रह्म" ऐसा बताया है वही मेरा वास्तविक स्वरूप है ॥८६॥

ईशावास्यवार्तिकानुवाद समाप्त

स्वामी काशिकानन्द साहित्य

जागदीशी सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	२५—००
वैराग्यमन्दाकिनी	समाप्त
गोपीगीतम् अर्थद्वय (हिन्दी व्याख्या)	„
दश शान्तयः सानुवादाः	„
दक्षिणामूर्तिस्तोत्रं सवार्तिकं सानुवादं	„
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः सौरभ टीका	१२—००
ईशावास्यशांकरभाष्यरहस्यविवरणम्	३०—००
ईशावास्योपनिषत् शांकरभाष्यं सवार्तिकं सानुवादं	३०-००, ४०—००
शंकरदिग्विजयः अजिल्द २०.०० सजिल्द	३०—००
नारदीयभक्तिसूत्राणि सवार्त्तिकानि प्रथमो भागः	१०—००
द्वितीयो भागः	१०—००
तृतीयो भागः	१०—००
भागवतसार स्तोत्रं (सानुवादं)	१२—००
श्री भीष्मस्तुतिप्रवचन	समाप्त
महिम्नःस्तोत्रं हरिहरपक्षीय व्याख्या सटिप्पण	५—००
शिवमहिम्नःस्त्रोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	३०—००
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ पूर्वार्ध	२५—००
उत्तरार्धं	२५—००
गीता प्रवचन ध्यानयोगसन्दर्भ पूर्वार्धं	३०—००
उत्तरार्धं	२०—००
वेदान्तसिद्धान्तपीयूषबिन्दुः सानुवादः	१०—००
वेदान्तसारः वेदान्तमन्दारमाला च सानुवादौ	१२—००
सुभगोदयस्तोत्रं अमृतझरिका, अन्वयार्थबोधिनी (तन्त्र) ३०-००,	४०—००
दिव्यरसतरङ्गिणी सटीका सानुवादा	१२—००

❁